प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य

लेखक
बाबू वृन्दावनदास

साहित्य प्रकाशन
मालीवाड़ा दिल्ली-६

प्रथम संस्करण	सन् १९७२ ई०
मूल्य	पच्चीस रुपये
प्रकाशक	साहित्य प्रकाशन
	मालीवाड़ा-नई सड़क, दिल्ली-६
मुद्रक	अजन्ता फाइन आर्ट प्रिण्टर्स
	हनुमानगली, मथुरा

प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य

—वृन्दावनदास

बाबू वृन्दावनदास
लेखक

प्राक्कथन

एक देश का इतिहास उसके निवासियों का इतिहास होता है। देश के निवासी विभिन्न जातियों और धर्मों के होते हैं। इस दृष्टि से प्रस्तुत इतिहास ग्रन्थ भी सभी धर्मों और जातियों से सम्बन्धित है। एक इतिहासकार का दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष होना चाहिये। किसी भी देश की उन्नति और समृद्धि तब ही सम्भव है जब उसमें रहने वाले सभी धर्मों, वर्गों और जातियों के लोग स्वतन्त्रता पूर्वक अपने-अपने धार्मिक विश्वासों के अनुकूल जीवन व्यतीत करते हो। किसी भी राष्ट्र की उन्नति के लिए उसके विभिन्न घटकों में सौहार्द और समन्वय परमावश्यक है। परन्तु प्राचीन भारत के इतिहास की एक विशेषता है और वह यह कि यह इतिहास तो हिन्दुओं से ही मुख्यतया सम्बन्धित है। प्राचीन भारत के निवासी मूलतः और मुख्यतः हिन्दू थे, इतर धर्मों के लोग तो आक्रामक के रूप में इस देश में आये और इसी स्थिति में उनसे निपटा भी गया था। स्थिति के इस सन्दर्भ मे प्राचीन भारत का इतिहास वस्तुतः हिन्दू जाति का इतिहास ही है। प्राचीन भारत का इतिहास इस सन्दर्भ मे आदिकाल से १००० ई० तक का है। १००० ई० के बाद मुस्लिम आक्रमण के परिणाम स्वरूप भारतीय राजनीति मे मुसलमानो के समावेश का आरम्भ हुआ था, इससे पूर्व तो समग्र दृष्टि से भारतीय राजनीति केवल हिन्दुओ से सम्बन्धित थी।

प्राचीन भारत के निवासियो को हिन्दू नाम से सम्बोधित करने पर कुछ विज्ञजन शका उपस्थित करते हैं। उनकी सेवा मे विनम्र निवेदन है कि प्राचीन भारत के मूल निवासी चाहे वे द्रविण हों अथवा आर्य अथवा दोनो का मिश्रण ही वर्तमान हिन्दू जाति के पूर्वज थे। चूंकि प्राचीन भारत के निवासियो के वंशजों को आज हिन्दू कहते हैं अतः उन वंशजो के पूर्वजों को हिन्दू कहना सर्वथा उपयुक्त होगा। हिन्दुस्तान के रहने वाले हिन्दू और उनकी भाषा हिन्दी यह भी एक स्पष्ट ऐतिहासिक सत्य है।

हिन्दुओ की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी सहिष्णुता। भारतीय सस्कृति की विशेषता यह रही है कि इसमें सदा सभी धर्मों को समान रूप मे प्रश्रय मिला है। हिन्दुओं के राज्य मे राजा के ही धर्म के विपरीत अन्य धर्मों को ठीक उसी प्रकार सरक्षण मिला जिस प्रकार राजा के निजी धर्म को। बौद्ध धर्म मे ईश्वर के प्रति अनास्था है। अनीश्वर वादी बौद्ध धर्म, ईश्वरवादी वैष्णव धर्म, जैन धर्म, चार्वाक मत ये सभी धर्म भारत मे साथ-साथ चले।

राजाओं ने समान भाव से सभी धर्मों को प्रश्रय प्रदान किया। वैदिक धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के लोग, वेद को प्रामाणिक न मानने वाले बौद्ध और जैन मतावलम्बी तथा प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध न होने योग्य ईश्वर, आत्मा और पुनर्जन्म आदि को न मानने वाले चार्वाक एक साथ रहते थे। अशोक ने न केवल बौद्ध अपितु वैष्णव धर्म को पूर्णरूप से समझने पर बल दिया। उसके काल में समान रूप से सभी धर्मों को संरक्षण प्राप्त था।

यह धारणा निर्मूल है कि भारत का शासन समग्र रूप से एक केन्द्रीय सत्ता के अन्तर्गत केवल अंग्रेजी राज्य में ही आया। भारत में केन्द्रीय शासन की कल्पना वेद, पुराण और ब्राह्मण ग्रन्थों में विद्यमान है। अनेक साम्राज्यों के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों में सार्वभौम या समुद्रपर्यायी शब्दों का प्रयोग हुआ है। अनेक प्रतापी सम्राटों ने अश्वमेध, राजसूय, वाजपेय आदि यज्ञ करके अपनी यश कीर्ति फैलाई और सार्वभौम सत्ता की स्थापना की। प्रत्येक महान् सम्राट अपनी दिग्विजयों के उपरान्त इन यज्ञों को सम्पन्न करके अपनी सार्वभौम सत्ता का परोक्ष रूप से उद्घोष करता है। पुराणों और महाकाव्यों में अनेक शक्तिशाली सम्राटों की दिग्विजयों और उनके विशाल साम्राज्यों का उल्लेख है। ऐसे सम्राटों में ययाति, मान्धाता, सगर, रघु, युधिष्ठिर और जनमेजय के नाम प्रमुख रूप से आये हैं। पाश्चात्य इतिहासकारों ने भी बौद्धकालीन और बौद्धोत्तर कालीन अनेक साम्राज्यों का उल्लेख किया है। नन्दों ने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था। मौर्य साम्राज्य आकार में उससे भी बड़ा था। मौर्यों के बाद भी शुंग, आन्ध्र, भारशिव, वाकाटक, गुप्त और पुष्यभूति-वंशीय सम्राटों ने भारत को एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन प्रदान किया। मध्ययुग में भी अपेक्षाकृत छोटे रूप में प्रतीहार, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चोल, पाल और चाहमान वंशीय राजाओं ने अनेक विशाल साम्राज्यों की स्थापना की और एक छत्र सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की परम्परा को जीवित रखा। शताब्दियों तक एक छत्र सुदृढ़ केन्द्रीय शासन एक वंश के बाद दूसरे वंश का और दूसरे वंश के बाद तीसरे वंश का चलता रहा।

लोग बहुधा बड़े हलके भाव से कह देते हैं कि हिन्दुओं ने तो हजारों वर्ष गुलामी भुगती है, वे तो दास रहे हैं उनका धर्म तो उन्हें गुलाम बनाता है। यह बात जितनी उपहासास्पद है उतनी ही मिथ्या है। भारत तथा भारत के बाहर भी हजारों वर्ष तक हिन्दुओं का राज्य रहा है। हजारों वर्ष का काल ऐसा भी रहा जिसमें यहाँ चक्रवर्ती सम्राटों के महान साम्राज्य हुए—

ऐसे साम्राज्य जिनकी विश्व के इतिहास में ही समता नही है। परन्तु जिस काल को इतिहासकार ऐतिहासिक कहते है और जिस काल को वे भारत के सन्दर्भ में ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व से मानते हैं उस काल मे भी नन्द, मौर्य, शुंग, सातवाहन, भारशिव, वाकाटक, गुप्त, पुष्यभूतीय वंशो के अनेक सम्राटों के महान साम्राज्य हुए। उस काल की शासन विधान सम्बन्धी बहुत सी ऐसी व्यवस्थाऐं हैं जो आज तक चली आती हैं। आज की बहुत सी परम्पराओं और आदर्शो की नीव उसी काल मे पड़ी हैं। यह काल भी यदि इसे गौतम बुद्ध से सम्राट हर्ष तक लें तो १२०० वर्ष का होता है। नन्दों, मौर्यों, शुंगों तथा सातवाहन, भारशिव, वाकाटक, गुप्त एवं पुष्यभूतियो ने कई शताब्दियो तक बडी शान से राज्य किया। उस समय प्रजा सुखी एवं समृद्ध थी। व्यापार उन्नति पर था। जनता का मनोबल ऊंचा था। लोगो द्वारा आदर्शों का परिपालन सम्यक् रीति से होता था। ५०० ई० से १००० ई० तक का लगभग ५०० वर्षों का समय ऐसा है जिसमें भारत पर आक्रमण कम हुए और जिसके परिणाम स्वरूप हिन्दुओ मे एक प्रकार का अहभाव जागृत हो गया, वे समझने लगे कि भारत अजेय है, बाहरी आक्रान्ताओ का इस पर आक्रमण करने का साहस ही नही है। यद्यपि अरबो के सिन्ध प्रदेश मे आक्रमण इस काल मे भी हुए परन्तु वे स्थानीय थे। व्यापक आक्रमणों के अभाव में अहभाव का जागृत होना स्वाभाविक था। इन पांच सौ वर्षो मे कोई महत्वपूर्ण बाहरी आक्रमण तो न हुआ परन्तु हिन्दू राजागण परस्पर युद्धरत रहे और एक दूसरे को नीचा दिखाने की अपनी प्रवृत्ति को तुष्ट करते हुए भारत की आन्तरिक शक्ति को क्षीण करते रहे। ग्यारहवी शताब्दी मे मुसलमान आक्रान्ताओं द्वारा भारत पर चढाइयाँ तो आरम्भ हो गई थी लेकिन उनके पांव तो भारत मे ग्यारहवी शताब्दी मे भी न जम पाये थे। गजनी अनेक बार आया परन्तु लूटमार करके वापिस लौट गया, गोरी को कई बार पराजय का मुँह देखना पड़ा। बारहवी शताब्दी के अन्त अथवा तेरहवी शताब्दी के आरम्भ मे ही मुस्लिम राज्य की स्थापना आक्रमणों के परिणामस्वरूप हो गई। तथाकथित प्राग्ऐतिहासिक काल तथा लगभग ५०० ई० पू० से ५०० ई० तक के एक हजार वर्षो मे जितने शक, हूण, पार्थियन, ईरानियन भारत पर चढकर आये वे या तो परास्त हुए और अगर उनमें से कुछ के पाँव भारत में जमे भी तो उन्होने भारतीय संस्कृति के प्रति नतमस्तक होकर हिन्दूधर्म अंगीकार कर लिया और वे हिन्दू ही बन गये।

अनेक कुषाण वंशीय और शक राजाओ ने अपने नाम हिन्दुओं के से

रख लिये और उनमें से अनेक ने क्षत्रियों को अपनी पुत्रियाँ विवाह में दे दीं। वास्तव मे वे हिन्दू बन गये थे, कुछ बौद्ध, कुछ शैव और कुछ वैष्णव। रुद्रदामन् या रुद्रदामा महाक्षत्रप नहपान का जामाता था। उषवदात रुद्रदामन् का दामाद था। यूनानी सैल्यूकस की पुत्री चन्द्रगुप्त मौर्य को विवाही थी।

५५० ई० पू० मे ईरानी साम्राज्य के संस्थापक कुरुष ने मकरान के मार्ग मे भारतवर्ष पर आक्रमण कर दिया था। कुरुष बुरी तरह हारा और बचे हुए अपने केवल सात साथियों सहित जान बचा कर भागा। उसका सिन्धु के राज्यों ने कड़ा सामना किया था। दूसरी बार उसने फिर आक्रमण किया और इस बार उसे कुछ सफलता इस रूप मे मिली कि वह अश्वकों और पक्थों के प्रदेश को जीत सका। इस बार क्षुद्रकों ने इसका साथ दिया था। यह भी सत्य है कि यदि क्षुद्रकों से इसे सहायता न मिली होती तो भारत भूमि पर इसकी यह अल्प विजय भी कदापि सम्भव न होती।

कुरुष के आक्रमण के बाद सिकन्दर का आक्रमण ही उल्लेखनीय है। सिकन्दर ने पश्चिमी एशिया, मिश्र, ईरान और बलख को बड़ी आसानी से जीत लिया था परन्तु भारत मे उसे एक-एक पग के लिए घोर युद्ध करना पड़ा। अश्वकों के विरोध, पुरु के घोर युद्ध और कठों के छक्के छुड़ा देने वाले प्रतिरोध के रूप मे सिकन्दर को कड़े संघर्ष का सामना करना पड़ा। सिकन्दर को भारत मे ठहरने की अपनी उन्नीस महिने की अवधि मे निरन्तर युद्धरत रहना पड़ा। नन्दों की विशालवाहिनी के सामने आने का साहस उसके सेनापतियों को कदापि न हुआ। सिकन्दर या यूनानियों का आक्रमण आंधी की तरह आया और चला गया। सिकन्दर ने अपने जीते हुए राज्य की व्यवस्था जल्दी मे की थी अतः उसकी मृत्यु के बाद वह इमारत फौरन ही गिर पड़ी। सिन्धु नदी के पश्चिम मे उसका क्षत्रप निकेनार मार डाला गया। उसके मित्र शशिगुप्त की मृत्यु हो गई। भारत की संस्कृति और सभ्यता पहले ही से विकसित थी। साहित्य, दर्शन, कला धर्म आदि मे वह विदेशियों की सभ्यता से अधिक उन्नत थी अतः उस पर विदेशी प्रभाव कम पड़ा। यदि संगठित राजनीतिक शक्ति से विदेशियों का मुकाबिला किया गया होता तो विदेशियों को अपने अभियानों मे किसी प्रकार की कोई सफलता मिलने का प्रश्न ही न होता। यूनानी आक्रमणों से यह विदित हो गया कि छोटे-छोटे राज्यों मे मे विभक्त राजनीतिक शक्ति किसी संगठित शक्ति का सामना नही कर सकती थी।

चन्द्रगुप्त और सैल्यूकस

सिकन्दर के मरने के बाद उसके सेनापति सैल्यूकस ने ३०५ ई० में भारत पर आक्रमण कर दिया। वह चाहता था कि सिकन्दर के जीते हुए प्रदेशों को पुनः हस्तगत करे। परन्तु अबकी बार उसका चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे कुशल शासक से मुकाबिला था जिसमें उसकी पूर्ण पराजय हुई। सिन्धु के उस पार चन्द्रगुप्त मौर्य की सेनाओं ने यूनानियों को रोका। उस युद्ध में यूनानियों की हार हुई और उन्हें सन्धि करने को विवश होना पड़ा। सन्धि के अनुसार अफ़गानिस्तान और बलूचिस्तान का समस्त प्रदेश जो खैबर दर्रे से हिन्दूकुश तक फैला हुआ था सैल्यूकस ने विजेता चन्द्रगुप्त को दिया (२) सैल्यूकस को अपनी राजकुमारी का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ करना पड़ा। उपहार में चन्द्रगुप्त मौर्य ने ५०० हाथी अपने श्वसुर सैल्यूकस को भेंट किये। चन्द्रगुप्त के समय में भारतीय साम्राज्य की वैज्ञानिक सीमा जो पश्मोत्तर में हिन्दूकुश तक पहुँच गई वह मुगलों और अंग्रेजों के लाख प्रयत्न करने पर भी उनके राज्य में न हो पाई थी। चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य की सहायता से भारत से यूनानियों को निकाल कर ही दम लिया।

तृतीय अन्तियोकस का यूनानी आक्रमण २०७ ई० पू० मे हुआ परन्तु वह सीमापार से ही सुभागसेन से सन्धि करके लौट गया, उसका आगे बढने का साहस न हुआ।

पुष्यमित्र शुंग ने इस देश की यवनों से रक्षा की। पुष्यमित्र के शासन के आरम्भ में ही यवनो ने पूरी तैयारी के साथ भारत पर आक्रमण किया। पुष्यमित्र के समकालीन पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य मे लिखा है कि यवनो ने माध्यमिका (चित्तौड़ के पास नगरी) और साकेत का घेरा किया। गार्गी संहिता के अनुसार यवनों ने मथुरा पांचाल (गंगा यमुना दोआब) साकेत, कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) को अपने अधीन किया। पुष्यमित्र शुंग ने यवनो से कड़ा संघर्ष किया और उनको मध्यदेश से निकालकर सिन्धु के किनारे तक खदेड़ा। यवनों की इस पराजय का वृत्तान्त मालविकाग्निमित्र में दिया हुआ है। पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र के नेतृत्व में शुंग सेनाओं ने यवनो को परास्त किया। यह यवन आक्रमणकारी दिमित था जिसको डैमेट्रियस भी कहते हैं और मीनाण्डर शायद उसका सेनापति था। यवनों की इस जीत के बाद पुष्यमित्र शुंग ने अश्वमेध यज्ञ किया। यह यज्ञ जनमेजय के बाद सम्भवतः सर्व प्रथम किया गया था।

शुंग वंश के नवें राजा भागवत के शासन के चौदहवें वर्ष में तक्षशिला के यूनानी राजा अन्तलिकिदस का राजदूत हेलियदोरस विदिशा आया था। शुंगों की प्रबल राजनीतिक शक्ति के कारण यूनानी राजागण उनसे मैत्री के इच्छुक रहते थे। हेलियदोरस ने अपनी भक्ति को प्रदर्शित करने के लिए विष्णुमन्दिर के सामने गरुड़स्तम्भ बनवाया। इससे प्रकट होता है कि भारतीय धर्मों से प्रभावित होकर विदेशी लोग भारतीय धर्मों को अंगीकार कर रहे थे और उनके लिए भारतीय धर्मों का द्वार बन्द न था।

प्रथम शक आक्रमण और विक्रमादित्य

७१ ई० पू० में भारतवर्ष पर प्रथम शक आक्रमण हुआ। शकों को कुछ प्रारम्भिक सफलता भी मिली थी। मालवगण के प्रमुख विक्रमादित्य ने सभी गणतन्त्रों का विशाल संघ बनाया। विक्रमादित्य के नेतृत्व में मालव गणराज्य ने ५७ ई० पू० में शकों को मालवा में पराजित किया और इस गौरवमयी विजय के उपलक्ष में एक नये सम्वत् का प्रवर्तन किया जो प्रारम्भ में कृत, फिर मालव और विक्रम सम्वत् कहलाया। विक्रमादित्य ने शकों को देश के बाहर खदेड़ दिया। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी जिसके कारण कि एक नये सम्वत् का प्रचलन हुआ।

गौतमीपुत्र सातकर्णि

सातवाहन वंशीय गौतमी पुत्र सातकर्णि ने महाराष्ट्रीय क्षहरातों का समूल विनाश कर अपने वंश की प्रतिष्ठा को उजागर किया। उसने अवन्ति तथा सुराष्ट्र के शकों पर विजय प्राप्त कर पश्चिमोत्तर भारत के शक, यवन पल्हवों को भयभीत कर दिया। महाराष्ट्र के शक शासक नहपान के बहुत से चाँदी के सिक्के मिले हैं जिन पर गौतमी पुत्र की मुद्रा दुबारा अंकित है। गौतमीपुत्र सातकर्णि ने शक राज्य का उन्मूलन कर अपने राज्य की प्रतिष्ठा को स्थापित किया था। उज्जयिनी के महाक्षत्रप रुद्रदामन् की लड़की से वाशिष्ठी पुत्र पुलुमावी का विवाह हुआ था। यद्यपि युद्ध में रुद्रदामन् की विजय हुई थी तथापि आन्ध्र शासन पूर्ववत् चलता रहा। शक शक्ति का विकास एक स्थानीय शक्ति रूप में ही हुआ था। शकों ने अपने से प्रबल शक्ति के प्रति नतमस्तक होकर उसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे।

यज्ञश्री सातकर्णि ने अपने पिता के शासन में रुद्रदामन् के जीते हुए प्रदेश फिर जीतकर अपने राज्य में मिला लिए। इस प्रकार शक विजय अस्थायी ही सिद्ध हुई।

शकों में मिनाण्डर कुशल सेनानायक और योग्य शासक था। डिमीट्रियस की अध्यक्षता में उत्तर भारत का आक्रमण उसी का काम था परन्तु उसे भारतीय इतिहास में बड़ा सम्मानप्रद स्थान प्राप्त है। वास्तव मे उसकी ख्याति बौद्ध हो जाने के कारण है। एक अनुश्रुति के अनुसार मिलिन्द को अर्हत्पद प्राप्त हो गया था। उसने बौद्ध सन्त नागसेन से धर्म और दर्शन सम्बन्धी बहुत से कठिन प्रश्न पूछे थे। ये प्रश्न पाली ग्रन्थों में मिलिन्द पन्हो (मिलिन्द प्रश्न) कहलाते हैं। भारत की सांस्कृतिक सामर्थ्य के आगे तो विदेशी भी अपनी वश्यता स्वीकार कर लेते थे। हेलियदोर भागवत धर्म का अनुयायी था यह बेस नगर के गरुणध्वज लेख से स्पष्ट है। मथुरा में मिले अभिलेखों से मालुम होता है कि धार्मिक दृष्टि से शक भारतीय हो गये थे। उनमें से कुछ ने बौद्ध धर्म और कुछ ने जैन धर्म अंगीकार कर लिया था। रुद्रदामन् वैदिक धर्म का अनुयायी था। उसको संस्कृत भाषा और साहित्य का आश्रयदाता कहा गया है। उसकी पुत्री वाशिष्ठीपुत्र पुलुमायी को विवाही थी।

३८० ई० के आसपास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने रुद्रसिंह तृतीय का वध करके उज्जयिनी की शक सत्ता का अन्त कर दिया। शकों का उन्मूलन करने के कारण उसको शकारि की पदवी से सम्बोन्धित किया गया है।

भारत मे यद्यपि थोड़े काल के लिए कुषाण सत्ता स्थापित हो गई थी तथापि वह चिरस्थायी सिद्ध न हुई। यौधेय, कुनिन्द आदि गण जातियो ने पूर्वी पजाब और पश्चिमी युक्तप्रान्त में तथा मथुरा और मध्यभारत के नागवंशी भारशिवो ने संयुक्त प्रान्त में कुषाण साम्राज्य का अन्त कर दिया। कुषाण राजाओ ने जो बौद्ध और शैव हो गये थे भारतीय धर्मों के प्रति सहिष्णुता दिखाई तथा इनके राज्यकाल मे भारतीय साहित्य और संस्कृति की उन्नति हुई। कनिष्क ने अशोक की भाँति बौद्धों की एक महान् सभा जिसको चौथी संगीति कहते हैं बुलवाई।

स्कन्दगुप्त के शासनकाल में हिन्दुकुश के दक्षिण में हूणों का जमघट हो गया। हूणो के कारण भारत पर आक्रमण की पूरी आशंका और भय बने हुए थे। स्कन्दगुप्त ने अपने पराक्रम से हूणो को मार भगाया। हूणो पर इस गौरवमयी विजय के उपलक्ष मे स्कन्दगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। स्कन्दगुप्त ने भारत की पश्चिमोत्तर सीमा को निर्विघ्न और सुरक्षित रखने के महत्व को जान लिया था और इसी कारण उसने हूणों को पूर्ण रूप से पराजित किया।

, ५०० से ५१० ई० के बीच हूणो के नेता तोरमाण ने भारत पर आक्रमण किया और मालवा को अपने अधिकार मे कर लिया परन्तु तत्कालीन गुप्त सम्राट भानुगुप्त बालादित्य ने सन् ५१० ई० मे हूणों पर चढ़ाई कर दी। हूणो के साथ युद्ध में यद्यपि उसका सेनापति गोपराज खेत रहा तथापि हूण खदेड़ दिये गये और बालादित्य ने मालवा को पुनः अपने राज्य में मिला लिया। इस विजय के उपलक्ष मे ५१० ई० मे एरण मे गोपराज की स्मृति चिह्न स्वरूप एक विजयस्तम्भ बनवाया गया। यदि हूण शासक पराजित न हुआ होता तो वह अपने राज्य मे शत्रु का विजय-स्मारक कभी न बनने देता। हूणों की इस हार का उल्लेख हुयेनसग की यात्रा वर्णनों मे मिलता है। हुयेनसंग के अनुसार बालादित्य ने तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल को बन्दी बना लिया था परन्तु अपनी माँ के कहने से उसे छोड दिया। मिहिरकुल ने काश्मीर जाकर शरण ली।

हूणों को अन्तिम झटका मालवा मे यशोधर्मन् के द्वारा ५२८ ई० मे मुलतान के युद्ध मे लगा। उस युद्ध के बाद हूणो की शक्ति क्षीण ही होती गई और वे भारतीय राजनीति मे फिर कभी न उभरे। यशोधर्मन् बड़ा प्रतापी सम्राट हुआ है। उसने हूणो के अत्याचारो से देश को मुक्त किया। उसकी *विजयो का वर्णन मन्दसोर मे मिले शिलालेख मे इस प्रकार मिलता है।*

'उसने उन प्रदेशो को जीता जिन पर गुप्त सम्राटो का आधिपत्य नही था और न वहाँ राजाओ के मुकुट को ध्वस्त करने वाला हूणों का शासन ही हो पाया था। लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से लेकर पर्वत तक और गंगा से स्पृष्ट *हिमालय से लेकर पश्चिम पयोधि तक प्रदेशो के सामन्त* उसके चरणो पर लोटते थे। मिहिरकुल ने भी जिसने भगवान शिव के अतिरिक्त और के सामने सिर नही नवाया अपने मुकुट के पुष्पो द्वारा उसके युगल चरणो की अर्चना की।"

खलीफा हिशाम के समय (७२४ – ७४३ ई०) उसके सूवेदार जुनैद ने जो खलीफा की ओर से सिन्ध प्रान्त पर शासन करता था अरबों की प्रसार नीति के अनुसार भनियाल (दक्षिण पश्चिम राजपूताना) लाट (गुजरात) और उज्जैन (अवन्ति) के गुर्जर प्रतीहार राज्यो पर आक्रमण कर दिया। अवन्ति के *राजा नागभट्ट प्रथम ने अरबो को बुरी तरह परास्त किया और उनके प्रसार* को रोक कर वस्तुत भारत के प्रतीहार नाम को सार्थक किया।

. कुषाणो के वशज उनका साम्राज्य नष्ट होने पर भी काबुल घाटी मे बने रहे। समुद्रगुप्त के समय मे वे दैवपुत्र शाही शाहानुशाही कहलाते थे।

हुयेनसंग के अनुसार तो वे हिन्दू हो गये थे और हिन्दू वर्ण व्यवस्था में उन्हें क्षत्रिय जाति में स्थान प्राप्त हुआ था। ये क्षत्रिय कहलाने भी लगे। जिन इतिहासकारो ने इन्हें तुर्कीशाही कहा है उनमे अलबेरूनी भी है। इस वंश के राजा सातवी शताब्दी से लेकर नवी शताब्दी तक निरन्तर अरबों से लड़ते रहे। वास्तव में इन्होने अरबो के प्रसार को भारत मे बहुत काल तक रोका। इस वंश के अन्तिम राजा लगतुमान को हटा कर उसके ब्राह्मण मन्त्री कल्लर ने इस राज्य पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। कल्लर को कुछ इतिहासकारों ने लल्लिय भी कहा है। इसके वंश मे सामन्तदेव, भीम, जयपाल, आनन्दपाल, त्रिलोचनपाल और भीमपाल ने क्रमशः शाहीराज्य की बागडोर सम्हाली। इनमें से कई राजाओ के सिक्के मिले हैं। ८७१ ई० में अरबो ने शाही राज्य की राजधानी उद्भाण्डपुर पर अधिकार कर लिया जिसके परिणामस्वरूप तत्कालीन शाही राजा ने पूर्वी पंजाब मे भटिण्डा को अपनी राजधानी बना लिया।

जयपाल के राज्य मे गज़नी के तुर्कों ने शाहियों के राज्य पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। थोडे ही काल में अफगानिस्तान शाहियो के अधिकार से निकल गया। जयपाल ने काबुलघाटी पर पुनः अधिकार प्राप्त करने के लिए तुर्कों पर आक्रमण कर दिया जिसमें उसे सुबुक्तगीन से अपमान जनक सन्धि करनी पड़ी। शीघ्र ही सुबुक्तगीन ने जयपाल पर आरोप लगाया कि वह सन्धि को तोड़ रहा है और उसने पजाब पर आक्रमण कर दिया। जयपाल ने दिल्ली, अजमेर, कालंजर और कन्नौज के राजाओं का सघ बनाया परन्तु सघ की व्यवस्था ठीक न बन पाई और जयपाल की पराजय हो गई। जयपाल को इस हार से बडी आत्मग्लानि हुई और उसने जीते जी आत्मदाह कर लिया। जयपाल के पुत्र आनन्दपाल के समय मे महमूद गजनी आक्रमण करता रहा। १००८ ई० में आनन्दपाल ने भी राजाओं का संघ बनाया परन्तु उसमे भी अनेक राजाओ ने उसका साथ न दिया और १०२१ ई० में युद्धक्षेत्र मे उसकी मृत्यु हो गई। महमूद गजनी के एक अन्य आक्रमण में उसके पुत्र भीमपाल की भी सन् १०२६ ई० मे मृत्यु हो गई। गजनी के इन आक्रमणों के परिणामस्वरूप पंजाब का शाही राज्य नष्ट हो गया और पश्चिमी पजाब तुर्कों के अधिकार मे चला गया।

पृथ्वीराज और जयचन्द्र के आपसी कलह का लाभ तुर्कों ने उठाया। पृथ्वीराज चाहमान वश का सबसे प्रसिद्ध और अन्तिम सम्राट था। उसने वीरतापूर्ण सैनिक अभियान किये। कान्यकुब्ज के गहडवालों, जेजाक भुक्ति के

चन्देलों और गुजरात के सोलकियो से पृथ्वीराज के भीषण संघर्ष हुए। जयचन्द्र द्वारा आयोजित स्वयम्वर से उसकी पुत्री संयोगिता के अपहरण से पृथ्वीराज और जयचन्द्र मे भीषण शत्रुता उत्पन्न हो गयी। तुर्कों ने शहाबुद्दीन गोरी के नेतृत्व मे कई बार भारत में अपना प्रवेश पाने के हेतु आक्रमण किये परन्तु पृथ्वीराज उनका सफलतापूर्वक सामना करता रहा। हम्मीर महाकाव्य से विदित होता है कि पृथ्वीराज ने अनेक बार शहाबुद्दीन को पराजित कर छोड दिया। सन् ११९१ मे शहाबुद्दीन बड़ी तैयारी के साथ भारत पर चढ़ आया। पृथ्वीराज ने शाही राजाओ की भाँति संघ बनाया। तलाबड़ी के मैदान मे भारतीय सेनाओ ने शत्रुओं का सामना किया। गोरी बुरी तरह हारा और घायल हो गया। कुछ इतिहासकारो के अनुसार उसे जान बचाना कठिन हो गया था और वह मैदान छोड़कर भाग गया। शहाबुद्दीन गोरी इस हार से बड़ा क्षुब्ध हुआ और ११९३ ई० में उसने पुन. भारत पर आक्रमण कर दिया। पृथ्वीराज ने फिर संघ बनाने का प्रयास किया परन्तु अबकी बार जयचन्द्र उसमे सम्मिलित न हुआ। कहा जाता है कि उसने तो शहाबुद्दीन को निमन्त्रण देकर बुलाया था। परिणाम वही हुआ जो आपसी कलह मे होना था। विजयश्री तुर्कों के हाथ लगी और भारत की सत्ता एक प्रकार से हिन्दुओ के हाथ से निकल गई। ये १२ वी शताब्दी के अन्त मे हुआ।

यद्यपि अरब लोग ६३६ ई० मे जल और थल दोनो मार्गो से भारत मे समुद्री तटों पर आये और सिन्ध में लूट खसोट मचाने लगे तथापि वे सन् ७११ ई० मे ही भारत के एक कोने मे अपने पाँव जमा पाये थे। इसके उपरान्त तीन शताब्दियो तक उनकी ओर से कोई हलचल न हुई थी। ग्यारहवी शती के प्रारम्भ मे महमूद गजनी के नेतृत्व मे अफगान और तुर्कों के झुंड के झुंड भारत पर चढ़ कर आने लगे और यहाँ पर उन्होंने एक तूफान सा मचा दिया। यह तूफान बड़ी प्रचण्डता और बर्बरता से चला और जब गया तब भीषण तबाही और बरबादी के दृश्य छोड़ गया। बारहवी शताब्दी अंत में भारत का राजनीतिक क्षितिज फिर संकट के बादलो से आच्छन्न हो गया और सिहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण भारत पर शुरू हो गये। अर्थात् महमूद गजनी से १७० वर्ष बाद भारत पर दूसरा आक्रमण शहाबुद्दीन गोरी का हुआ। जैसा ऊपर कहा जा चुका है सन् ११९३ मे दूसरी चढाई मे विजयश्री उसके हाथ लगी।

प्राचीन काल का इतिहास मुख्यत: दो खण्डो में विभाजित किया जाना चाहिये। प्राचीन भारत के इतिहास मे महाभारत का युद्ध एक महान् और

युग प्रवर्तक घटना के रूप में उदित हुआ था। उस घटना का भारतीय इतिहास पर जितना प्रभाव पड़ा उतना किसी अन्य घटना का नही। अतः प्राचीन भारत के समस्त इतिहास को पूर्व महाभारत काल और उत्तर महाभारत काल नाम से दो खण्डो मे विभाजित करना उचित होगा।

पूर्व महाभारत काल के इतिहास में सूर्यवंश और चन्द्रवंश के राज्यो की प्रधानता थी। इन वंशो के काल और क्रम के सम्बन्ध मे पौराणिक साक्ष्यो मे विभिन्न मत पाये जाते हैं। अतः उन मतों पर संक्षिप्त रूप से विचार करना आवश्यक है।

पुराणों मे उल्लेख है कि मनु की पुत्री इला का विवाह चन्द्रमा के पुत्र बुध से हुआ। इससे सिद्ध होता है कि बुध मनु के दौहित्र थे और लगभग उनके समकालीन थे। यदि इस समकालीनता को सत्य माना जाता है तो सूर्यवंश का लगभग समानान्तर चलना प्रतीत होता है। परन्तु वंश वृक्षों को देखने से पता चलता है कि सूर्यवंशी मनु से ९४ वी पीढी पर राजा वृहद्वल चन्द्रवंशी ५० वी पीढी पर महाराज युधिष्ठिर का समकालीन था। सूर्यवंशी महाराज राम मनु से ६३ वी पीढ़ी पर हैं जब कि युधिष्ठिर ५० वी पीढी पर और जब कि श्रीराम युधिष्ठिर से लगभग २९ पीढी पूर्व हुए थे। स्पष्ट है कि चन्द्रवश की स्थापना सूर्यवंश की अनेक पीढियों के व्यतीत हो जाने पर ही हुई। इला किसी और मनु की पुत्री थी जो सूर्यवंशी किसी ३५ वी या इससे भी कुछ नीचे की पीढ़ी के राजा के समकालीन थे। ऐसा भी हो सकता है कि इला आठवे सावर्णि मनु की पुत्री हो जो कि सूर्यवश के ३५ से ४० वी पीढी के बीच की किसी पीढ़ी के राजा के समकालीन हों।

चन्द्रवंश की स्थापना सूर्यवश की अनेक पीढ़ियों के बीत जाने पर हुई इसके नीचे लिखे प्रमाण हैं।

१— चन्द्रवंश के ५० वी पीढ़ी पर महाराज युधिष्ठिर सूर्यवंश की ९२ वी पीढी के वृहद्वल के समकालीन थे। राजा वृहद्वल का महाभारत के युद्ध में चक्रव्यूह के अन्तर्गत अभिमन्यु द्वारा वध हुआ था।

२—परशुराम ने सहस्रार्जुन का वध किया था। सहस्रार्जुन चन्द्रवंश की १९ वी पीढी पर है। उस समय सूर्यवंशी राजा अश्मक ५३ वी पीढ़ी पर था। यह राजा परशुराम के भय से स्त्रियों में जाकर छिप गया था जिससे उसका नाम नारी कवच पड़ा। इससे सिद्ध होता है कि चन्द्रवंश

की १६ वी पीढ़ी के महाराज सहस्त्रार्जुन सूर्यवंशी ५३ वी पीढ़ी के राजा अश्मक के समकालीन थे।

३—विश्वामित्र चन्द्रवंश की १५ वी पीढ़ी पर थे। सूर्यवंश की ५२ वीं पीढ़ी के राजा कल्माषपाद द्वारा विश्वामित्र के पुत्र का वध करा दिया गया था। अतः चन्द्रवंश की १५ वी पीढ़ी और सूर्यवंश की ५२ वीं पीढ़ी समकालीन ठहरती है।

४—ऋग्वेद के तीसरे और सातवें मण्डलों मे जो क्रमशः वशिष्ठ और विश्वामित्र के कहे जाते हैं राजा सुदास का बहुत अधिक वर्णन आया है। राजा सुदास सूर्यवंश की ५१ वी पीढ़ी पर आते हैं। अतः वशिष्ठ और विश्वामित्र का काल सूर्यवंश की ५१, ५२ वी पीढ़ी पर ठहरता है।

५—ऋग्वेद में दाशराज्ञ युद्ध का अति विशद वर्णन है। यह युद्ध सूर्यवंशी ५१ वी पीढ़ी के राजा सुदास का अनेक राजाओं से हुआ था जिनमे चन्द्रवंशी छठी पीढ़ी के राजा ययाति के ही थोड़ी पीढ़ियो के बाद के वंशधर भी सम्मिलित थे। एक युद्ध मे तो ययाति के पुत्र द्रुह्यु के ही सुदास के पिता दिवोदास द्वारा मारे जाने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रवंशी ६ से ८ पीढ़ी तक के राजागण सूर्यवंशी ५० और ५१ वी पीढ़ी के राजा दिवोदास और सुदास के समकालीन थे।

उपरोक्त विवरण से स्पष्टतया सिद्ध होता है कि चन्द्रवंश की ५० वी पीढ़ी सूर्यवंश की ८२ वी पीढ़ी के, १६ वी पीढ़ी ५३ वी पीढ़ी के, १५ वी पीढ़ी ५२ वी पीढ़ी के और छठी से आठवी, दसवी पीढ़ी ५०, ५१ वी पीढ़ी के समकालीन ठहरती हैं। निश्चय ही सूर्यवंश की स्थापना चन्द्रवंश के लगभग ३५ पीढ़ी पूर्व हुई।

प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास शीर्षक अपने ग्रन्थ मे मिश्रबन्धुओं ने इस प्रकार लिखा है—

"सूर्यवंश की प्रायः ३५ पीढ़ी बीत जाने पर चन्द्रवंश का प्रारम्भ हुआ था। इसी समय मे सम्भव है कि सूर्यवंश की मुख्य शाखा से इतर किसी अन्य सूर्यवंशी का नाम मनु रहा हो और उसकी कन्या इला से बुध का विवाह हुआ हो। सावर्णि मनु वैवस्वत मनु के पीछे हुए है क्यो कि यह ८ वें मनु कहे गये हैं और वैवस्वत सातवें। यह भी सूर्य के पुत्र होने के कारण वैवस्वत कहे जा सकते थे। सम्भव है यह इसी समय मे हुए हो और इला उनकी पुत्री हो। जो हो, अनेक समकालीनताओं को देखते हुए यह कदापि नहीं कहा

कोई न कर सका। हम यहाँ दो लेखकों का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं जो कि उसके थोड़े ही दिनों बाद गजनी मे उसी वश के अधीन हुए। उनमे से एक का नाम गर्देजी है। इसन १०४६ ई० से १०५२ तक लिखने का का काम किया। दूसरा मुहम्मद इब्न उर्केला—था। यह १०८६ ई० स १०६६ तक लिखता रहा। पिछले ग्रथकारो मे से जिन्होंने अलबेरूनी की इस पुस्तक का अध्ययन किया और उसकी नकल की सबसे अधिक प्रसिद्ध रशीदुद्दीन है। इसने सारे का सारा भौगोलिक परिच्छेद (१८ वाँ) अपने बृहत्काय इतिहास मे रख लिया है।

जब अलबेरूनी भारत मे आया वह समय भारतीय विद्वानों को मित्र बनाने के लिए अनुकूल न था। भारत भ्रष्ट म्लेच्छों के स्पर्श से सिकुडा जा रहा था। पालवश जो कभी काबुलिस्तान और पजाब पर शासन करता था, इतिहास के रगमच से लुप्त हो चुका था। उसके पहले देश सम्राट महमूद के दृढ पजे मे था और उन पर तुर्कवश के दास शासन करते थे। उत्तर पश्चिमी भारत के राजा लोग इतने अनुदार थे और वे आत्माभिमान मे इतने अधे हो रहे थे कि गजनी से आनेवाले भय का अनुभव नही करते थे। वे इतने अदूरदर्शी बन रहे थे कि अपनी रक्षा करने और शत्रु को मार भगाने के लिए भी आपस मे न मिल सकते थे। आनन्दपाल को अकेले ही सामना करना पडा और वह गिर गया, परन्तु बाकी सबकी भी उसके बाद एक एक करके वही गति हुई। जो लोग म्लेच्छो के दास नही बनना चाहते थे वे सब भाग कर समीपवर्ती हिन्दू साम्राज्यो मे जा बसे।

काश्मीर अभी तक स्वाधीन था और विदेशियों के लिए उसके द्वार सर्वथा बन्द थे। आनन्द पाल भाग कर वहाँ चला गया था। महमूद ने उस देश को भी जीतने का यत्न किया था पर उसे सफलता न हुई थी। जिस समय अलबेरूनी ने पुस्तक लिखी, राजशासन सग्रामदेव (१००७—१०-५० ई०) के हाथ से निकल कर अनन्तदेव (१०३०—१०८२ ई० के पास चला गया था।

मध्य और अधर सिन्ध मे महमूद ने बहुत कम हस्तक्षेप किया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह देश छोटे छोटे माडलिक राज्यों मे विभक्त था और छोटे छोटे मुसलमान-वश उनके मण्डलेश्वर थे।

१०२५ ई० मे सोमनाथ पर महमूद के आक्रमण ने, जो कि मास्को पर नेपोलियन के आक्रमण के सदृश था, गुजरात की—जिसकी राजधानी अनहिलवाडा या पट्टन थी—अवस्थाओ मे कोई स्थायी परिवर्तन पैदा किया मालूम नही होता। देश पर उस समय सोलङ्की-कुल का प्रभुत्व था। इस कुल ने ६८० ई० मे चालुक्या का स्थान लिया था। राजा चामुड महमूद के सामने से भाग गया, जिससे उसने उसी कुल के एक और राजकुमार देवशर्मन् को गद्दी पर बिठला दिया। परन्तु इसके थोडे ही दिन बाद हम चामुड के दुर्लभ नामक एक पुत्र को १०३७ ई० तक गुजरात का राजा पाते हैं।

मालवा पर परमार वश का शासन था। इन्होने भी काश्मीर के राजाओ की भाँति काबुलिस्तान के एक पालवशीय युद्धपराङ्मुख राजा को अपने यहाँ आश्रय दिया था। अलबेरूनी ने मालवा के भोजदेव का उल्लेख किया है। इसका शासन काल ६६७ ई० से लेकर १०५३ ई० तक है। धार में—जहाँ कि वह उज्जैन से उठ कर गया था—उसका राज दरबार तत्कालीन विद्वानों का समागम स्थान बन रहा था।

कनौज उस समय गौड अथवा बङ्गाल के पाल राजाओ के अधिकार मे था। ये राजा मुङ्गेर म रहते थे। महमूद ने कन्नौज को राज्यपाल के शासन-काल मे, १०१७ ई० में, लूट कर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, इसलिए म्लेच्छो से दूर, बारी नामक एक नवीन नगर की नींव रखी गई, परन्तु

कपिला के नाम से प्रसिद्ध है को अपनी राजधानी बनाया। अजमीढ़ के एक पुत्र का नाम ऋक्ष था। ऋक्ष के पौत्र कुरु के नाम से कुरुक्षेत्र नामक स्थान प्रसिद्ध हुआ। कुरु के दो पुत्रो मे एक के वंशज हस्तिनापुर मे राज्य करते थे, कौरव और पाण्डव इन्ही वंशजों मे हुए। कुरु के दूसरे पुत्र की शाखा मे उपरिचर बसु हुए जिनके वंशजों ने मत्स्य, प्राग्ज्योतिप अथवा आसाम, मगध, बिहार आदि मे अनेक राज्य स्थापित किये। इस प्रकार चन्द्रवंश की शाखाऐं धीरे-धीरे समस्त भारतवर्ष के अनेक प्रदेशो में फैल गई। मगध के सम्राट जरासंध के आक्रमणो से बचने के लिए चन्द्रवंशियों के अन्धक वृष्णि गोत्र वाले वंशजो ने मथुरा का परित्याग कर आनर्त देश में कुशस्थली नामक राज्य की स्थापना की। कुशस्थली ही पीछे द्वारिका कहलाने लगी।

इक्ष्वाकु वंशी श्रावस्त ने श्रावस्ती नाम का नगर बसाया जो बौद्धो के समय मे कोसल की राजधानी हो गया। राजा मान्धाता सूर्यवंश में चक्रवर्ती सम्राट हो गये है। उनका बसाया हुआ ओंकार मान्धाता नगर आज भी प्रसिद्ध है। हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहिताश्व ने रोहतक नाम का नगर स्थापित किया। राम के वंशजो ने भी अनेक नगर बसाये। कुश ने विन्ध्य पर्वत पर कुशावती और लव ने उत्तर की ओर शरावती बसाई। वर्तमान लाहौर को भी लव द्वारा बसाया हुआ कहते हैं। भरत के ज्येष्ठ पुत्र तक्ष ने आधुनिक रावलपिंडी जिले मे तक्षशिला और छोटे पुत्र पुष्कल ने उसी के निकट पुष्कलावती नगरी बसाई। लक्ष्मण के पुत्र अङ्गद ने अङ्गदीय और चन्द्रकेतु ने मल्लभूमि नामक पुरी बसाई। इन नगरो का आज कोई अस्तित्व प्रतीत नहीं होता परन्तु बौद्ध ग्रन्थो मे वर्णित चेदि और मल्लवंशो के नगर ये ही प्रतीत होते हैं। शत्रुघ्न के पुत्रों मे शत्रुघाती मथुरा का अधिपति था। मथुरा पीछे यदुवंशियो के अधिकार मे चली गई। उनके दूसरे पुत्र सुबाहु ने विदिशा को अपनी राजधानी बनाया। यह विदिशा वर्तमान भेलसा है जो मध्यभारत का एक जनपद है। विदिशा प्राचीन इतिहास में एक महान् राजनीतिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र रही है। इक्ष्वाकु के पुत्र निमि के वंशजो का तो सदैव मिथिला मे ही राज्य रहा। राजा सीरध्वज जनक मिथिला के प्रसिद्ध राजा हुए हैं। मिथिला के राजाओं का सांकाश्य के राजाओं मे संघर्ष रहता था परन्तु सीरध्वज जनक के काल मे शत्रु राजा सुधन्वा परास्त हुआ और मारा गया। इक्ष्वाकु के तीसरे पुत्र दण्डक ने मध्य भारत मे अपना राज्य स्थापित किया था परन्तु वह निमन्नान ही काल कवलित हुआ और उसके राज्य में उन्नति न हुई। दण्डक वन उसके राज्य की अवनति का मूक साक्ष्य आज भी दे रहा है।

सूर्यवंश और चन्द्रवंश प्राचीन भारतीय इतिहास के मुख्य राजघराने थे। इनकी शाखा प्रशाखाएँ ही समस्त देश मे फैल गई थी। पुराणों में तो उल्लेख है कि इनकी शाखाओं का विस्तार वर्तमान एशिया, यूरोप, अफ्रीका के अनेक देशों तक हो गया था। जो हो, हमने पुराणो में वर्णित सभी वंशावलियों का संक्षिप्त परिचय अपनी पुस्तक में देने की चेष्टा की है।

यह पुस्तक मेरे तीन वर्ष के परिश्रम का फल है। सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने वालों के लिए यह सम्भव नही कि वे समग्र चित्त से एक ही काम मे जुटकर उसे पूरा कर डालें। हम लोग यथावकाश ही अपनी रुचि के काम कर सकते हैं।

मैंने इस पुस्तक के लेखन काल के मध्य (तथा इससे पूर्व भी) अनेक इतिहास ग्रन्थों का अध्ययन आलोड़न किया था। बीच-बीच में इसके अनेक अंश विभिन्न शीर्षकों से ब्रजभारती तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित भी कराये।

पाश्चात्य विद्वानो ने भारत के प्राचीन इतिहास को बहुत करके गौतम बुद्ध या उनसे १००, २०० वर्ष पूर्व से ही आरम्भ किया है। उससे पहिले काल के इतिहास को उन्होने प्रागैतिहासिक कह कर टाल दिया है। पुरातत्व से प्राप्त शिलालेख, अवशेष, सिक्को आदि को ही उन्होने अपने इतिहास का आधार बनाया है। उन्होंने पौराणिक तो क्या वेदों के साक्ष्य से समन्वित पौराणिक सामग्री को भी त्याज्य और निरर्थक माना है। लोकमान्य तिलक, विनायक राव चिन्तामणि और मिश्रबन्धुओं ने पाश्चात्य विचारधारा का खण्डन किया है और उससे पृथक् एक नई मान्यता को जन्म दिया है जिसमे इतिहास निर्माण की दृष्टि से वेद और पौराणिक सामग्री को अतिशय महत्व प्रदान किया गया है। मेरी मान्यता यह है कि अतिरंजना दोष होते हुए भी पुराणों मे अनन्त ऐतिहासिक सामग्री भरी पडी है और भविष्य मे जितनी शोध होगी उतना ही समुज्ज्वल इतिहास हमारे सामने आता जायगा।

जो तथ्य सभी ऐतिहासिको ने समान रूप से प्रस्तुत किये हैं उनको मैंने सर्वमान्य समझकर यथावत् लिख दिया है और किसी प्रमाण का उल्लेख नही किया है। परन्तु जो कथन अथवा मत किसी ग्रन्थ विशेष से उद्धृत हैं उनका स्रोत अविकल रूप से वर्णित है।

तिथिक्रम के विषय मे मेरे कोई पूर्वाग्रह नहीं है। जिसका जो मत है उसका उल्लेख मैंने उसके नाम से ही कर दिया है। तिथिक्रम के विषय मे

विद्वानो मे तीव्र मतभेद हैं और मैं समझता हूँ उसके विषय में कोई अन्तिम मत प्रकट करना भावी खोज के प्रति अन्याय करना होगा। इस सम्बन्ध में हमें अपना मस्तिष्क खुला रखना है।

यह इतिहास उस जाति के शासन का है जिसे कभी आर्य कहते थे और आज हिन्दू कहते हैं। आज के युग मे कुछ लोग साहस की कमी से हिन्दू नाम लेने मे भी कतराते हैं। मेरा आशय यह है कि आर्य संस्कृति, भारतीय संस्कृति और हिन्दू संस्कृति एक ही चीज़ के तीन नाम हैं। प्राचीन भारत के हिन्दू राज्य में जिन महान् आदर्शों और परम्पराओ का जन्म हुआ उनसे भारतीय जनता आज भी अनुप्राणित है। प्राचीन भारत के इतिहास में अनेक स्वर्णिम युग आये जिनमें प्रजा अत्यन्त सुखी और समृद्ध थी और राज्य का विस्तार भी मध्य एशिया तक ऐसा फैला जैसा अनेक प्रयासो के बावजूद मुगल काल और ब्रिटिश काल मे भी न फैल पाया था। मौर्य गुप्त साम्राज्यो ने अपनी आभा से महाकाव्यो में वर्णित चक्रवर्ती सम्राटो की महान भारतीय परम्परा को प्रमाणित कर दिया।

इतिहास के विद्यार्थियो को आज पठान काल, मुगलकाल, अकबर महान, ब्रिटिशकाल आदि पर अनेक इतिहास ग्रन्थ पढ़ने को प्रेरित किया जाता है। इन कालो के इतिहास ग्रन्थ भी प्रचुर संख्या में उपलब्ध है। परन्तु जिस काल की अवधि हजारो वर्षों की है और जो एक प्राचीनतम महान संस्कृति का उद्बोधक और प्रतीक है और जिसमे राजा और प्रजा दोनो ने महान आदर्शों और परम्पराओ का परिपालन किया है उसको प्राचीन भारत का इतिहास कहकर टाल दिया जाता है, उसको उसके सही नाम से पुकारने में भी हमें संकोच होता है। इस विडम्बना पर बहुत काल तक विचार करने के उपरान्त मैंने इस पुस्तक को "प्राचीन भारत मे हिन्दू राज्य" नाम दिया है। मुझे इस बात की चिन्ता नही कि इस नामकरण से कौन खुश होगा कौन नही। मैंने तो अपनी भावना को साकार करने का क्षुद्र प्रयास किया है और ऐसा करके मैं समझता हूँ मैंने आत्म विश्वास के साथ न्याय किया है।

मैंने विद्वद्वर श्री जगदीश प्रसाद जी चतुर्वेदी के इतिहास सम्बन्धी लेख अनेक उच्च कोटि के साप्ताहिको में पढे हैं और मैं उनसे प्रभावित हुआ हूँ। वृहत्तर भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास का भी उन्हे खासा ज्ञान है। वे उच्चकोटि के समीक्षाकार हैं तथा तर्क सम्मत तथ्यो से समन्वित

उनके इतिहास सम्बन्धी लेख प्रामाणिक समझे जाते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ को लिखते समय मैंने इसकी भूमिका बन्धुवर जगदीशप्रसाद जी द्वारा लिखवाने का विचार अपने हृदय में संजो रक्खा था। जब पुस्तक की पाण्डुलिपि मुद्रित हो गई तो मैंने उनसे प्रार्थना की कि वे इसकी भूमिका लिखने की कृपा करें। मैं उनका अत्यन्त ऋणी हूँ कि उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली और एक भव्य भूमिका लिखकर भेज दी। भूमिका को पढ़कर मैं आश्चर्य चकित रह गया। ऐसा प्रतीत होता है कि चतुर्वेदी जी ने पुस्तक का कोना-कोना छान डाला है और विषय की कोई विधा उनकी दृष्टि से ओझल न हो पाई है। उन्होंने ८ पृष्ठों मे समग्र विषय को इस पूर्णता के साथ समाहित कर दिया है कि देखते ही बनता है। क्यो न हो इस विषय के वे पूर्ण पण्डित हैं।

भूमिका को पढ़कर मैंने अपनी पुस्तक की एक बड़ी कमी का अनुभव किया और वह यह कि इसमे अनेक स्रोतों के उल्लेख होते हुए अरब व्यापारी और लेखकों के सन्दर्भों का नितान्त अभाव है। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि वह कमी भूमिका ने ही पूरी कर दी। चतुर्वेदी जी ने इन लेखकों की एक पूरी सूची ही भूमिका में सम्मिलित कर दी है। सूची के साथ विभिन्न अरब विद्वानों का भारत के चिन्तन, दर्शन और उसकी विभिन्न उपलब्धियों के प्रति आदरपूर्ण दृष्टिकोण का भी उल्लेख है।

मैं चतुर्वेदी जी के प्रति पुनः अपना आभार प्रगट करता हूँ। निस्सन्देह उनकी भूमिका से मेरी पुस्तक का गौरव बढ़ा है।

चतुर्वेदी जी द्वारा भारत-अरब सांस्कृतिक सम्बन्धों का भूमिका मे उल्लेख देखकर मुझे प्रेरणा हुई कि इन सूत्रों को भी खोज कर उन पर प्रकाश डाला जाय।

पञ्चतंत्र का अनुवाद फारस मे उसके बादशाह खुसरो अनुशीरवान ने जिसने सन् ५३१ से ५७९ तक वहाँ राज्य किया कराया था। ५७० ई० मे इसका कलोलग और दमनग नाम से सीरियन भाषा में अनुवाद हुआ। आठवी शताब्दी में कलीलह और दिम्नाह नाम से अनुवाद हुआ। इस ग्रन्थ के शताब्दियो तक संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण न केवल फारसी और अरबी भाषा मे ही हुए अपितु ग्रीक, स्पैनिश, हिब्रू, जर्मन, लैटिन, इटैलियन भाषाओ मे भी हुए। इटैलियन भाषा के अनुवाद से इसका अनुवाद अंग्रेजी मे भी १५७० ई० मे हुआ। इस अंग्रेजी अनुवाद और मूल संस्कृत के ग्रन्थ के बीच में एक हजार वर्षों का अन्तर था। इस एक हजार वर्ष के भीतर इसके कई बार फारसी अरबी तथा अन्य भाषाओ में अनुवाद हुए।

संस्कृत के एक अन्य कामशास्त्र शुक सप्तति का भी अनुवाद फारसी में तूतीनामा के नाम से हुआ।

शतरंज चतुरंग का अपभ्रंश है। यह खेल पहिले पहिल भारत से ही चलकर छठी शताब्दी मे अरब पहुंचा और वहां से अरब वालो ने सीख कर इसका योरप के देशो मे प्रचार किया। इसका उल्लेख बाण के ग्रन्थों मे मिलता है इस खेल मे हाथी घोड़े रथ पैदल अंगो वाली भारत की चतुरंगिणी सेना से युक्त दो राजा अपने मन्त्री सहित मोहरो के रूप में एक दूसरे के विरुद्ध एकत्रित होते हैं। यह खेल चाल चलने वालो की सूझ-बूझ और बुद्धि कौशल पर ही निर्भर है।

दुःख का सम्बन्ध प्रकृति से है पुरुष से नही यह सांख्य दर्शन है जिसे प्लोटिनस ने लिया मालुम होता है। पोर्फिरी पर भी सांख्य दर्शन का प्रभाव मालुम पड़ता है जिसमे प्रकृति और पुरुष को पृथक् बताया है। इन दोनों ने जीव हिंसा को वर्जित और ससार को अनादि माना है जो कि सामान्यतया भारतीय दर्शन है सांख्य दर्शन का प्रभाव पाश्चात्य दार्शनिकों पर प्रचुर मात्रा मे पड़ा। सूफी अनलहक् वेदान्त के अहं ब्रह्मास्मि की पुनरावृत्ति ही है।

अंक प्रणाली का सर्वप्रथम भारत में ही आविष्कार हुआ। अरब वालो ने इसे हिन्द से सीखा और इसी कारण अंको का नाम हिन्दसा रक्खा।

ज्योतिष सम्बन्धी भारत के ज्ञान का प्रभाव आठवी नवमी शताब्दी में अरब वालो पर पड़ा। भारतीय सिद्धान्तों, आर्यभट्ट के ग्रन्थो और ब्रह्मगुप्त के अहर्गण का अरबी मे अनुवाद हुआ। इन अरबी ग्रन्थो मे सिद्धान्तो का सिन्द हिन्द, आर्यभट्ट का अर्जेहीर और अहर्गण का अर्कन्द नाम अरबी मे पड़ा। अनुवाद के कार्य को सुचारु रूप से कराने के लिये कई बार बगदाद के खलीफाओं ने ज्योतिषियो को भारत से बुलाया। भारतीय ज्योतिष शास्त्र के ज्ञान का प्रसार योरप मे अरबो के माध्यम से हुआ।

आयुर्वेद—७०० ई० मे अरब वालो ने इस विद्या को भारतीयो से सीखा और आयुर्वेद के कई ग्रन्थो का बगदाद के खलीफाओं ने अनुवाद कराया। आठवी शताब्दी के अन्त मे खलीफा हारूअल रशीद ने चरक और सुश्रुत का अरबी में अनुवाद कराया। लैटिन भाषा मे अरब अनुवादो से अधिक अनुवाद हुए जिमसे योरप के डाक्टरो को लाभ पहुँचा।

—वृन्दाबनदास

डा० बनारसीदास चतुर्वेदी

मेरी हिन्दी-सेवा के असीम प्रेरणास्रोत श्रद्धेय चतुर्वेदीजी को यह ग्रन्थ सादर समर्पित है।

—वृन्दावनदास

भूमिका

इतिहास राष्ट्र के जीवन की कहानी है। इतिहास का उद्देश्य यदि सही माने में पूरा हो और उसका अध्ययन निष्पक्ष दृष्टि से किया जाए, तो संसार में अनेक तनाव, अनेक मिथ्या भावनाएँ तथा स्पर्धा की अनेक स्थितियाँ अपने आप दूर हो जाएँ। किसी देश का इतिहास इस बात का प्रतीक नही है कि उस देश में कौन-कौन राजा हुए और वे किस प्रकार समाप्त हो गए। न इतिहास का उद्देश्य यह बताना है कि कौन-कौन से ध्वंसावशेष, ताम्रपत्र, शिलालेख या सिक्के कहाँ पड़े हुए हैं और उनमें क्या लिखा है। इतिहास का उद्देश्य एक राष्ट्र के जीवन के उतार-चढावों को अंकित करना है। इतिहास से हमें यह लाभ होता है कि हम समझ सकें कि किन परिस्थितियों मे हमारे पूर्वजों ने अपना विकास किया। क्या कारण थे कि वे अपने प्रयास में असफल रहे, कौन सी स्थितियाँ थी जिन्होंने उनके प्रयत्नों को पुष्पित किया और फिर ऐसे कौन से कारण आ गए जिनके कारण गौरवपूर्ण से गौरवपूर्ण देश, जातियाँ या जनसमूह अवनति के गर्त में गिरते चले गए। जब हम यह देखते हैं कि आज का यूनान किसी समय पश्चिमी देशों का जगद्गुरु माना जाता था, जब हमको यह पता लगता है कि एक समय था जब मिश्र की सम्पन्नता की तुलना संसार के अन्य देशो के भौतिक विकास से करना कठिन था और जब हमको यह ज्ञात होता है कि भारत के दर्शन, धर्म और विचारधारा का प्रभाव देश-देशान्तर मे फैल गया तो हमें इस बात का विश्वास होता है कि किस प्रकार हमारा देश या उसके समकालीन अन्य देशों के लोग आज से हजारो वर्ष पहले कैसे-कैसे बड़े-बड़े काम करने में सफल हो गए। यह हमें आशा का सन्देश देता है। साथ ही जब हम इतिहास की बारीकी पर जाते हैं तो हमको पता लगता है कि हमारी किस क्षुद्रता ने किस कमजोरी ने हमको पीछे डाला।

कहावत है कि इतिहास अपने को दोहराता है। इसका अर्थ केवल यह है कि जब मनुष्य इतिहास के सन्देश को ठीक तरह से हृदयंगम नही कर सकता तो उसको वे कठिनाइयाँ, वे असफलताएँ, वे निराशाएँ फिर से झेलनी पडती हैं जो किसी समय उसके पूर्वजो को झेलनी पड़ी थी और यदि वह पिछली गलतियों को, कमियों को, आसन्न खतरो को नए युग के अनुरूप उचित ढग मे मूल्यांकित कर लेता है, तो उसे आगे बढ़ने में सहायता मिलती है और वह गलतियाँ नही दोहराता, जो उसके पूर्वजों ने की थी। इस दृष्टि से इतिहास का अध्ययन प्रत्येक राष्ट्र के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है।

बिना इतिहास के ठीक-ठीक अध्ययन के किसी बालक को अपने देश के प्राचीन स्वरूप का बोध ही नही होता और बिना उसका बोध हुए नए का निर्माण सम्भव नही है। भारत के प्राचीन मनीषियों को यह बात अच्छी तरह मालूम थी और उन्होने प्राचीन घटनाओ को और उनके अध्ययन को वेदों के समान ही धर्म-ग्रन्थ की कोटि मे रखा। पुराण प्राचीन इतिहास का ही नाम है और वह लिखे ही इसलिए गए कि आने वाली पीढी को प्राचीन पीढ़ी के समय का ध्यान हो सके। दुर्भाग्य है कि परजीटर के अध्ययन के पहले कोई विदेशी विद्वान इस बात को मानने के लिए तैयार नही हुआ कि भारत के अष्टादश पुराणों मे इतिहास गुंथा पड़ा है। अंग्रेज इतिहासकारों ने तो यह भी स्वीकार नही किया कि इन पुराणो मे जो वर्णित तथ्य है उनमे कोई वास्तविकता हो सकती है। उन्होने तो हमारे प्राचीन महाकाव्यों, रामायण और महाभारत मे वर्णित वार्ताओ को भी कपोल-कल्पित कहा। लेकिन आज जब हस्तिनापुर, कान्यकुब्ज, कौशाम्बी, प्रतिष्ठान, मथुरा और दिल्ली के उत्खनन ने यह सिद्ध कर दिया है कि इन नगरों में आज भी चार हजार वर्ष पुरानी सभ्यता के अवशेषो के प्रमाण हैं, तो फिर नास्तिकों को भी यह मानकर चलना पडा है कि रामायण, महाभारत अथवा पुराणो मे जो कुछ लिखा गया है वह कपोल-कल्पित नही है, बल्कि उसमें भारत का एक अत्यन्त गौरवशाली अध्याय छिपा हुआ है।

बाबू वृन्दावनदास जी ने 'प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य' नामक इस पुस्तक में उस प्राचीन इतिहास को विधिवत् लिपिबद्ध किया है। वेदो, पुराणों तथा अन्य प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थो को इतिहास का मुख्य आधार मानकर उनके सन्दर्भ मे भारतीय इतिहास की क्रमबद्ध परम्परा को सामने रखा है। अभी तक जो प्राचीन इतिहास दिखाई देते हैं उनमे महाकाव्य-युग का एक जिक्र होता है, जिसके अन्दर रामायण और महाभारत की कथाएँ सम्मिलित कर दी जाती हैं। बाबूजी के इस इतिहास मे वेदो और पुराणो मे वर्णित कथाओ को भी इतिहास की दृष्टि से देखा गया है और उनमें जो चरित्र आते हैं, उनका यथासम्भव पूर्ण विवरण दिया गया है। लेकिन आज का इतिहास राजाओं का इतिहास नही माना जाता। आज इतिहास लेखक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह तत्कालीन समाज की विचारधाराओं का, सामाजिक व आर्थिक स्थिति का और समाज मे व्याप्त असन्तोष, संघर्ष और इस प्रकार की अन्य स्थितियो का भी सांगोपांग वर्णन करे। बाबू वृन्दावनदास जी ने यथाशक्ति इस सिद्धान्त को अपनाने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए जहाँ वे दिवोदास और

सुदास के युद्धों का वर्णन करते हैं, वहाँ पर उन्होंने ऋषियों की विचारधारा और जीवनदृष्टि पर भी अपनी कलम चलाई है और उनके वर्णन को पढ़कर यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने केवल अन्धश्रद्धा के आधार पर अच्छा ही अच्छा देखा है। वेदों में जो स्वतन्त्र चेतना थी उसका परिचय देते हुए वे लिखते हैं :

"वैदिक आर्यों में स्वच्छन्दता एक बड़ा भारी गुण था। प्रत्येक ऋषि ने अपने निष्कर्ष किसी अन्य ऋषि की सहायता बिना ही निकाले हैं। उसने इस बात की परवाह न की कि उसके निष्कर्ष अन्य ऋषि के निकाले हुए निष्कर्ष से भिन्न है। ऋषिगण केवल अपने शिष्यों को विद्या दान ही नही देते थे, अपितु युद्ध में आवश्यकता पड़ने पर सैन्य संचालन को भी जाते थे। जाति भेद न होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार ऋषि, सैनिक, कुछ भी हो सकता था।"

पुराणो के सम्बन्ध में भी उनकी दृष्टि तर्क के आधार पर चलती है। एक जगह उन्होंने लिखा है : "मन्वन्तरो को पुराणों में गणना के अनुसार भी बांधा है, परन्तु उसे देवताओ के वर्षों के अनुसार निर्धारित करने से वह एकदम अतिशयोक्तिपूर्ण एव संख्यातीत सा प्रतीत होता है।"

वृन्दावनदास जी ने मन्वन्तरों का इतिहास लिखा है लेकिन उसकी गणना के लिए लोकमान्य तिलक जैसे ज्योतिषविद् को आधार माना है। इस कारण यह पुस्तक उन सभी व्यक्तियों के लिए उपयोगी हो गई है जो भारतीय इतिहास को आँखें खोलकर बिना किसी पूर्वाग्रह के समझना चाहते हैं।

वृन्दावनदास जी ने इस पुस्तक में इतिहास के समस्त साधनों का उपयोग किया है। वेद, पुराण, स्मृति से लेकर प्राचीन साहित्य, प्राकृत और अपभ्रंश मे लिखा हुआ साहित्य, राजस्थान की ख्यातें और लोककथाएं, सभी में प्राप्त इतिहास सूत्रों को पिरो कर एक समग्र कथा बनाई गई है। अनेक बातों में उन्होंने इतिहासकारो से भिन्न राय प्रकट की है। जैसे, विक्रमादित्य के काल के सम्बन्ध मे और उसके लिए उन्होंने पुष्ट प्रमाण भी दिए हैं। वे यह नही मानते कि शातकर्णी शातवाहन या चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य थे। उनकी मान्यता है कि असल विक्रमादित्य उज्जैन के ही शासक थे और विक्रमादित्य उनका विरुद न होकर नाम ही था, जो बाद मे अन्य राजाओ ने अपने को गौरवान्वित करने के लिए विरुद के रूप में ग्रहण किया। यह परम्परा कोई अनोखी नहीं थी। रोम के प्रसिद्ध शासक जूलियस सीजर की गरिमा से मुकाबला करने के लिए पहले बैजन्टाइन के शासको ने और फिर

रूस के राजाओ ने सीजर विरुद धारण किया, जो सिरिल या स्लाव् भाषा का ज़ार बन गया और उसी शब्द को जर्मन सम्राट विलियम ने कैसर के रूप मे स्वीकार किया, क्योकि जर्मनी मे वह सीजर शब्द कैसर के रूप मे ही पढा जाता है। इसलिए श्री वृन्दावनदास जी का यह दावा कि मूल विक्रमादित्य का नाम ही परवर्ती राजाओ के लिए विरुद बन गया, अस्वाभाविक नही है। वृन्दावनदास जी ने भारशिवो, नागो तथा वाकाटको का जो इतिहास पुराणो और उपलब्ध अन्य सामग्री से जोडकर एकत्रित किया है वह भी उपयोगी है, क्योकि बहुत सी पुस्तकों मे इस महत्वपूर्ण काल पर बहुत थोडा ध्यान दिया गया है।

भारत के हिन्दू राज्यो के सम्बन्ध मे यह प्रस्थापना है कि सम्राट हर्ष के पश्चात् हिन्दू राजे आपस में लडते-भिडते रहे, कोई केन्द्रीय सत्ता विद्यमान नही हुई और इस काल मे हिन्दू धर्म की कट्टरता के कारण छुआछूत तथा ऊँच-नीच के भेद ने हिन्दू समाज को इतना कमजोर कर दिया था कि जैसे ही धार्मिक जोश से भरे हुए मुसलमान आक्रान्ता भारत मे आए, उन्होने सारे देश पर कब्जा कर लिया। कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि हिन्दू जाति के अनेक उपेक्षित अगो ने इस्लाम को हिन्दू धर्म की अपेक्षा अधिक जनतन्त्रीय या मानववादी मानकर उसे अपना लिया। बाबू वृन्दावनदास जी ने भी सम्राट हर्षवर्धन के पश्चात् के काल को भारत का कोई अत्यन्त गौरवशाली काल नही माना है और यद्यपि उन्होंने प्रतिहार वश के नागभट्ट प्रथम को यह श्रेय दिया है कि उसने अरबो का सफलता पूर्वक मुकाबला किया, परन्तु जिस वंश ने साढ़े तीन सौ वर्षो तक अरबो की सम्मिलित शक्ति का लोहा लेते हुए भारत के ज्ञान-विज्ञान और कला को ऊँचा उठाने मे मदद की उसको उतना महत्व नही दिया है जिसका कि वह हाल की गवेषणाओ से उत्तराधिकारी सिद्ध हुआ है। यह साक्ष्य हमे भारत में उपलब्ध केवल दो प्रकार के प्रमाणों से मिलता है। एक है साहित्य, और दूसरा शिल्प तथा स्थापत्य। हमे अत्यन्त प्रसन्नता है कि बाबू वृन्दावनदास जी ने इस काल मे हुई कला की उन्नति का ही उल्लेख नही किया है, बल्कि विभिन्न राजाओ ने साहित्य के क्षेत्र मे स्वय क्या योगदान दिया और उनके काल मे किस प्रकार का महत्वपूर्ण साहित्य लिखा गया उसका भी ब्योरेवार वर्णन दिया है। वल्लभसेन, राजा भोज परमार, अमोघवर्ष प्रथम, सोमेश्वर तृतीय, विग्रहपाल वीसलदेव जैसे राजपुरुष लेखको के अतिरिक्त श्री हर्ष जयदेव, मंख, बिल्हण, पद्मगुप्त, सोमदेव, कल्हण, भवभूति, राजशेखर, दामोदर, कृष्ण मिश्र, सोमदेव, आनन्दवर्धन, मम्मट, हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, शारंगधर,

शकटायन, विज्ञानेश्वर, कुमारिल, मण्डन मिश्र, वाचस्पति मिश्र, शकराचार्य, माधवाचार्य, उदयन जैसे लेखक जिस काल में हुए हो उसे भारत के इतिहास का गौरवपूर्ण काल न कहा जाए तो क्या कहा जाएगा ? यह वह समय था जब अरब व्यापारी, लेखक और आक्रान्ता भारत आए। उस समय उन्होंने जो भारत देखा उसका उन्होंने अपनी भाषा में वर्णन किया है। जाहिज, सुलेमान सौदागर, अबू ज़हीद सिराफी, इब्न खुर्द दामा, बिलाधोरी, अहमद बिन याकूबी, इब्न फाकिह हमदानी, इब्न रूस्ता, बुजुर्ग बिन शहरयार, मसूदी, मुताहिर बिन ताहिर, इस्तखारी, बुशारी मखदीसी, इब्न नादिम, अब्दुल कादिर बग़दादी, काजी सैयद अंडलूसी (यह स्पेन का रहने वाला था), अब्दुल करीम शहरिस्तानी, इब्न होकल, कज़वीनी, इदरीसी, अलबरूनी, अब्दुल दरफ यानूबी आदि कुछ ऐसे लेखक हैं जिनकी रचनाएँ हाल ही मे प्रकाश में आई हैं। इनके अतिरिक्त मालूतवारीख, चाचानामा या तारीखे-हिन्द जैसी पुस्तकें भी हैं, जो अरबी मे बारहवीं शताब्दी मे लिखी गई, पर जिनके लेखकों का नाम मालूम नही है।

इन लेखको ने भारत के बारे में जो लिखा है वह यह बताता है कि जिसे हम बडा गया-गुजरा भारत समझते हैं, वह अरब लेखकों की निगाह में अत्यन्त बुद्धिमान, विद्वान और चरित्रवान व्यक्तियों का देश था। सबसे पहले अरब लेखक जाहिज़ ने लिखा है कि भारतीयो के पास चिकित्सा का अपना शास्त्र या दर्शन है। सुलेमान सौदागर ने लिखा कि भारत में बहुत से हकीम हैं और बहुत से दर्शनशास्त्री हैं। अबू जाहिद सिराफी ने लिखा कि भारत का राजा, जिसका नाम नही बताया, संसार का चौथा महान नरेश है। हम उसे दार्शनिकों का राजा मानते हैं, क्योंकि भारत दर्शन और ज्ञान का स्रोत और केन्द्र है। याकूबी ने लिखा कि भारतीय दार्शनिक हैं और अन्तर्दृष्टि रखने वाले लोग हैं। वे दर्शन की सब शाखाओं में अन्य लोगों से बहुत ऊँचे हैं। उनके यहाँ दर्शन और तर्कशास्त्र पर बहुत सी किताबें है। इब्न फाकी ने लिखा कि भारत मे दार्शनिकों की बहुतायत है, इसी तरह खगोल-शास्त्रियों और ज्योतिषियो की। काज़ी सैयद अडलूसी ने लिखा कि ससार का पहला राष्ट्र भारतीयों का है: पिछले समस्त युगों में सभी राजाओं और राष्ट्रों ने एक स्वर से भारत के दर्शन और बुद्धिमत्ता की, उसके ज्ञान और उसकी कलाओं की प्रशंसा की। उसी लेखक ने लिखा कि चीन के राजा ने भारतीय राजा को दार्शनिकों का राजा कहा है, क्योंकि वह ज्ञान का विशेष रूप से उपासक है और हर प्रकार के साहित्य और ज्ञान में ऊँचा है।

यह साक्षी है उन अरब लेखकों की जो आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक या तो आक्रमणकारियों के साथ आए, या अलग से गुजरात और महाराष्ट्र तट पर भारत-दर्शन के लिए आए थे। उन्होंने भारत का जो चित्र खींचा है उससे यह नहीं लगता कि उस समय अन्य देशों के लोग भारत के समाज को पतनोन्मुख या विशृंखलित समाज मानते थे। इन लेखकों ने भारत की सैन्य शक्ति और बहादुरी का भी जो चित्र खींचा है वह भी इतना ही गौरवपूर्ण है। एक लेखक लिखता है कि जब मुल्तान पर कन्नौज का भारतीय राजा अपनी विशाल फौज लेकर चढ़ आता था तो मुल्तान का अमीर अपने हिन्दू पुजारियों को आदेश देता कि वे मार्तण्ड की मूर्ति को लेकर लड़ाई के मैदान में जाएँ। मार्तण्ड का मन्दिर उस समय सारे भारत का अत्यन्त पूजनीय तीर्थों में से एक था और उस समय मुसलमान अमीर भारतीय राजाओं को सन्देश भेजता कि अगर तुमने आगे हमला किया तो हम इस मूर्ति को तोड़ देंगे और इस प्रकार भारतीय राजा वापिस लौट जाता और इस तरह नपुंसक अमीर अपनी हार को बचा लेते। जिस व्यक्ति ने यह लिखा वह अरब था, लेकिन अपने समकालीन राजा को अरबी भाषा में ही नपुंसक की उपाधि देते हुए उसने भारतीय शक्ति की प्रशंसा की। यह उस इतिहासकार की बौद्धिक ईमानदारी का सबूत है और साथ ही उसने यह भी बता दिया कि भारत के लोग इसलिए नहीं हारे कि उनके पास शक्ति की कमी थी या संगठन का अभाव था, लेकिन उनकी यह धार्मिक भावना कि वे किसी मूर्ति के खण्डित होने में भागीदार न हों, यह कारण बन गई कि भारत पर एक कोने में विदेशी शक्ति का तीन साढ़े तीन सौ साल कब्जा रहा जिसको आधार मानकर बाद में भारत की केन्द्रीय शक्ति पर व्यापक प्रहार कर उसे जीत लिया गया।

इतिहास ऐसा विषय है जिसमें एक-एक प्रकरण को लेकर शताब्दियों तक खोज हो सकती है और इस दृष्टि से कोई भी इतिहास पुस्तक अपने समय में सर्वांग सुन्दर होते हुए भी कुछ दिनों बाद पुरानी पड़ सकती है। इसलिए किसी पुस्तक के गुण-दोष की विवेचना करते समय मुख्य बात यह है कि इसने क्या दिया है न कि यह कि क्या छोड़ दिया है। बाबू वृन्दावनदास जी का यह प्रयास अत्यन्त सराहनीय है। वे मूलतः एक साहित्यिक कार्यकर्ता हैं, जिन्होंने अपने व्यवसाय से समय निकालकर साहित्यिक कार्य को दिया है। ब्रज साहित्य मण्डल के अध्यक्ष की हैसियत से उन्होंने इस संगठन को पुनर्जीवन-दान दिया। लेकिन हमें प्रसन्नता हुई कि ब्रज साहित्य मण्डल के कार्य ने उनकी साहित्यिक अन्तर्चेतना को इतना प्रभावित किया कि वे भारतीय

इतिहास के एक ऐसे पक्ष को बड़े समग्र दृष्टिकोण से लिखने मे समर्थ हुए जिसमे अभी तक बहुत थोड़े लेखकों ने कलम चलाई है। उन्होने जिन सामग्रियों का उपयोग किया है वह एक नई विचारधारा और नई परिपाटी का प्रतीक है और उस दृष्टि से बाबू वृन्दावनदास जी यद्यपि भारत के पुराने से पुराने काल पर यह पुस्तक लिख रहे है, परन्तु उन्होने लिखने का आधार आधुनिक पद्धति से लिया है। इस पुस्तक से, जो विद्वानो के लिए नही, बल्कि साधारण पाठक के लिए लिखी गई है, बहुत सी ऐसी बातों पर प्रकाश पडता है जो अभी तक केवल शोधकर्ताओं के ही पल्ले पड़ती थी और यह इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता तथा उपादेयता है।

५५, काकानगर, नई दिल्ली–३ **जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी**

रामनवमी सवत् २०२६

विषय सूची

१. प्रागैतिहासिक काल के कुछ ऐतिहासिक तत्त्व ३३
२. ऐतिहासिक सामग्री का निरूपण ३७
३. प्राचीन भारतीय सभ्यता ४२
४. वेद और उनका साहित्य ४८
५. वेदों में प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री और उसका महत्व ५१
६. वेद-कालीन सामाजिक दशा ६२
७. सुर और असुर जातियां : ऐतिहासिक संदर्भ ६८
८. पुराणों में सृष्टि की उत्पत्ति एवं एकेश्वरवाद ७४
९. भारतीय इतिहास के पहिले छः मन्वन्तर ७६
१० इक्ष्वाकु वंश ८९
११. इक्ष्वाकु वंशीय कुछ प्रतापी राजागण ९५
१२. रघुवंश ... १०२
१३- चन्द्रवंश ११०
१४. कुरुवंश १२०
१५. पुरुवंश ... १३३
१६. पुरुवंशीय निषध राज्य १३६
१७ यदुवंश १३९
१८. उत्तर महाभारत काल १४८
(१५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक)
१९. ब्राह्मण काल १५०
२०. ब्राह्मणोत्तर काल का साहित्य १५९
२१. उत्तर महाभारत काल के गणराज्य १६३
२२. बौद्धकालीन मगध साम्राज्य १६८
२३. शिशुनाग और नन्द वंश १७८
(४०० ई० पू० से ३१७ ई० पू० तक)
२४. भारत पर यूनानी आक्रमण १८५
२५. बौद्ध धर्म और उसका प्रचार १९८
२६. जैनधर्म २०७
२७. मौर्य कालीन भारत की दशा २१०

२८. शुंग सातवाहन काल २२१
२९. विक्रमादित्य का ऐतिहासिक अस्तित्व २३८
३०. शक क्षत्रप और कुषाण काल २४३
३१. भारशिव नागवंश २५१
३२. वाकाटक वंश २५६
३३. गुप्तकाल २६५
३४. हर्षोत्तर भारत में समाज की दशा २७३
३५. हर्षोत्तर भारत के प्रान्तीय राज्य २८७
३६. पुष्यभूति वंशीय सम्राट हर्ष वर्द्धन ... ३०४
३७. दक्षिण भारत का चालुक्य राज्य ३११
३८. कल्याणी का चालुक्य वंश ३१५
३९. दक्षिण भारत का पल्लव राज्य ३२२
४०. दक्षिण भारत के राष्ट्र-कूट ३२९
४१ दक्षिण भारत का चोल साम्राज्य ३३६
४२. प्राचीन भारत के उपनिवेश (१) ३४४
४३. प्राचीन भारत के उपनिवेश (२) ३५०
४४. काश्मीर ... ३६३-६४

* पृष्ठ ३१ से पूर्व प्राक्कथन और भूमिका आदि प्रस्तुत किये गये हैं।

१. प्रागैतिहासिक काल के कुछ ऐतिहासिक तत्व

पुरातत्ववेत्ताओं का अनुमान है कि आज से लगभग ६ लाख वर्ष पूर्व इस पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति होना आरम्भ हो गया था। इन जीवधारियों मे एक मनुष्य भी था। आरम्भ में मनुष्य भी पशुओं की भांति जीवन व्यतीत करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य ने वन के पशुओं की तरह लाखों वर्ष तक जगली जीवन व्यतीत किया। उस समय मनुष्य छोटे-छोटे समूहो मे रहते थे और भोजन की तलाश मे एक स्थल से दूसरे स्थल को चले जाते थे। वे नग्नावस्था मे रहते तथा कन्दमूल फल खाकर क्षुधा शान्त करते थे। धीरे-धीरे मनुष्य पत्थर का प्रहार कर पशुओ को मारने और उनका मांस भक्षण करने लगे। विश्व के अनेक भागो मे प्रस्तरीय शस्त्र उपलब्ध हुए हैं जो आकार प्रकार मे लगभग एकसे हैं। ये आयुध इस बात के द्योतक है कि आज से लाखो वर्ष पूर्व मनुष्य भ्रमणशील थे और पत्थर के अनेक हथियारों मे पशुओ का आखेट किया करते थे। फिर वह पशुओं के चर्म से अपने आपको ढक कर शीतावस्था व उष्णता से अपनी रक्षा करने लगे। पत्थर के इस प्रयोग के कारण ही लाखों वर्ष वाली अवधि के इस लम्बे युग को प्रस्तर युग कहते है।

भ्रमण करते-करते जब मनुष्यो को थकान मालूम देने लगी तो उन्हे एक स्थान पर बसने की इच्छा हुई। एक स्थान पर बसने के लिये भोजन की व्यवस्था आवश्यक है। मनुष्य की इस इच्छा का परिणाम ही कृषि और पशुपालन का आविष्कार है। कृषि के लिये धातु के आयुधों का निर्माण हुआ और मनुष्य खेती तथा पशुपालन का कार्य करने लगे। प्रस्तर युग के बाद जिस युग में अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में धातुओं का प्रयोग होने लगा उसको ताम्र-युग कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ताम्रयुग आज से दस पन्द्रह हजार पूर्व अस्तित्व में था। यह अनुमान लगाना कठिन है कि इस युग का अस्तित्व दस पद्रह हजार वर्ष पूर्व कितने काल तक रहा। ये तो रही मनुष्य के आदि काल की बात। अब हमें यह देखना है कि इतिहास की दृष्टि से विश्व की अनेक सभ्यताओं का जन्म किस प्रकार हुआ और हिन्दू सभ्यता से इन सभ्यताओ का क्या सम्बन्ध था।

आर्यो का मूल निवास स्थान कौनसा था इस पर मतभेद है। कुछ पुरातत्वज्ञों का मत है कि आर्यों का मूल स्रोत मध्य एशिया था, दूसरे इसे कास्पियन सागर का प्रदेश अथवा इसे दक्षिणी रूस, अथवा ईरान और सप्तसैन्धव

(आधुनिक पंजाब) बतलाते हैं। लोकमान्य तिलक अपने ग्रन्थ (Arctic home in the Vedas) मे वेद-सूक्तो के आधार पर आर्यों का घर आर्कटिक (उत्तरी ध्रुव) प्रदेश को बताते हैं जहां दीर्घकालीन उषा और एक वर्ष का अहोरात्र होता है।

विद्वज्जनो ने विश्व की समस्त भाषाओ की समानता के आधार पर यह मत स्थिर किया है कि इन भाषाओ के बोलने वाले एक ही श्रेणी या वर्ग के लोग थे। डा० सत्यकेतु विद्यालङ्कार ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास' मे लिखा है, "इटालियन, फ्रेंच, स्पैनिश, ग्रीक, केल्टिक, जर्मन, इग्लिश, ट्यूटानिक, स्लावोनिक, लियुएनियन, लैटिन, अल्वेनियन आदि यूरोपीय भाषायें, उत्तरी भारत की हिन्दी, पञ्जाबी, मराठी, गुजराती, उड़िया, बङ्गला आदि भाषायें और पश्चिमी एशिया की जेन्द, पर्शियन, पश्तो, बलूची, कुर्द और आरमीनियन भाषायें एक ही विशाल भाषा परिवार की अङ्ग हैं।" भारतीय समस्त भाषाओ की जननी सस्कृत है। यह कहना कठिन है कि पाश्चात्य समस्त भाषाओ की माता कौन सी भाषा है परन्तु जब यह स्थिर किया जा चुका कि भाषाओ मे समानता है तो यह निष्कर्ष समीचीन होगा कि सस्कृत ही समस्त भाषाओं की आदि जननी है और सस्कृत भाषा आर्य जाति की है। आर्य जाति के लोग एक स्थान से चलकर विश्व के अनेक भागो में फैल गए। भारत मे भी आर्य कई दिशाओं से आए और यहाँ के मूल निवासियो से जिन्हें दस्यु अथवा अनार्य कहा जाता है उनके भयङ्कर युद्ध हुए। अपनी योग्यता और सामर्थ्य के कारण आर्यो की अनार्यों पर विजय हुई और वे भारत मे स्थान-स्थान पर अनेक प्रदेशो मे बस गए। अनार्यो पर आर्यों की वैदिक सभ्यता का बडा प्रभाव पड़ा और उन्होने आर्यों के बहुत से क्रिया कलापों को अपना लिया। आर्यों ने बहुत सी अनार्य स्त्रियो से विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लिए और शनैः शनैः समस्त अनार्य जाति हिन्दू समाज में घुल मिल गई।

हड़प्पा और मोहन्जोदड़ो की खुदाई से सिंधु घाटी की सभ्यता का अनुमान लगाया जाता है। खुदाई से जो भग्नावशेष मिले हैं उनमे भग्न भवनों की पंक्तियां सड़क के दोनो ओर मिली है। दीवालो की ऊँचाई २५ फीट है। स्नानगृहों और नालियो की रचना सुन्दर ढंग से की गई है। अवशेषो से ज्ञात होता है कि किसी समय इनके स्थान पर भव्य भवनों की पंक्तियां होंगी। हड़प्पा और मोहन्जोदड़ो दो पूरे नगरो के अवशेष हैं जिनसे

तत्कालीन विशाल नगरों और उनकी सभ्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। शिल्प की बहुत सी वस्तुएँ हाथीदांत के फूलदान और आभूषण आदि प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है जिससे तत्कालीन कला और संस्कृति का बोध होता है। कुछ लोग मोहन्जोदडो और हड़प्पा की सभ्यता में मेसोपोटामियाँ की सुमेरियन सभ्यता का रूप देखते हैं जिसका काल ४००० वर्ष पुराना ठहराया जाता है। कुछ अन्य लोग इसको दस्यु सभ्यता का नाम देते है। उनका मत है कि ये ही लोग आर्यों के आने से पूर्व भारत के मूल निवासी थे और इन्हीं को पराजित करके आर्य लोग भारत में वसे। मोहन्जोदड़ो और हड़प्पा की कतिपय लिपियाँ अभी पढी नही गई हैं। इस दिशा मे प्रयास चल रहे हैं। परन्तु एक अनुमान यह भी है कि ये लिपियाँ कहीं पुराणों में वर्णित प्राचीन आर्य राज्यवंशावलियों का अस्तित्व ही प्रमाणित न कर दें। जो भी हो, हिन्दू जाति वही है जो यहाँ के मूलनिवासियों और आर्यों के मिश्रण से बनी। शक, हूण, यवन, कुशाण आदि भी पीछे बड़ी संख्या में हिन्दू जाति में प्रविष्ट हो गए।

हिन्दू सभ्यता बड़ी व्यापक और विस्तृत है। इसमें मनुष्यों को आत्मसात् करने की अपूर्व क्षमता है। ऋग्वेद संसार का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इससे प्राचीन ग्रन्थ वर्तमान समय में प्राप्त नही है। प्रोफेसर मैक्समूलर का मत है कि ऋग्वेद का निर्माण ईसा से २५०० वर्ष पूर्व हुआ। उनका विश्वास है कि जिस सभ्यता का ऋग्वेद मे वर्णन है वह तो २५०० वर्ष ई० पू० से भी बहुत पुरानी है। आधुनिक पुरातत्ववेत्ता तो ऋग्वेद को ८००० वर्ष पुराना ग्रन्थ मानते हैं। कुछ भी हो, यह निश्चय है कि ऋग्वेद की रचना ईसा से हजारो वर्ष पूर्व हुई। ऋग्वेद की प्राचीनता ही हिन्दू सभ्यता की प्राचीनता को सिद्ध करने में यथेष्ट है। पाश्चात्य पुरातत्ववेत्ता भी ऋग्वेद को ससार का प्राचीनतम ग्रन्थ मानते हैं।

भारतीय आर्यो के इतिहास का प्राचीनतम युग वैदिक युग है। वेद आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ है। वेदो के अध्ययन से भारतीय सभ्यता, संस्कृति और धर्म की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। वैदिक सूक्तो में ऋषियो के विचार और उनकी चिन्तनशैली उन्ही के शब्दों के अविकल रूप मे प्रस्तुत है और इसी कारण हिन्दुओं की सभ्यता, संस्कृति, और धर्म का परिचय प्राप्त करने के लिये वेदों का आश्रय प्रचुर मात्रा में लिया जाता है। वेद व्यास ने वैदिक सूक्तो का संहिता के रूप में सग्रह किया। वैदिक सहितायें चार हैं।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । जिस प्रकार वैदिक संहितायें आर्यों के धर्म और सभ्यता का दर्पण हैं उसी प्रकार पुराणों में आर्य राजवंशों के साथ सम्बन्ध रखने वाली अनुश्रुति संग्रहीत है । आर्यों की अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति सूत चारण मागधों में चली आ रही थी । कृष्णद्वैपायन वेद व्यास ने राजवंशो की इस अनुश्रुति का भी संग्रह किया । इसी संग्रह को अठारह पुराण कहते हैं । यद्यपि महर्षि वेदव्यास को पुराणों का कर्त्ता कहा है वे वास्तव में पुराणों के संकलन कर्त्ता थे ।

पुराण ऐतिहासिक सामग्री के अमूल्य भंडार है । पुराणों के वर्णन बड़े मनोरंजक तथा पांडित्यपूर्ण हैं । उन वर्णनों में भारतीय इतिहास की सामग्री निहित है । यह निर्विवाद है कि वे वर्णन अतिरंजित है तथा समय-यापन के परिणाम स्वरूप उनमें कुछ असङ्गत एवं काल्पनिक बातों का समावेश हो गया है । यदि हम अपनी बुद्धि के द्वारा पुराणों से संश्लिष्ट अंश का आवरण हटा सकें तो हमें भारतीय इतिहास का निर्मल चित्र प्रतीत होने लगता है । भारतीय इतिहास के अतिरिक्त पुराणों में सृष्टि की उत्पति का वर्णन तो विस्तार पूर्वक है ही, उनमे विश्व के इतिहास की भी किंचित झलक दिखाई देती है ।

इतिहासकारों ने विश्व के इतिहास-काल को दो भागों में बांट दिया है। (१) प्राग्ऐतिहासिक, (२) ऐतिहासिक । हमारा आशय तो पुराणों से भारतीय इतिहास के प्राचीनतम काल की उस सामग्री को निकालने का है जिसका कि तारतम्य आधुनिक इतिहास से मिल सके । वास्तव में हमारे पुराण तथाकथित प्राग्ऐतिहासिक काल पर सीधा प्रकाश डाल रहे हैं और हमें अनु-सन्धान के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचने को बाध्य कर रहे हैं कि प्राग्ऐतिहासिक काल की कल्पना निराधार है । पुराण इस ओर संकेत करते हैं कि प्राग्ऐतिहासिक नाम की कोई वस्तु नहीं, भारतीय इतिहास की शृङ्खला तो आदि काल से ही बनाई जा सकती है ।

'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास' शीर्षक अपने ग्रन्थ में ब्रज के मूर्धन्य साहित्यकार श्री प्रभुदयाल मीतल पृष्ठ २७७ पर इस प्रकार लिखते हैं ।

"वेदों में, रामायण, महाभारत और पुराणों में तथा जैन बौद्धों के आगमपुराण और जातकादि में इस देश के प्राचीनतम इतिहास की सामग्री मिलती है—इतिहास और पुरातत्व के विद्वान् पहिले उक्त ग्रन्थों की ऐतिहासिक सामग्री को ऐतिहासिक महत्व नहीं देते थे । वे लोग मूर्तियों, शिलालेखों, सिक्कों, तथा प्राचीन इमारतों आदि के अवशेषों को ही प्रामाणिक ऐतिहासिक

सामग्री मानते थे। जब से विभिन्न विद्वानों ने भारत के उन प्राचीन ग्रन्थों और विशेषतया पुराणों का गम्भीर अध्ययन कर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये है तबसे इतिहास और पुरातत्व के विद्वानों को भी भारत की इस गौरवशाली निधि का ऐतिहासिक महत्व स्वीकृत हो गया है। अब वे रामायण, महाभारत और पुराणों की वंशावलियो सहित उनके इतिवृत्तों को तथा बौद्ध जैन धर्मों की अनुश्रुतियों को भारतीय इतिहास के लिये आवश्यक और उपयोगी साधन समझने लगे हैं। इस विपुल सामग्री की सहायता से अब अनेक विद्वान् प्राचीन काल से ही भारतवर्ष का इतिहास प्रस्तुत करने के लिए सचेष्ट है।"

२. ऐतिहासिक सामग्री का निरूपण

भारत की सभ्यता प्राचीनतम है। यह सहस्रो वर्ष पुरानी है। भारतीय इतिहास के आधार स्वरूप भारतीय साहित्य के अनेक आर्ष ग्रन्थ है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्र, उपनिषद्, पुराण आदि प्राचीन इतिहास के निर्माण की दशा में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। दोनों महाकाव्य हिन्दू जाति की महानता और भारत की श्रेष्ठता तो उद्घोषित करते ही हैं वे हिन्दू इतिहास के सौन्दर्य को भी प्रस्तुत करते है। विश्व के इतिहास—साहित्य में हमारे महाकाव्य सुन्दरतम और अनुपमेय हैं। यह माना कि इनमे प्रक्षिप्त अंश है, उनमे वर्णित कुछ वृतान्त अतिरंजित है तथा कही कही अलङ्कारिक भाषा तथा शैली को अपनाया गया है इनकी ऐतिहासिकता के विषय में अब कोई शंकाएँ शेष नही हैं। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने वर्षों की खोज के उपरान्त यह तथ्य स्थिर किया है कि रामायण और महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ है। अनेक पुरातत्ववेत्ता भी अपनी शोधो के आधार पर इनकी ऐतिहासिकता को प्रमाणित करते हैं।

यद्यपि पौराणिक तथा अन्य आधार महाभारत काल को आज से लगभग ३५०० पूर्व का ही मानते हैं तथापि कोई-कोई विद्वान महाभारत का काल आज से ५००० वर्ष पहिले का मानते है। इस विषय में अनेक विद्वान् एक मत हो गये प्रतीत होते है। परन्तु महाभारत के अनेक शताब्दियों पहिले रामायण काल और उससे भी पहिले वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उनमे वर्णित आर्य सभ्यता अत्यन्त प्राचीनतम है। इसको आठ से लेकर दस हजार वर्ष पुरानी

हुई उसका उल्लेख इस स्थान पर अभीष्ट नही है। यहां केवल उन्ही आक्रमणों का थोडा सा उल्लेख किया जायगा जिनमे भारतीय साहित्य का विनाश किया गया।

हिन्दुस्तान रिव्यू मार्च सन् १९०६ की प्रति मे राय सरतचन्द्रदास के व्याख्यान का सार छपा है उसका भावार्थ उद्धृत किया जाता है। "उदान्तापुरी का विहार मन्दिर जो बुद्ध गया और नालन्दा के विहार मन्दिर से भी ऊँचा था और जिसमें ब्राह्मणो और बौद्धो के बनाये हुए ग्रन्थो का विशाल संग्रह था ऐलैक्जन्डरिया के महान् पुस्तकालय की भाँति सन् १२०२ ई० में बख्त्यार खिलजी के सेनापति मुहम्मद बिनसीम की आज्ञानुसार जला कर भस्म कर दिया गया।

महाराज महिपाल के पुत्र पाल महान् के शासन काल मे उदान्तापुरी में बौद्धो के हीनयान सम्प्रदाय के १००० साधु और महायान मत के ५००० साधु निवास करते थे। पालवंशीय महाराजाओ ने उदान्तापुरी में महन्तो के लिए एक विश्वविद्यालय की स्थापना की थी जिसमे एक विशाल पुस्तकालय बौद्ध और ब्राह्मण ग्रन्थों से परिपूर्ण विद्यमान था। सन् १२०२ ई० मे मुसलमान आक्रान्ताओं ने उस मठ पर आक्रमण करके सब साधुओं का कत्ले आम कर दिया और पुस्तकालय को जला कर भस्म कर दिया।"

इस प्रकार के अन्य वर्णन न देकर हम इस घटना पर श्री रामदेव द्वारा रचित 'भारतवर्ष के इतिहास' द्वितीय खण्ड में दी हुई टिप्पणी को ज्यो की त्यो उद्धृत करना अधिक उपयोगी समझते हैं। वह इस प्रकार है।

"ऐसी दुर्घटनाएँ कितनी हुई इसका पता कौन लगा सकता है। वर्तमान संस्कृत ग्रन्थो मे अनेक ऐसे ग्रन्थों के नाम आते हैं जिनका इस समय कही भी पता नही लगता। इसका कारण क्या? यही कि अनेक भारतीय ग्रन्थ मुसलमानी ईर्षाग्नि में भस्म हो गये। जब आर्य जाति पर विपत्ति पड़ी तो उसके नेताओं ने यह सोचा कि इतिहासादि साधारण ग्रन्थ तो फिर बन सकते हैं परन्तु यदि वेदो, उपनिषदों तथा दर्शनादि शास्त्रों का नाश हो गया तो न केवल आर्य जाति ही नष्ट हो जायगी प्रत्युत संसार मात्र की आत्मिक, मानसिक तथा सामाजिक उन्नति मे बाधा पड़ेगी। अतएव वह वेदोपनिषद दर्शनादि कतिपय ग्रन्थो को विशेष रूप से कण्ठस्थ करने लगे जिससे आर्यो के सैकड़ो ग्रन्थ बच गये परन्तु सहस्रो परमोपयोगी ग्रन्थों की रक्षा न हो सकी, वेदो की [illegible] सहस्र शाखाओं का नाश हो गया, धनुर्वेद, आयुर्वेद,

शिल्पविद्या, इतिहासादि के सैकड़ों ग्रंथ विलुप्त हो गये।" (भारतवर्ष का इतिहास, द्वितीय खण्ड, प्रथम भाग, पृष्ठ १०)

कर्नल टाड ने अपने ग्रंथ 'राजस्थान के इतिहास' मे भी इस समस्या पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। कर्नल टाड का मत है कि भारत में इतिहास ग्रन्थों की कमी का कारण वह ध्वंस लीला है जो हिन्दुस्तान में आक्रान्ता महमूद और उसके उत्तराधिकारियों ने की। टाड साहब कहते हैं "आठ शताब्दी तक हिन्दू लोग ऐसे विजेताओ के अधीन रहे जो उनकी प्राचीन भाषा संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ थे, जब कि प्रायः प्रत्येक हिन्दू-राजधानी पर आक्रमण कर असभ्य, दुर्दान्त, धर्मान्ध वर्बर शत्रुओं ने वार-वार लूट मार की, ऐसी दुर्दशा में यह आशा करना कि भारतीय इतिहास और साहित्य को वह क्षति न पहुँचेगी जो हिन्दुओं की प्रत्येक प्रकार की सांस्कृतिक और भौतिक निधियों को पहुँची व्यर्थ है। बहुधा हिन्दू राजाओं को एक दुर्ग से दूसरे दुर्ग को भागना पड़ता और पर्वतो की गुफाओ में गुप्तरूप से जीवन व्यतीत करना पड़ता था, यह भी उनको विश्वास न रहता कि जो भोजन उनके लिए तैयार किया जा रहा है उसको वे पा भी सकेंगे या नही, ऐसी अस्त-व्यस्त दशा मे इतिहास निर्माण की बात तो कल्पनातीत ही है।"

अब भारतीय इतिहास का निर्माण जिन स्रोतो से हुआ है अथवा और विशद रूप से हो सकता है उन पर विचार करना है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और अठारह पुराण शुद्ध ऐतिहासिक सामग्री से भरे पड़े हैं। इसके बाद बहुत से श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र, धर्मसूत्र आते हैं जो सभ्यता और संस्कृति के इतिहास से परिपूर्ण है। दो महाकाव्य रामायण और महाभारत विशुद्ध भारतीय इतिहास के समुद्र से जान पड़ते हैं। उपरोक्त समस्त साहित्य का अनुशीलन कर इतिहास का निर्माण करना एक दुरूह कार्य है। इस समस्त साहित्य को पढ़ने और समझने के लिए ही एक जीवन काल से अधिक का समय चाहिये फिर इतिहास का सृजन कौन करे? ऐसी दशा में विद्वानो के संगठित दल ही इस महनीय अनुसन्धान कार्य को पूरा कर विश्व के सामने एक उत्तम भारतीय इतिहास प्रस्तुत करने मे समर्थ हो सकते हैं।

उपरोक्त साहित्य के बाद बौद्ध साहित्य का काल आरम्भ होता है। उसमें ५ पाली निकाय और अन्य ग्रंथ बहुत बड़े बड़े हैं। इसके अतिरिक्त पुनः संस्कृत साहित्य आ जाता है। मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति पाराशर इत्यादि की स्मृतियां एवं धर्म शास्त्र अपना महत्व रखते हैं। १८ पुराण

यद्यपि अत्यंत विशाल हैं तथापि ऐसी सामग्री से परिपूर्ण है जिसे इतिहास की संज्ञा दी जा सकती है। अब अर्थशास्त्र, काम शास्त्र, नीतिशास्त्र की ओर लीजिये। इनमे भी अथाह सामग्री सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहास विषयक हैं। भास, कालिदास, भारवि, भवभूति, बाणभट्ट, दण्डी, सुबन्धु, क्षेमेन्द्र, गुणाढ्य, सोमदेव आदि आचार्यों के ग्रन्थ-रत्नों मे भारतीय सभ्यता का अनुपम चित्र विद्यमान है।

उपरोक्त साहित्य के अतिरिक्त शताब्दियो में निर्मित शिलालेख एवं ताम्र-पत्र हैं। सम्राट अशोक के शिलालेख, खारवेल की हाथीगुम्फा, आन्ध्रसातव और गुप्त सम्राटो के शिलालेख और ताम्र-पत्र भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त अनेक मुद्राएँ भिन्न-भिन्न कालो की प्राप्त हुई हैं।

उपरोक्त सामग्री अत्यन्त प्रचुर मात्रा मे है इसका अध्ययन, अनुशीलन यद्यपि दुरूह है तथापि आवश्यक है। पहिले तो सस्कृत अथवा पाली भाषा का ज्ञान अर्जित करना फिर इस अथाह सागर में निमग्न होकर तत्वो को खोजना एक महान् कार्य है। अब तक सामग्री की प्रचुरता और बहुतायत भी इतिहास के निर्माण मे बाधक सिद्ध हुई है। यद्यपि हमारे अगणित इतिहास ग्रन्थ मुस्लिम आक्रान्ताओं की पाशविकता से नष्ट हो गये तथापि जो सामग्री विद्यमान हैं वह भी अत्यधिक विशाल है, उससे अनेक इतिहास ग्रन्थो का निर्माण हो चुका है और भविष्य मे भी इसी प्रकार होता रहेगा।

३. प्राचीन भारतीय सभ्यता

भारत की प्राचीन सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यता का उद्गम स्थान है। पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वान इस विषय मे एक मत हैं कि ऋग्वेद ससार का प्राचीनतम ग्रन्थ है। आधुनिक पुरातत्ववेत्ता तो इसे ईसा से आठ हजार वर्ष पूर्व का निर्मित मानते हैं। ऋग्वेद के काल से हिन्दू सभ्यता को पुनर्जीवित और पुनर्गठित माना जाता है। हिन्दू सभ्यता भी इतनी पुरानी है जितने कि वेद। 'न हि वेदात् पर क्वचित्' के अनुसार वेद से परे कुछ भी वस्तु शेष नही है। जब ऋग्वेद ही इतना पुराना है तो उसमे वर्णित सभ्यता तो उससे भी अधिक प्राचीन होना स्वाभाविक है।

कुछ विद्वान् चीन के 'ताओ' मार्ग को प्राचीनतम मानते हैं और उसमें जो योग और प्राणायाम की व्याख्या है उसको वैदिक ज्ञान का श्रोत बतलाते है।

परन्तु यह मत वैसा ही है जैसे घोड़े के आगे गाड़ी का रखना। ताओ मार्ग की प्राचीनता अधिक से अधिक १००० वर्ष ईसा पूर्व समझी जाती है। जब ऋग्वेद ईसा से दस हजार वर्ष पूर्व का माना जाता है तो ताओ मार्ग में वर्णित योग विधियाँ भारतीत शास्त्रों मे दिये गये योगदान का दशमांश भी नही है। उपनिषदो मे वर्णित ब्रह्मविद्या ताओ मार्ग के ब्रह्मज्ञान की जननी है। ताओ मार्ग उपनिषदों में वर्णित विशद ज्ञान का न्यूनतम प्रतिबिम्ब है।

चीन देश को आबाद करने तथा वहाँ संस्कृति का दीप प्रज्वलित करने का श्रेय प्राचीन भारतीयो को है। भारतीय क्षत्रिय ही चीनी लोगों के प्राचीन आदि पुरुष थे, ऐसे प्रमाण मनुस्मृति मे उपलब्ध हैं। भारतवर्ष प्राचीन चीन की मातृभूमि है। चीन मे सबसे पहले जिन लोगो ने बसना शुरू किया वे भारतीय ही थे। यह तथ्य सबसे पहले रायल ऐशियाटिक सोसाइटी के प्रधान सर विलियम जोन्स ने स्थिर किया था। सर विलियम जोन्स का मत इस सम्बन्ध मे इस प्रकार है, "हमें अत्यन्त प्राचीन चीनी लोगों मे ऐसे विश्वास और धार्मिक कृत्य प्राप्त होते हैं जिनकी प्राचीनतम भारतीय विश्वासों और धार्मिक कृत्यों के साथ ज्वलन्त समानता है। ब्राह्मण ग्रन्थो और चीनी धर्म ग्रन्थों के बहुत से विधानो में समानता है। प्राचीन हिन्दुओ के मृत सस्कार श्राद्ध आदि भी इसी रूप मे चीनियो में पाये जाते है। बहुत सी प्राचीन भारतीय कथाऐं और ऐतिहासिक घटनाऐं कुछ परिवर्तित स्वरूप मे चीनी साहित्य में मिलती हैं। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन हिन्दू और चीनी एक ही जाति के थे। परन्तु जब उनमें कुछ लोग सुदूर चीन मे जाकर बस गये तो हजारों वर्ष बाद चीनी लोग अपनी भाषा, सभ्यता और संस्कृति को भूल गये। उनका अपनी मातृभूमि से सम्पर्क न रहना भी इसका कारण हुआ। भारत में मूल सभ्यता का विकास निरंतर जारी रहा।"

भारत से चीन के सम्बन्ध मे महाभारत का एक प्रमाण उल्लेखनीय है। शान्ति पर्व मे महाराज युधिष्ठिर भीष्म पितामह से प्रश्न करते हैं, "यवन किरात, गान्धारी, चीनी, शर्बर, बर्बर, आन्ध्र, शक, पल्लव, मद्रक, पौण्ड्र, पुलिन्द, अरट्ट, काच और म्लेच्छ जातियां जो कि चार वर्णों के संकरत्व से उत्पन्न हुई हैं किस प्रकार धर्माचरण करेंगी और इन जातियों को मैं किस प्रकार नियंत्रण में रक्खूं ?" इससे स्पष्ट है कि ये सब देश पहले भारतीयों द्वारा उपनिवेशों के रूप में बसाये गये थे, परन्तु पीछे इनकी अपनी मातृभूमि से सम्बन्ध कम होने की परिस्थिति बन गई ।

संस्कृत साहित्य मे चीन शब्द का प्रयोग बहुत स्थानो पर हुआ है। मनुस्मृति के अनुसार चीनी जाति के लोग भारतीय क्षत्रिय वर्ण के मनुष्य है। इस संदर्भ मे मनुस्मृति के श्लोक इस प्रकार है—

शनकैस्तु क्रिया लोपादिमा क्षत्रिय जातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात्॥
पौन्ड्र-काश्चौड़ द्रविड़ाः काम्भोजा यवना शका.।
पारदा. पल्लवाश्चीना. किराता घनदा खशाः॥

अर्थात पौण्ड्र, ओड़, द्रविण, कम्भोज, यवन, शक, पारद, पल्लव, चीनी, किरात, घनद, खश ये सब जातियाँ एक समय क्षत्रिय थी। दूर बसने के कारण ब्राह्मणो का इनसे सम्पर्क न रह सका और ये सब जातियाँ शूद्रत्व को प्राप्त हो गई।

महाकवि कालिदास निस्संदेह ईसा से पूर्व ही जन्मे थे। उन्होने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अभिज्ञान शाकुन्तल मे चीन देश से आये वस्त्र का जहाजो के पाल मे उपयोग किये जाने का उल्लेख किया है। चीन देश से आये सुन्दर वस्त्रो का सन्दर्भ कालिदास के समकालीन कवि रघुनन्दन ने भी अपने ग्रन्थ यात्रा तत्व मे दिया है। इन सन्दर्भो से विदित होता है कि प्राचीन काल मे भारत का चीन के साथ घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध था।

राजा पुरूरवा के पुत्र आयु की उत्पत्ति का वर्णन भारतीय और चीनी साहित्य मे बड़ी समानता रखता है। विष्णु पुराण के अनुसार बुध का यात्रा में इड़ा के साथ प्रणय हो गया जिससे पुरूरवा नाम के पुत्र की उत्पत्ति हुई। पुरूरवा का बड़ा पुत्र आयु था। चीनी साहित्य मे आह्यू को एक नक्षत्र का पुत्र लिखा है। यह नक्षत्र भी आह्यू की माता पर यात्रा में मोहित हुआ था। इसी चक्रवर्ती राजा ने चीनी राज्य के नौ भाग शासन की दृष्टि से किये थे। महाभारत मे उल्लेख है कि चीन देश पर भगदत्त नाम का राजा राज्य करता था जो महाभारत के युद्ध में कौरवों की ओर रहा।

ईरानी सभ्यता

ईरान का पुराना नाम आर्यस्थान था। ईरान मे भी सबसे पहिले भारतीय आर्य लोग जाकर बसे थे। पारसियो के ग्रन्थ जिन्दावस्ता मे जिसे वे ईश्वरीय ज्ञान मानते है बहुत स्थानो पर आर्य शब्द का उल्लेख आया है। उदाहरण स्वरूप कुछ वाक्य उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा।

"मज्दा के द्वारा प्राप्त आर्यों की ख्याति के कारण"

"हम आर्यों की कीर्ति के प्रति आहुति प्रदान करते हैं।"

"आर्यों की महिमा के कारण"

पहलवी भाषा में प्रयुक्त 'पहलवी' पल्हव का अपभ्रंश है। 'जिन्दावस्ता' छन्दोवस्था का अपभ्रश है। महाभारत मे पल्हव शब्द अनेकों बार प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन ईरानी लोग अपनी उत्पत्ति आर्यों से ही मानते हैं। गोरक्षा पारसियों मे भी उनके धर्मग्रन्थो के सम्मत है।

महाभारत काल तक भारत और ईरान का घनिष्ट सम्बन्ध था। ईरानियो की मातृभूमि भारत थी और यही कारण था उसके विश्वास, विचार और क्रियाओ का निर्माण भारतीय सभ्यता के आधार पर हुआ। पारसी धर्म ग्रन्थो में बहुत सी ऐसी बातें हैं जो प्रत्यक्ष रूप मे वेदों से ली गई हैं। 'आहुरमज्दा' असुरमेधा का अपभ्रंश है जेन्द भाषा की जननी निस्संदेह संस्कृत है।

उच्चारण के भेद से नीचे लिखे शब्दो में कितनी समानता है—

सस्कृत	जेन्द	सस्कृत	जेन्द
असुर	अहुर	सेना	हेना
सोम	होम	सप्त	हप्त
हस्त	ज़स्त	पिता	पिदर
माता	मादर	बाहु	बाजू
भ्राता	बिरादर	जानु	ज़ानू
दुहिता	दुख्तर	शत	सद
जामाता	दामाद	शुष्क	खुश्क
मास	माह	मित्र	मिथ्र
अश्व	अस्प	यम	यिम
क्षीर	शीर	यज्ञ	यस्न

कुछ शब्दो में कोई भेद ही नहीं है और दोनो भाषाओ में एक से हैं जैसे पशु, रथ, गंधर्व, वायु, दूर, खर, वैद्य, गाथा आदि।

यूनानी सभ्यता

यूनानी सभ्यता का उद्गम स्थान भी वैदिक सभ्यता है। महाकवि होमर का काव्य इलियड बाल्मीकि रामायण के आधार पर रचा गया है।

इलियड और रामायण दोनो महाकाव्य हैं और उनकी समानता अद्भुत है। राम को मैनिलस, सीता को हैलन, दशरथ को आर्गस, लंका को ट्राय, रावण को हैक्टर का नाम देकर इलियड का कथानक रामायण जैसा ही है। राम लक्ष्मण सदृश दो भाइयो का प्रेम, सीता की तरह मैनिलस की पत्नी हैलन का रावण रूपी हैक्टर द्वारा चुराया जाना इस बात को सिद्ध करते हैं कि इलियड रामायण का यूनानी संस्करण है। भारतीय महाकाव्य रामायण की लोक प्रियता विस्तृत आर्य संस्कृति के अनुकूल ही थी और इसी कारण होमर ने इलियड की रचना की। यूनान के दार्शनिक विचार भी भारतीय चिन्तन से मिलते जुलते हैं। हैरोडोटस, यूसेवियस, जेनोफेन्स, अरिष्टोफेन, आदि द्वारा प्रतिपादित यूनानी दर्शन स्पष्ट रूप से वेदो से प्रभावित है।

मिश्र की सभ्यता

अनेक पाश्चात्य विद्वानों का जिनमें बेसिस ब्रिज, जर्नस्ट्रेशना के नाम उल्लेखनीय है यह स्पष्ट मत है कि भारतीय सभ्यता के आध्यम से मिश्र मे सभ्यता का प्रसार हुआ। मिश्र के प्राचीन मन्दिरो की रचना भारत के प्राचीन मन्दिरो की तरह है। मिश्र के प्राचीन देवी देवता वैदिक सभ्यता के अनुसार थे। यूनानी विचारको का जिनमे प्लेटो, सोलन, पैथागोरस, फिलोस्ट्रेटस आदि प्रमुख हैं यही मत है कि मिश्र का धर्म भारतीय पद्धतियो पर आधारित था।

असीरियन सभ्यता

लगभग सो वर्ष हुए मैसोपोटामिया मे चाल्डी साहित्य के कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हुए है। पुरातत्व वेत्ताओ का यह मत है कि यह साहित्य ईसा से कम से कम ४००० वर्ष पुराना है। चूंकि कुछ इतिहासकार ऋग्वेद को ईसा पूर्व २५०० वर्ष का मानते हैं। अतः उनका कहना है कि ऋग्वेद के कुछ मन्त्र चाल्डी साहित्य पर आधारित हैं। परन्तु यह धारणा भ्रम मूलक हैं। ऋग्वेद मे वर्णित उपासना और प्रार्थना की पद्धतियो और प्रयुक्त शब्दों के अपभ्रंश चाल्डी साहित्य मे प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं और चूंकि ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रंथ है अतः उसी को चाल्डी साहित्य का उद्गम स्थान मानना चाहिये।

चाल्डी साहित्य का आधार वेद है। चाल्डी भाषी पश्चिमी एशिया के लोग सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति के ऋणी हैं।

स्पष्ट है कि असीरियन सभ्यता का विकास भारतीय सभ्यता के आधार पर हुआ। चाल्डी भाषा में प्रयुक्त निम्नलिखित शब्द उनके सामने दिये हुए संस्कृत शब्दों के अपभ्रंश मात्र हैं।

चाल्डी	संस्कृत	चाल्डी	संस्कृत
जहोवा	यह्व	अल्सीडा	अनायासा
मक्का	मोक्षस्थान	सैमिरैसिस	शमीरमादेवी

सुप्रसिद्ध अमेरिकन विद्वान् डाक्टर सेपियर वर्षों के परिश्रम के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि अमेरिका के उत्तरीय भाग में रहने वाले मूल निवासियों (Red Indians) की भाषा का विकास प्राचीन भारतीय और चीनी भाषाओं से ही हुआ है। उन्होंने आश्चर्य व्यक्त किया है कि प्रशान्त महा-महासागर के दोनो ओर के सुदूर तटों की भाषा में इतनी समानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे भारतीय और चीनी लोग स्थल मार्ग से भ्रमण करते हुए कैनेडा होकर अमेरिका पहुंचे और अमेरिका के मूल निवासियों ने उनसे सभ्यता में दीक्षा ली।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत का इतिहास प्रारम्भ हुए हजारों वर्ष व्यतीत हो चुके। इस देश की सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओ से भी पुरानी है। वेद दुनियां का सबसे प्राचीन साहित्य है। आर्य जाति सबसे प्राचीन और सभ्य जाति थी। भ्रमण करते हुए आर्य ही विश्व के अनेक स्थानों में फैले और आर्य जाति ने ही सभ्यता और संस्कृति की दीप शिखा प्रज्वलित की। भारतवर्ष से निकली हुई सभ्यता ने विश्व की अनेको सभ्यताओं को प्रभावित किया। प्राचीन काल में एशिया और योरुप के बहुत से प्रदेश भारत के उपनिवेश थे। उन उपनिवेशों मे भारत के पौराणिक देवी देवताओं की ही उपासना की जाती थी। वहां पर अनेको मन्दिरो के भग्नावशेष भी मिले हैं, जिनका निर्माण भूतकाल मे प्राचीन भारतीय प्रणाली पर हुआ था। हजारों वर्ष बाद भारत का उपनिवेशों और उनकी सभ्यता से सम्बन्ध कम होता गया। नये इस्लाम और ईसाई धर्म की बाढ में उन देशों की प्राचीन सभ्यताएँ बह गई। प्राचीन संसार की अनेक सभ्यताएं इस समय नष्ट हो चुकी हैं। मिश्र, असीरिया और बेबीलोनियां की सभ्यताओ के तो अब केवल नाम ही शेष रह गये है। मिश्र की जिस प्राचीन सभ्यता का हमने उल्लेख किया है उसके लोगो ने उन पिरामिडो का निर्माण किया जो आज भी विश्व के सात आश्चर्यों में गिने जाते हैं। मिश्र के वर्तमान निवासियों का उस

इलियड और रामायण दोनों महाकाव्य हैं और उनकी समानता अद्भुत है। राम को मैंनिलस, सीता को हैलन, दशरथ को आर्गस, लंका को ट्राय, रावण को हैक्टर का नाम देकर इलियड का कथानक रामायण जैसा ही है। राम लक्ष्मण सदृश दो भाइयों का प्रेम, सीता की तरह मैंनिलस की पत्नी हैलन का रावण रूपी हैक्टर द्वारा चुराया जाना इस बात को सिद्ध करते हैं कि इलियड रामायण का यूनानी संस्करण है। भारतीय महाकाव्य रामायण की लोक प्रियता विस्तृत आर्य संस्कृति के अनुकूल ही थी और इसी कारण होमर ने इलियड की रचना की। यूनान के दार्शनिक विचार भी भारतीय चिन्तन से मिलते जुलते है। हैरोडोटस, यूसेवियस, जेनोफेन्स, अरिष्टोफेन, आदि द्वारा प्रतिपादित यूनानी दर्शन स्पष्ट रूप से वेदो से प्रभावित है।

मिश्र की सभ्यता

अनेक पाश्चात्य विद्वानो का जिनमे बेसिस ब्रिज, जर्नस्ट्रेशना के नाम उल्लेखनीय हैं यह स्पष्ट मत है कि भारतीय सभ्यता के आध्यम से मिश्र मे सभ्यता का प्रसार हुआ। मिश्र के प्राचीन मन्दिरो की रचना भारत के प्राचीन मन्दिरो की तरह है। मिश्र के प्राचीन देवी देवता वैदिक सभ्यता के अनुसार थे। यूनानी विचारको का जिनमे प्लेटो, सीलन, पैथागोरस, फिलोस्ट्रेटस आदि प्रमुख है यही मत है कि मिश्र का धर्म भारतीय पद्धतियो पर आधारित था।

असीरियन सभ्यता

लगभग सौ वर्ष हुए मैसोपोटामियां मे चाल्डी साहित्य के कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। पुरातत्व वेत्ताओ का यह मत है कि यह साहित्य ईसा से कम से कम ४००० वर्ष पुराना है। चूंकि कुछ इतिहासकार ऋग्वेद को ईसा पूर्व २५०० वर्ष का मानते हैं। अतः उनका कहना है कि ऋग्वेद के कुछ मन्त्र चाल्डी साहित्य पर आधारित हैं। परन्तु यह धारणा भ्रम मूलक हैं। ऋग्वेद मे वर्णित उपासना और प्रार्थना की पद्धतियो और प्रयुक्त शब्दों के अपभ्रंश चाल्डी साहित्य मे प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं और चूंकि ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रंथ है अतः उसी को चाल्डी साहित्य का उद्गम स्थान मानना चाहिये।

चाल्डी साहित्य का आधार वेद है। चाल्डी भाषी पश्चिमी एशिया के लोग सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति के ऋणी हैं।

स्पष्ट है कि असीरियन सभ्यता का विकास भारतीय सभ्यता के आधार पर हुआ। चाल्डी भाषा में प्रयुक्त निम्नलिखित शब्द उनके सामने दिये हुए संस्कृत शब्दों के अपभ्रंश मात्र हैं।

चाल्डी	संस्कृत	चाल्डी	संस्कृत
जहोवा	यह्व	अलसीडा	अनायासा
मक्का	मोक्षस्थान	सैमिरेसिस	शमीरमादेवी

सुप्रसिद्ध अमेरिकन विद्वान् डाक्टर सेपियर वर्षों के परिश्रम के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अमेरिका के उत्तरीय भाग में रहने वाले मूल निवासियों (Red Indians) की भाषा का विकास प्राचीन भारतीय और चीनी भाषाओं से ही हुआ है। उन्होंने आश्चर्य व्यक्त किया है कि प्रशान्त महा-महासागर के दोनों ओर के सुदूर तटो की भाषा मे इतनी समानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में भारतीय और चीनी लोग स्थल मार्ग से भ्रमण करते हुए कैनेडा होकर अमेरिका पहुँचे और अमेरिका के मूल निवासियो ने उनसे सभ्यता में दीक्षा ली।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत का इतिहास प्रारम्भ हुए हजारों वर्ष व्यतीत हो चुके। इस देश की सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओ से भी पुरानी है। वेद दुनियाँ का सबसे प्राचीन साहित्य है। आर्य जाति सबसे प्राचीन और सभ्य जाति थी। भ्रमण करते हुए आर्य ही विश्व के अनेक स्थानों में फैले और आर्य जाति ने ही सभ्यता और संस्कृति की दीप शिखा प्रज्वलित की। भारतवर्ष से निकली हुई सभ्यता ने विश्व की अनेकों सभ्यताओं को प्रभावित किया। प्राचीन काल में एशिया और योरुप के बहुत से प्रदेश भारत के उपनिवेश थे। उन उपनिवेशो में भारत के पौराणिक देवी देवताओ की ही उपासना की जाती थी। वहाँ पर अनेकों मन्दिरो के भग्नावेष भी मिले हैं, जिनका निर्माण भूतकाल मे प्राचीन भारतीय प्रणाली पर हुआ था। हजारो वर्ष बाद भारत का उपनिवेशों और उनकी सभ्यता से सम्बन्ध कम होता गया। नये इस्लाम और ईसाई धर्म की बाढ में उन देशों की प्राचीन सभ्यताएँ बह गई। प्राचीन संसार की अनेक सभ्यताएँ इस समय नष्ट हो चुकी हैं। मिश्र, असीरिया और बैबीलोनियाँ की सभ्यताओ के तो अब केवल नाम ही शेष रह गये हैं। मिश्र की जिस प्राचीन सभ्यता का हमने उल्लेख किया है उसके लोगो ने उन पिरामिडों का निर्माण किया जो आज भी विश्व के सात आश्चर्यों में गिने जाते हैं। मिश्र के वर्तमान निवासियों का उम

प्राचीन सभ्यता से कोई सम्बन्ध नही है। उनके देवी देवता केवल खुदाई में ही मिलते हैं। इसी प्रकार असीरिया और बेबीलोनियां की सभ्यताऐं भी अब केवल पुरातत्त्व का विषय मात्र रह गई हैं। इन प्राचीन सभ्यताओ के बाद यूनान और रोम की सभ्यताऐं विकसित हुई। वे भी अब नष्ट हो चुकी हैं। आज प्राचीन यूनानी या रोमन धर्मों का अनुयायी कोई भी नही है। जो चिन्तन शैली प्राचीन लोगो को प्राकृतिक शक्तियो और देवी-देवताओ की उपासना करने के लिये प्रेरित करती थी उसका आज के रोमन लोगों के लिए कोई महत्व नही है।

प्राचीन सभ्यताओ के विनाश की इस पृष्ठ भूमि में भारत की प्राचीन सभ्यता और सस्कृति हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने पर आज भी पहिले की तरह प्रकाशमान है। भारत मे अब भी वैदिक धर्म लहलहा रहा है। वेद पुराणो की महिमा यहां आज भी अक्षुण्ण है। उपनिषदों और गीता का ज्ञान आज भी असख्य लोगो की प्रेरणा का श्रोत है। भारतीय धर्म, संस्कृति एव सभ्यता शाश्वत और अमर हैं।

वेद और उनका साहित्य

वैवस्वत मनु से महाभारत के युद्ध तक राजवशों की ९५ पीढियो का वर्णन पुराणो से उपलब्ध होता है। सामान्यतया इन राजवंशों की ३६ पीढियां समाप्त होने पर वैदिक मन्त्रों का निर्माण आरम्भ हुआ। मनु से लेकर अनेक पीढ़ियां राज्य कर चुकी और भारत मे आर्यों का राज्य व्यवस्थित हो गया तब ऋषियो की एक परम्परा ने वैदिक मन्त्रों की रचना करना आरम्भ कर दिया। जो मन्त्र श्रुति द्वारा चले आते थे उनका संकलन कर उन्हे वेदों का रूप दिया गया। वैदिक मन्त्रों के सकलन का नाम सहिता है जिस रूप मे कि वे आज विद्यमान हैं। चारो वेदों का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

ऋग्वेद—ऋग्वेद के प्रधान ऋषि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि भारद्वाज और वशिष्ठ हैं। ये ऋषि सात मण्डलो से सम्बन्धित हैं। आठवें मण्डल के ऋषि कण्व और अङ्गिरस हैं। सूक्तों के निर्माता वैवस्वत मनु, शिव औशीनर, प्रतर्दन, मधुच्छन्दा और देवापि प्रधान हैं।

यजुर्वेद—यजुर्वेद दो प्रकार का है। शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी संहिता भी कहते है। इसकी दो शाखाएँ हैं

(१) कण्व (२) माध्यन्दिनीय। कृष्ण यजुर्वेद चार शाखाओं विभाजित है। (१) काठक संहिता (२) कपिष्ठल संहिता (३) मैत्रेयी संहिता (४) तैत्तिरीय सहिता। उपरोक्त सब संहिताओं मे वाजसनेयी सहिता सबसे अधिक मान्यता प्राप्त है। वस्तुतः पण्डित जन उसे ही यजुर्वेद मानते हैं।

सामवेद—सामवेद की तीन शाखाएं हैं। (१) कौथुम शाखा। (२) राणायनीय शाखा (३) जैमिनीय शाखा। इन शाखाओं में कौथुम शाखा अधिक महत्वपूर्ण है और वही प्रचलित है। सामवेद में बहुत से मन्त्र ऐसे हैं जो ऋग्वेद में भी आ चुके हैं। सामवेद के मन्त्रों को गीत के रूप में गाया जा सकता है।

अथर्ववेद—अथर्ववेद की दो शाखाएं हैं। (१) शौनक और (२) पिप्पलाद। अथर्ववेद की शौनक शाखा अधिक प्रामाणिक है। अथर्ववेद मे ७३१ सूक्त हैं।

ऋषि का अर्थ है मन्त्र द्रष्टा। वैदिक पद्य का अर्थ है ऋक या ऋचा। वैदिक गद्य को यजुष् कहते है। गीतात्मक छन्द को साम कहते हैं। ऋचा, यजुष् और साम को सूक्त कहते हैं वेदों के सूक्त वस्तुतः ऋचाओं और सामों के समूह ही हैं।

वेदो के साथ ब्राह्मण ग्रन्थो का वर्णन करना भी उपयुक्त है। ऋग्वेद का ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण है। यह ग्रन्थ भी महिदास ऐतरेय द्वारा सकलित है। श्रुति के आधार पर इसका भी सकलन हुआ है।

शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ है और कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय। ये दोनों विशाल ग्रन्थ हैं और इनमे याज्ञिक अनुष्ठानो की विधियाँ हैं।

सामवेद के तीन ब्राह्मण हैं, ताण्ड्य महाब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण। ये तीनों ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणो की अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन हैं।

अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ है।

प्राचीन वैदिक काल में ऋषिगण वनों मे आश्रम बनाकर अध्यात्म चिन्तन किया करते थे। बहुत से राजा लोग भी सासारिक कार्यों से निवृत्त होकर वन मे निवास करते और याज्ञिक अनुष्ठानों के साथ आध्यात्म चिन्तन किया करते थे। आश्रम-वासी कई राजा मन्त्रदृष्टा ऋषि हुए हैं। राजा देवापि प्रख्यात मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे। अगस्त्यपत्नी लोपामुद्रा प्रसिद्धनामा महिला ऋषि थी। इस अध्यात्म चिन्तन के परिणाम स्वरूप आरण्यक एव उपनिषदों की उत्पत्ति हुई। आरण्यक और उपनिषद् भी एक प्रकार से वेदों के अङ्ग हैं।

ऐतरेय उपनिषद्, ईशोपनिषद्, केन, और छान्दोग्य उपनिषद् अधिक प्रसिद्ध हैं। ये उपनिषद् पहिले तीन वेदों से सम्बन्धित हैं। मुण्डक उपनिषद्, प्रश्न उपनिषद और माण्डूक्य उपनिषद् का अथर्ववेद से सम्बन्ध है।

आरण्यक और उपनिषदों का निर्माण वैदिक सूक्तों के बाद हुआ। इनमें अध्यात्म-चिन्तन के अतिरिक्त राजवंशों के उपाख्यानों के रूप में बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री भी है। दार्शनिक विचारों और अध्यात्म चिन्तन की दृष्टि से आरण्यकों और उपनिषदों का अत्यधिक महत्व है।

ऋग्वेद में वर्णित मानव-जीवन बड़े आनन्द और आल्हाद का है। ऋग्वेद के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में गहन मतभेद है। मैक्समूलर के मत से ऋग्वेद के निर्माण का समय १०००—१२०० वर्ष पहिले का है। मैकडानल और कीथ भी कुछ ऐसी ही बात कहते हैं। जर्मन विद्वान् जैकोबी ज्योतिष के प्रमाणों के आधार पर कहते हैं कि ऋग्वेद ईसा से ४००० वर्ष पहिले बना। लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक ऋग्वेद की रचना ईसा से ८००० वर्ष पूर्व की बतलाते हैं।

ऋग्वेद की भाषा सुन्दर सुसंस्कृत और समुन्नत है। ऋग्वेद में वर्णित सभ्यता तो स्वभावतः ऋग्वेद के निर्माण से भी बहुत पुरानी है। वह बड़ी उच्च कोटि की है और उसे इस अवस्था तक विकसित होने में अनेक शताब्दियाँ लगी होंगी। यह सभ्यता जिस जाति की है उसको ऋग्वेद ने स्वयं 'आर्य' कहा है। ऋग्वेद से प्रगट है कि आर्य लोग कहीं बाहर से आकर भारत के उत्तर प्रदेश और गङ्गा जमुना के दुआब में बस गये। ऋग्वेद में यमुना नदी तक के ही वनों, पक्षियों और प्राकृतिक दृश्यों के सौन्दर्य का वर्णन है। ऋग्वेद के मन्त्रों में वितस्ता, असिक्नी, परुष्णी, विपाश और शुतुद्री नदियों का अनेकों बार उल्लेख आया है। ये नदियाँ पंजाब की क्रमशः झेलम, चिनाव, रावी, व्यास और सतलज वर्तमान नदियाँ हैं। ऋग्वेद में पुरु, तुर्वशस्, यदु, अनु, द्रुह्यु आदि पाँच जनों का उल्लेख बहुतायत से आया है। इससे प्रकट है कि उस समय आर्यगण बहुत से जनों में विभाजित थे। इनके अतिरिक्त भरत, गंधार और उशीनरस् जनों का उल्लेख भी ऋचाओं में आया है। ऋग्वेद की ऋचाओं में आर्यों से अनार्य जाति के संघर्ष का भी उल्लेख है यद्यपि अनार्य लोगों की सभ्यता भी उच्च स्तर की थी तथापि वे आर्यों के उत्कृष्ट जीवन दर्शन की समता न कर सकते थे। पारस्परिक संघर्ष में अनार्यों की पराजय हुई और आर्यों की विजय यद्यपि अनार्यों ने विकट संग्राम छेड़ा था उनको अन्त में आर्यों से हार माननी पड़ी। उन्होंने आर्यों की दासता स्वीकार कर ली। सम्भवतः निम्न वर्ण की जातियाँ इन्हीं अनार्यों की थी। कुछ समय उपरान्त

आर्य और अनार्य जातियाँ घुल-मिलकर एक हो गई, ऊँच नीच का भेद जाता रहा। दोनों की सम्मिलित एक संस्कृति बनी। आर्य सभ्यता ने अनार्य सभ्यता पर प्रभाव डाला और इसी प्रकार आर्य सभ्यता अनार्य सभ्यता से प्रभावित हुई।

दुर्भाग्यवश ऋचाओं से पूरी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नही होती है। जीवन निर्वाह के दो साधन थे। (१) कृषि (२) पशुपालन। ऋग्वेद के समय भारत की जलवायु इतनी गर्म न थी। यहाँ का मौसम उस समय ठण्डा और सुहावना था और इसी कारण ठण्डे देशों से आये हुए आर्यों को वह अनुकूल सिद्ध हुआ। उस समय सरस्वती नदी का अस्तित्व था और रेगिस्तान न होकर जंगलों की बहुतायत थी। समय व्यतीत होने पर सरस्वती के लोप होने और रेगिस्तान के बढ़ने से यहाँ की जलवायु गर्म होती गई और जन-जीवन में ऋग्वेद के समय का सा आनन्द न रहा। वर्षा भी समय पर न होकर कभी-कभी अपर्याप्त होने लगी। परिणाम स्वरूप लोग दैव से भयभीत होकर निराशा के भावों से पीड़ित होने लगे। ऋग्वेद के समय का सा अपूर्व उल्लास कालान्तर में कम होता गया।

'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता' नाम की अपनी पुस्तक मे डा० बेनीप्रसाद ऋग्वेद काल के जीवन के सम्बन्ध में लिखते हैं, "ऋग्वेद के समय जैसा उल्लास और सामाजिक स्वातन्त्र्य था वैसा हिन्दुस्तान में फिर कभी न देखा गया। प्रेम और प्रसन्नता के भाव में आर्य लोग आनन्द से जीवन बिताते थे, परलोक की बहुत चिन्ता न थी, तप का कोई विचार न था, खान-पान की कोई रोक-टोक न थी। मांस भोजन की प्रथा सब लोगो में प्रचलित थी। सुरा और सोम खूब पिये जाते थे। जर्मनो की तरह हिन्दू आर्य भी जुआ बहुत खेलते थे। नाच गाने का शौक बहुत था। खुले मैदान मे स्त्री पुरुष बड़े चाव से नाचा करते थे। गान विद्या की बहुत उन्नति हो चुकी थी। सितार, बांसुरी, ढोल वगैरह प्रचलित थे। रथों की अक्सर दौड़ होती थी। आदि।"

वेदों में प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री और उसका महत्व

वेदों के रचना काल के विषय में मतभेद है। धार्मिक भावना के वशीभूत होकर हमारी मान्यता है कि वेद अनादि हैं। इसमे तो कोई सन्देह ही नहीं कि ये प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। परन्तु इनका निर्माण काल तो इन्हीं मे दिये हुए विवरणों से विदित है। ऐसे अनेक दृष्टांत हैं जिनमें मन्त्रकार मन्त्र के निर्माण के विषय मे स्वयं कहता है। वैदिक ऋचाओं में मनुष्यों और

का वर्णन है। यदि वेद अनादि काल से चले आते हैं तो आगे पीछे वाले मनुष्य कहाँ से आ गए। घटनाओं का भी तो कालक्रम है इससे स्पष्ट है कि वेदों के निर्माण का भी एक काल है।

ऋग्वेद सबसे पुराना है। वेदों का सविस्तर वर्णन ऋग्वेद से ही प्राप्त होता है। ऋग्वेद में दस मण्डल हैं। इनमें पहला और दसवां मण्डल बड़े हैं। प्रत्येक मण्डल में बहुत से सूक्त हैं और प्रत्येक सूक्त में अनेक ऋचाएँ हैं। अधिकतर सूक्तों में १२ से १४ तक ऋचाएँ हैं। छोटे-छोटे सूक्त ऐसे भी हैं जिनमें प्रत्येक ४–६ ऋचाओं का ही है। एक सूक्त में ५२ ऋचाएँ हैं। सूक्त छन्दों में लिखे गए हैं। इन छन्दों में गायत्री, अनुष्टुप्, जगती, बृहती, सतो बृहती, द्विपदी, विराज और अन्येष्टि अधिकतर प्रयुक्त हुए हैं। कुछ अन्य प्रकार के छन्द भी हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में १९१ सूक्त हैं। इन १९१ सूक्तों के २५ कवि हैं। इनमें केवल २ कवि एक के और ५ कवि एक अन्य सूक्त के हैं। इस प्रकार मुख्यतया इस मण्डल के १८ कवि ही कहे जा सकते हैं।

इस मण्डल में जितने मन्त्र हैं उनमें कथायें नहीं हैं केवल विनतियाँ हैं और उन विनतियों में ही मनुष्यों के नाम आ गए हैं। मुख्यतः देवताओं ही के वर्णन हैं। इन वर्णनों में पुनरावृत्ति बहुत है परन्तु प्रत्येक पुनरावृत्ति में कुछ नूतनता है। प्रथम मण्डल के १९१ सूक्तों में पृथक्-पृथक् देवताओं आदि के विषय में मन्त्र संख्या इस प्रकार है—

अग्नि ४५, आप्री २, वायु १, मरुत १२, आश्विन १५, इन्द्र ४३, विश्वेदेवस ८, बृहस्पति २, ऋभु ४, वरुण १, पूषन् २, रुद्र १, उषस् ६, सूर्य १, सोम २, स्वनय २, विष्णु २, अश्व २, रति १, इन्द्रवरुण १, अग्निमरुत १, इन्द्र अग्नि ३, अग्निसोम १, वायुइन्द्र १, मित्रवरुण ५, विष्णुइन्द्र १, आकाश पृथ्वी ३, इन्द्रमरुत ३, इन्द्र विश्वेदेवस १, इन्द्रइन्दु १, इन्द्रपर्वत १, वरुण अग्नि सविता १ और सूर्य १।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में मन्त्रकार ऋषियों के अतिरिक्त निम्नलिखित मनुष्यों का नामोल्लेख है—मनु, नहुष, इला, ययाति पुरूरवस्, दिवोदास, रस, तृक्षोक, मान्धाता, उग्रदेव, यदु, तुर्वसु, अनु, पुरु, द्रुह्यु, भृगु, बृहद्रथ, तुर्वीति, अतिथिग्व, मर्यात, सुश्रव, तुर्वयान, नरय, पुरुवशी, भरद्वाज, पुरुमीथ, पुरुकुत्स, वन्दन, अथर्वण, दधीचि, ऋजिस्वन, अन्तक, भुज्यु, करकन्ध के पुत्र, वय्य, सुचन्ति, पृश्निगु, परावृज, वशिष्ठ, वभ्रु, श्रुतर्य्य, विस्पला, वसु, कलि, पृथि, सयु, सुदेवी (सुदास की पत्नी), अध्रिगु, सुभर, ऋतस्तुत, कुत्स, ध्वसान्ति, पुरुशान्ति, अधास्व, च्यवन, हिरण्यहस्त, शैलाराज, जह्नु, ऋचत्क, सर, विश्वक,

विश्नायु, घोषा, नृश, कण्व, स्वनय, मसरसार, आयावस, भाव, पुरुमील्ह, दीर्घतमस् तृणस्कन्द। इन मनुष्यो के विषय मे कोई कथाएँ नही हैं परन्तु विनतियों में प्रसङ्गवश इनके नाम यत्र-तत्र आये है। इनमें से अनेक व्यक्ति पौराणिक कथाओं के पात्र भी है। जो नाम वेद और पुराणों मे सामान्य हैं वे इतिहास निर्माण की दृष्टि से एक उत्कृष्ट समन्वय प्रस्तुत करते हैं।

आर्यों के शत्रुओं के अथवा जिनसे आर्यों को लड़ना पड़ा था उनके नाम भी ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में आये हैं यथा वृत्त की माता दनु, पिप्रु, सुश्ना, सम्बर, अर्बुद, नमुचि, करंज, परनय, वगृद, बल, पणि, ९९ वृत्त, व्यस, अहि, रौहिनि, कुप्व, तुग्र और वैतन। इनमे से वंगृद के सौ दुर्ग इन्द्र ने तोड़े थे। ९९ वृत्तो को इन्द्र ने दधीचि की हड्डी से बने वज्र से मारा था। वैतन ने दीर्घ तमस के साथ द्वन्द्व युद्ध किया था।

वेदों के मन्त्रों से तत्कालीन सामाजिक स्थिति का वर्णन भी उपलब्ध होता है और ऐतिहासिक तथ्य भी। इस मण्डल में यह बात आई है कि आर्यों के पांच मुख्य दल थे जिनके प्रधान पुरुष थे यदु, तुर्वसु, अनु, द्रुह्य और पुरु। ये पाँचों ही सम्राट ययाति के पुत्र थे ऐसा पुराणों में लिखा है।

ऋग्वेद में अनार्यों के प्रति कटुभाषा का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद काल में आर्यों को भारत के आदिवासियो से बड़े प्रतिरोध का सामना करना पड़ा था। आदिमवासियों ने एक-एक इञ्च पर संघर्ष किया था। आर्यों के शत्रुओं से युद्धों का उल्लेख विद्यमान है। आर्यो के शत्रु वेदों को नही मानते थे। परन्तु इनकी सभ्यता काफी उन्नत थी। इनके पास सौ-सौ किले होने की बात आई है। ये लोग दास, दस्यु, सिम्यु आदि नामो से कहे जाते थे। सदैव इन लोगों की हार ही दिखाई गई है। सुश्न, पिप्रु, वृत्त, कुयव और सम्बर के दुर्ग थे जिन्हें इन्द्र ने नष्ट किया। कुयव के मरने पर उसकी दोनों स्त्रियो ने विलाप किया परन्तु आर्यो को दया न आई। वे फिर भी यही चाहते थे कि ये स्त्रियाँ नदी में डूबकर मृत्यु का आलिगन कर लें तो अच्छा है। उनकी कुयव से विकट शत्रुता थी। अनार्य लोग आर्यों को नदी पार करने में बड़ी बाधायें डालते थे। अतः आर्यों को नदी पार करने के लिए जलयान बनाने पड़े। ऋग्वेद में उल्लेख है कि सौ पतवारों के जहाज होते थे।

उस काल में जङ्गलो की बहुतायत थी। अग्नि द्वारा जङ्गलो को जलाकर जङ्गली भूमि को कृषि योग्य बनाये जाने के उल्लेख है। इन्द्र दुर्गों के विध्वंस कर्त्ता थे। रथों पर बैठकर युद्ध होते थे। ऋत्विजों को भी लूट का माल मिलता था। सेनाओं का वर्णन है। अश्वमेध यज्ञ, सर्पदंश पर

साबर मन्त्र आदि का उल्लेख है। नदियों का जहाँ कहीं वर्णन आया है वहाँ सतलज, व्यास, रावी, चिनाव, झेलम, सरस्वती और सिन्धु नदियों में से ही किसी न किसी का उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक काल में आर्य लोग पंजाब में ही रहते थे। गंगा, यमुना, कृष्णा, नर्मदा आदि का उल्लेख नहीं है।

प्रथम मण्डल मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि का उल्लेख नहीं है। असुर शब्द का प्रयोग देवताओं के लिए किया गया है। आर्य और दस्यु दो ही प्रकार की जातियों का वर्णन है।

ऋग्वेद के प्रथम मंडल के बाद उसके अन्य मडलो पर भी संक्षिप्त रूप से विचार करना समीचीन है।

ऋग्वेद का दूसरा मण्डल

इसमें प्रधानतया इन्द्र की विजयो का वर्णन है। इससे विदित होता है कि इस मण्डल के काल में आर्यों के राक्षसों, असुरों और दस्युओं से अनेक युद्ध हुए। अनेक दुर्गों के ध्वस्त किये जाने के वर्णन है। इस मण्डल के मन्त्रकार है गृत्समत, सोमाहुत और कूर्म। कूर्म गृत्समत के पुत्र थे।

तीसरा मण्डल

यह विश्वामित्र का मण्डल है। इनके अतिरिक्त कुछ सूक्त अन्य ऋषियो के भी हैं। जैसे ऋषभ के २, उत्कील २, कठ २, गाथिन् ४ तथा देवश्रमण, देवव्रत और प्रजापति का एक-एक। ये ऋषिगण विश्वामित्र के ही वंशज पुत्र पौत्रादि थे। विश्वामित्र और वसिष्ठ की शत्रुता, जमदग्नि का विश्वामित्र को सहायता देना, विश्वामित्र का सुदास के साथ रहना, विश्वामित्र के मन्त्रों से भरतो के वंश को प्रसन्नता होगी आदि वर्णन इस मण्डल मे आये हैं। इस मडल के विश्वामित्र और जमदग्नि सम्बन्धी उल्लेखों से पौराणिक गाथाओ की पुष्टि होती है।

चौथा मण्डल

इस मण्डल के ऋषि गौतम पुत्र वामदेव हैं। इसमें ५८ सूक्त हैं। इसमे त्रसदस्यु, पुरमीह्ल और अजमील्ह ने भी सूक्त बनाये हैं। अग्नि और इन्द्र की स्तुति है। इन्द्र ने मृगय और पिप्रु के ५०००० सहायकों को मौत के घाट उतारा। सरयू के किनारे अर्न और चित्ररथ को भी मारा। इन्द्र ने अहि को मार कर सातो नदियां खोल दीं। इस मण्डल में राजा पुरु और त्रसदस्यु का उल्लेख है।

पाँचवां मण्डल

इसके सूक्तों की सख्या ८७ है। इस मण्डल के सूक्तकार अत्रिवंशी ऋषि-गण हैं। इस मण्डल में अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेवस, मरुत, मित्रावरुण और आश्विन

का वर्णन है। अग्नि ने शुनः शेप की रक्षा की। पुराणों में सूर्यवंशी राजा हरिश्चन्द्र के काल में शुनः शेप की कथा का उल्लेख है। पृथ्वी घूमती है यह इस मण्डल में लिखा है। पुरुमीढ़ के विषय में लिखा है कि ये एक ऋषि थे। इस मण्डल में सुचद्रथ के पुत्र सुनीथ और भारतों का वर्णन आया है। त्रसदस्यु कई राजाओं के लिए आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कुछ राजाओं की उपाधि थी। अग्नि उसिज के पुत्र कक्षीवान के पुरोहित थे। परुष्णी (रावी) नदी और उसके किनारे रहने वाले पारावत लोगों का वर्णन है। काबुल नदी उस समय कुम्भी कहलाती थी। सरजू नदी का भी नाम आया है परन्तु उस समय पंजाब में भी सरजू नाम की नदी थी।

छठा मण्डल

इस मण्डल के ऋषि मुख्यतया भरद्वाज हैं। कुछ अन्य ऋषि भी इस मण्डल के सूक्तकार हैं। सूक्तों की संख्या ७५ है जिनमें ४३ अकेले भरद्वाज ने गाये हैं। इसमें पुनः इन्द्र, अग्नि, विश्वेदेवस, पूषन, उषस् आदि की स्तुतियां हैं। इस मण्डल में भी प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री है। एक सूक्त मे गौओं का वर्णन है। उसमें कहा गया है कि वे अवध्य हैं और भग, सोम और इन्द्र के सदृश हैं। अदन के विषय मे कहा गया है कि वह एक राक्षस था। अथर्वण ने अग्नि को बाहर निकाला और उनके पुत्र दधीचि ने अग्नि प्रज्वलित की। दिवोदास का दूसरा नाम तूर्यवान है। कुत्स, आयु और अतिथिग्व इन्द्र से पराजित हुए। इन्द्र ने नमि और पुरुकुत्स की रक्षा की, मनु को दस्युओं से अधिक बलशाली बनाया तथा नहुष और दिवोदास को बल प्रदान किया। इस मण्डल में गंगातट का उल्लेख है तथा राजावशी, दक्ष, द्रुह्यु और पुरु के नाम आये हैं। शम्बर के दुर्गों का जिक्र है। नहुष वंशी पराक्रमी कहे गये हैं। प्रस्तोक दिवो दास, अतिथिग्व, आश्वथ और शृंजय पुत्र एक ही व्यक्ति के नाम कहे गये हैं। सरस्वती और पंजाब की अन्य नदियों का उल्लेख है।

सातवाँ मण्डल

इस मण्डल में १०४ सूक्त हैं इनमें २६ मैत्रावरुणि ऋषि के तथा शेष वशिष्ठ के हैं। इस मण्डल में सुदास की महिमा बहुत गाई गई है।

जरूथ ने अग्नि को जलाया, नहुष वंशियो को हरा कर उन्हें सुदास को कर देने को बाध्य किया। सुदास की अनेक विजयो का इस मण्डल में उल्लेख है। सुदास इक्ष्वाकु वंश में ५२ वीं पीढ़ी पर अयोध्या के राजा थे। इस मण्डल में तुर्वसु, परोदास, भृगु और द्रुह्यु गण को सुदास का वशवर्ती लिखा है। पक्थ, भलान, अलिन, शिव, निशात, लोगों ने एका करके सुदास से युद्ध

सुदास, मान्धाता, पृथुकेतु, ऋषभ, चाक्षुष, ध्रुव, शिवि, और जय प्रमुख हैं। ऋषियों मे कई देवताओं के नाम भी हैं। सम्भव है अग्नि, प्रजापति और विश्वकर्मा नाम के मनुष्य भी हों। ये नाम ऋषियों में लिये हैं।

मन्त्रकारों में राम और लव के नामों के सम्मिलित होने से कुछ इतिहासकारों का मत तो यह है कि इक्ष्वाकु वंशी भगवान राम और उनके पुत्र लव के अतिरिक्त ये दोनों महानुभाव उन्ही के नाम के अन्य ऋषियुगल हैं परन्तु कुछ अन्य इतिहासकारों का मत है कि ऋग्वेद का निर्माण एक लम्बी प्रक्रिया है जो शताब्दियों तक चलती रही थी और समय समय पर इसमें विषय वस्तु का समावेश होता रहा था। सम्भव है राम के समय के कुछ मन्त्र भी उसमें पीछे सम्मिलित किये गये हो।

इस मण्डल मे देवताओं की स्तुतियो के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी सूक्त हैं। ये विषय ऐसे हैं जिनसे तत्कालीन सामाजिक दशा का अध्ययन *बखूबी हो सकता है। उदाहरण के लिए जिन विषयों पर सूक्त हैं वे हैं*—जल, पितृ, मृत्यु, गाय, द्यूत, कृषि, जीवात्मा, वनौषधि, सुबन्धु का पुनर्जीवन, सावर्ण्य की उदारता, सूर्या के विवाह पर आशीर्वाद, इन्द्र के अश्व, अरण्य, श्रद्धा, नव जीवन, दुर्भाग्य से रक्षा, गर्भपात और दुःस्वप्न।

यह मण्डल भी दस्युओं के अस्तित्व की चर्चा करता है। दस्युओं के विषय मे कहा गया है कि वे अन्य धर्मावलम्बी हैं और यज्ञो को नही करते।

इस मण्डल के कुछ अन्य इतिहास-सूत्र इस प्रकार हैं। दुह्शासु एक शत्रु राजा था जिसने त्रसदस्यु के पौत्र कुरुश्रवण को परास्त किया था। दिवोदास से युद्ध मे गागव पगस्त हुए और मारे गये। श्रुतर्वण ने मृगय और साल्व को पराजित किया। मध्यदेश में उशीनर रहते थे। इक्ष्वाकु के राजा होने और मनु के दानी होने का उल्लेख है। ययाति नहुष के पुत्र थे। पहिले मण्डलों में तो पजाब की नदियो का ही उल्लेख है परन्तु दसवें मण्डल में गगा और यमुना के भी नाम आये हैं। पुरूरवा की स्त्री उर्वशी थी और राजा उससे बहुत प्रेम करते थे, यह वृत्त आया है। उर्वशी के विषय में कहा गया है कि उसका प्रेम राजा के प्रति उतना न था। शान्तनु को देवापि ने यज्ञ कराया। *वैदिक काल के शान्तनु महाभारत काल के शान्तनु से भिन्न है कारण वैदिक* काल के शान्तनु के पिता का नाम ऋसतसेन लिखा है और महाभारतकालीन शान्तनु और देवापि दोनों भाई थे जिनके पिता का नाम प्रतीप था।

इस मण्डल में जल की महिमा गाई गई है। उसे शक्तिप्रदायक, पुत्रोत्पादक और स्वास्थ्य-कारक कहा गया है। यह भी उल्लेख है कि पानी

में सब औषधियों का सार है। ऋग्वेद के ऋषियों का आयुर्वेदिक ज्ञान बहुत ऊँचा था।

ऋग्वेद में वर्णित घटनाएँ महान् ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध कराती हैं। यद्यपि इनसे क्रमबद्ध इतिहास लिखा जाना सम्भव नही है तथापि इनसे पुराणो मे उपलब्ध सामग्री की पुष्टि होती है। वेद और पुराणों की ऐतिहासिक सामग्री को समन्वित करके शुद्ध इतिहास का निर्माण सम्भव है। कुछ विद्वानो ने इसका प्रयास किया है परन्तु जितनी अधिक गवेषणा की जायगी उतने ही उसके शुभ परिणाम निकलेंगे।

सामवेद

इसके दो भाग हैं। पहिले में ६ काण्ड और दूसरे में ९ हैं। एक-एक काण्ड की कई-कई काण्डिकाएँ भी हैं जिन्हें सूक्त कह सकते हैं। सामवेद में कुल ४५९ सूक्त हैं। कुछ को छोड़कर सभी ऋग्वेद से लिये गये हैं।

सामवेद मे विशेपतया सोमपवमान का वर्णन है। इन्द्र, अग्नि, उषा, आश्विन के भी कुछ वर्णन हैं। जल, वात और वेन के विषय में भी कहा गया है।

इस वेद की कुछ ऋचाएँ वैवस्वत मनु की भी हैं। जिन दधीचि की अस्थियो से वज्र बनाया गया था वे वेदो में अथर्वण ऋषि के पुत्र और पुराणों में एक राजा के रूप मे वर्णित हैं। कुछ ऋचाएँ नहुष, ययाति, मनु, अम्बरीष की भी हैं। सोमपवमान के कारण अथवा उस ही की कृपा से दिवोदास ने शम्बर यदु और तुर्वश को पराजित किया।

ईश्वर का वर्णन विश्वकर्मा, स्कन्द प्रजापति और पुरुष के नाम से आया है। कही कही इन्द्र, अग्नि और सूर्य से भी ईश्वर का भाव प्रगट किया गया है। पवीरु रुशमों के नायक थे। सुनीथ के पिता का नाम सुचद्रथ था। मनुष्य का जीवन १०० वर्ष का कहा गया है परन्तु कही कही उसके १२० वर्ष तक होने के उल्लेख हैं।

यजुर्वेद

यजुर्वेद मे यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान की विशेपता है। प्रारम्भ में ऋग्वेद, सामवेद, और यजुर्वेद इन तीन वेदों की ही गणना थी। यजुर्वेद ऋग्वेद से १००, २०० वर्ष पीछे तक बना प्रतीत होता है। इसके दो विभाग हैं जिन्हे शुक्ल और कृष्ण कहते हैं। इसके ४० अध्याय और लगभग २००० छन्द है। कुछ इतिहासकार चारों वेदों की रचना लगभग ४००० वर्ष संवत् पूर्व से शुरू

हुई मानते है जो लगभग १५०० वर्ष तक चलती रही और लगभग २५०० वर्ष संवत् पूर्व में समाप्त हुई।

इस वेद का बहुत सा भाग ऋग्वेद से लिया गया है। इसका कुछ भाग अथर्व से मिलता है। यदि ऋक् की समाप्ति २५०० वर्ष सम्वत् पूर्व समझी जाय तो यजुर्वेद की २३०० वर्ष सम्वत् पूर्व और अथर्ववेद की २००० वर्ष सम्वत् पूर्व समझनी चाहिये।

यज्ञ आर्यों में आरम्भ से ही होते रहे है अतः यजुर्वेद तो प्राचीन ही हैं। यजुर्वेद मे विभिन्न प्रकार के यज्ञ और उनकी विधियों के वर्णन है। नवेन्दु, पूर्णेन्दु, अग्निहोत्र, सोमयज्ञ, वाजिपेय, राजसूय आदि के वर्णन पहिले दस अध्यायो मे है। ११ से १८ वें अध्याय तक वेदियो के निर्माण के विधान हैं। सौत्रामणि यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ, चान्द्र यज्ञ और नरमेध यज्ञों के विधान १६ वे से लेकर ३१ वें अध्याय तक है। नरमेध यज्ञ से अभिप्राय नर की बलि देने का नही है अपितु एक पुतले की बलि देने से नर-बलि की पूर्ति समझी जाती है। ३२ से लेकर ३५ वें अध्याय तक सर्वमेध और पितृयज्ञ के वर्णन है। ३६ वें अध्याय मे दीर्घ जीवन प्राप्ति के लिए देवताओं की स्तुतियाँ हैं। ३६ वें अध्याय में प्रवर्ग का विधान है। ४० वाँ अध्याय एक उपनिषद् है जिसमे ईश्वर का वर्णन है। यजुर्वेद की ऋचाएं कुछ ऋग्वेद से गृहीत हैं और कुछ अथर्व से।

यजुर्वेद के अन्तिम पाँच अध्याय तो दधीचि के हैं और शेष अधिकतर देवताओं के और कुछ ऋषियो के हैं, ऐसा प्रतीत होता है, कि यज्ञों और उनके विधानों की महिमा बढ़ाने के अभिप्राय से उनको मनुष्यकृत की अपेक्षा देवकृत बताना अधिक गौरवमय समझा गया। जिन देवताओ के सूक्त यजुर्वेद मे हैं उनके नाम हैं प्रजापति परमेष्ठी, नारायण, पुरुष, स्वयम्भू, ब्रह्म, बृहस्पति, इन्द्र, वरुण, अश्विनी, वशिष्ट, विश्वामित्र, वामदेव, मधुच्छन्दा, मेधातिथि, सूर्य, याज्ञवल्क्य आदि। इनमे कुछ ऋषिगण हैं।

इस वेद में ऋक् और साम दोनों वेदों का उल्लेख आया है। विष्णु की महिमा ऋक् की अपेक्षा अधिक गाई गई है रुद्र की भी महिमा का वर्णन है। रुद्र को शिवशङ्कर महादेव के नाम से सम्बोधित किया गया है। आयु, पुरूरवा और राजा शर्याति के नाम आये हैं। शतानीक और सुरभि का भी वर्णन, है। अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका के भी नाम आये हैं परन्तु सन्दर्भ से ये महाभारत वाली पात्राएँ प्रतीत नहीं होती।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों के नाम आये हैं और इनके लिए कहा गया है इन्हें प्रकाश प्राप्त हो। सुभद्रा कम्पिला के राजा की स्त्री थी।

मागध का नाम आया है जिससे प्रतीत होता है कि मगध उस समय तक अस्तित्व में आ चुका था। आर्य और दास दोनों ही ईश्वर के हैं। इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वेद काल की अपेक्षा अब दासों के प्रति सहिष्णुता का भाव आने लगा था। सातों नदियो और सप्तर्षियों का भी उल्लेख है।

अथर्व वेद

अथर्व वेद में जहाँ ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है वहाँ उसमें मन्त्रादि का भी वर्णन है। उससे आर्यों की दिनों दिन विकासमान सभ्यता का भी पता चलता है। सूर्य, इन्द्र और अग्नि में ईश्वर का भाव देखने की प्रवृत्ति का उल्लेख है। गाय की महिमा बढ़ी है। गाय की पूंछ और खुर भी पूजे जाने लगे। स्त्री के लिये लिखा है कि वह गृह की स्वामिनी है, उसका पति पर ही नही सास, श्वसुर और पति के भाइयो पर भी स्नेहाधिकार है। वह घर की सम्पत्ति की रक्षक कही गई है। स्त्रियों की जो स्थिति अथर्व वेद में वर्णित है वह हिन्दुओं मे आज तक चली आती है।

ऋग्वेद में प्राकृतिक शक्तियों की स्तुतियां हैं तो अथर्व वेद में जादू टोना मन्त्र आदि का उल्लेख है। अथर्व वेद आंगिरस वंशी ऋषियों द्वारा भाषित है, इसी कारण अथर्वाङ्गिरस अथवा भृग्वाङ्गिरस भी कहा जाता है। अथर्वण एक ऋषि हो गये हैं जिन्होंने लकड़ी की रगड़ से अग्नि उत्पन्न की थी। ऋग्वेद मे ब्राह्मणों की वह महिमा नही थी जो अथर्ववेद में निश्चित हुई। आयुर्वेद की उत्पत्ति भी अथर्ववेद से हुई है। ऋग्वेद मे लिखा है कि अंगिरस वंशी मायावी थे। चूंकि अथर्व के ऋषि अंगिरस आदि के परिवार के हैं अतः मन्त्रादि की विद्यमानता उन ऋषियो की तद्विषयक विशेषज्ञता के कारण ही समझनी चाहिये।

अथर्व वेद मे २० काण्ड ७६० सूक्त और ६०१५ छन्द हैं। झाड़ने फूंकने के मन्त्र, द्यूत मे जीत किस प्रकार हो उसके भी मन्त्र हैं। जान पड़ता है आर्यों की सभ्यता में द्यूत क्रीड़ा मनोरंजन का बहुत पुराना साधन है। द्यूतक्रीडा भले ही निन्द्य हो परन्तु युधिष्ठिर नल आदि का द्यूतक्रीड़ा के परिणामस्वरूप सर्वस्व त्याग वचन निर्वाह के महान् आदर्श की ओर इङ्गित करता है।

कौटुम्बिक जीवन में ऐक्य और मैत्री पूर्वक रहने के सूक्त भी हैं। ब्राह्मणों की स्थिति मे सम्मान भाव व श्रेष्ठता इसी सूक्त से प्रकट होती है जिसमे कहा गया है कि यदि किसी स्त्री को दस अब्राह्मण चाहे और उसी को एक ब्राह्मण चाहे तो वह ब्राह्मण की होगी।

ज्वर के लिए आह्वान किया गया है कि वह मुज्युवनों, बाल्हीको, महावृषो, आगो और मागधो मे जाकर प्रवेश करे। इससे प्रतीत होता है कि अग मगध देशो का अस्तित्व उस समय था और उनमे अनार्य रहते थे। अथर्व वेद मे ब्राह्मण, गाय और ऋषि की महिमा गाई गई है। इनको विशेष सम्मान के साथ स्मरण किया गया है।

इन्द्र द्वारा अनेक राक्षसो के मारे जाने का उल्लेख है। इन्द्र ने दधीचि की हड्डी से बने अस्त्र से ६६ वृत्तो को मारा था ऐसा वर्णन है। सौभरि ऋषि का नाम आया है। विष्णु पुराण मे सौभरि ऋषि के विषय मे बड़ी लम्बी चौडी कथाऐ हैं। महाराज मान्धाता की सभी कन्याओ का विवाह सौभरि ऋषि से हुआ था।

वेद-कालीन सामाजिक दशा

वेदो की प्राचीनता और यथार्थभाषिता के कारण उनमें वर्णित घटनायें प्रामाणिक और ऐतिहासिक हैं। यद्यपि वेद हमारे धार्मिक ग्रन्थ हैं उनका ऐतिहासिक मूल्य बहुत है। साहित्य की दृष्टि से आर्य साहित्य प्राचीनतम है। यजुर्वेद मे ससार का सबसे प्राचीन गद्य और ऋग्वेद मे प्राचीनतम पद्य दृष्टिगोचर होता है।

वेदो मे यद्यपि देवताओ का वर्णन है तथापि मुख्य कल्पना ईश्वर की ही है। सूर्य, इन्द्र, अग्नि मे जो शक्ति निहित है वही ईश्वर का रूप है। अग्नि, सूर्य, इन्द्र आदि की मान्यता ईश्वर की शक्ति के रूप मे है ईश्वर के रूप मे नही।

आर्य लोग जिस प्रदेश मे रहते थे उसका नाम सप्त सैन्धव था। सरस्वती नदी इसकी पूर्वीय सीमा थी। सप्त सिन्धु से आशय वर्तमान पजाब की पाँचो नदियो, सिन्धु और सरस्वती इन सात नदियो से था। आर्य धीरे-धीरे आगे बढ़े और उन्होने अवध, काशी, मिथिला आदि में अपने राज्य स्थापित किये।

ऋग्वेद के मण्डलो मे काल की दृष्टि से आगे-पीछे का क्रम अभी तक निर्धारित नहीं हो सका है। यह धारणा निर्मूल है कि ऋग्वेद के मण्डल क्रमानुसार अस्तित्व मे आये हैं। कही तीसरे, कही सातवें और कही दसवें मण्डल मे प्राचीनतम सामग्री है। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि मण्डलो का वर्तमान क्रम सम्पादक की देन है न कि क्रमगत निर्माण की।

दसवें मण्डल में चाक्षुप और वैवस्वत मनु प्राचीन ऋषि हैं जब कि तीसरे और सातवें मण्डल में राजा सुदास का वर्णन है। राजा सुदास तो वैवस्वत मनु से ५२ वी पीढी पर अयोध्या के राजा थे।

ऋग्वेद में ३३ देवताओं का कथन है। महर्षि विश्वामित्र ने यह संख्या ३३३९ कही। पौराणिक समय से यह संख्या तेतीस करोड तक पहुँच गई। धार्मिक क्षेत्र में उत्तरोत्तर 'महती उन्नति हो रही थी। देवियों की महिमा वेदों में कुछ कम है। सरस्वती नदियो में पवित्र मानी गई है। ब्राह्मण काल में वह वाग्देवी और पौराणिक काल में विद्या की अधिष्ठात्री देवी मानी गई है। सोम एक प्रकार का पेय था फिर सोम चन्द्रमा का नाम ही हो गया।

आर्यों की कई शाखाओ का वेदो मे उल्लेख है। ययाति के पांचो पुत्र यदु, तुर्वसु, अनु, द्रुह्यु और पुरु और उनकी शाखाओ के उल्लेख वेदो मे अनेक बार आये हैं। इनके अतिरिक्त गांधार, भुज्युवंत, मत्स्य, तृत्सु, भरत भृगु, उशीनर, चेदि, क्रिवि, उरु, सृन्जय, कठ, पारावत आदि शाखायें भी प्रमुख हैं।

तृत्सु रावी नदी के पूर्व रहते थे। स्वायम्भुवमनु के एक वंशधर भरत भी थे। पुरुवंश मे दुष्यन्त के पुत्र का नाम भी भरत था। इन दोनो के वशज भारत कहलाये। उशीनर, सृंजय, मत्स्य, चेदि आदि नाम पुराणो मे उसी प्रकार आये हैं। ये सब आर्य जातियां उत्तर भारत के विभिन्न भागो में रहती थी। शतपथ ब्राह्मण मे लिखा है कि पाचाल देश का प्राचीन नाम क्रिवि है। वेदो में पौरवों और यादवो का ययाति का वंशज होना बहुत बार लिखा है। ययाति के वंशजों में पौरवो की प्रधानता थी। यह बात समान रूप से वेदों और पुराणों में स्पष्ट है। सुदास ने यद्यपि अनेक आर्य और अनार्य राजाओं को जीता था वह पौरवो को जीतने मे असमर्थ रहा। ऋग्वेद में इक्ष्वाकु का नाम तो आया है परन्तु इन महान् महाराज के वंशजों का नाम नही लिखा है।

आर्यों और अनार्यों के सैकड़ों नाम वेदों से आये हैं। अनार्यों मे वृत्र, दनु, पिप्रु, स्वस्न, सम्बर, वंगृह, वलि, नमुचि, मृगय, अर्बुद आदि के नाम अनेक बार आये हैं। दनु वृत्रासुर की माता थी। दनु के वंशज दानव कहलाये। वृत्र के १०० दुर्ग इन्द्र ने ध्वस्त किये। ९९ वृत्रो का वर्णन वेदो मे कई जगह आया है। सम्बर और वगृद के सौ-सौ दुर्गों के नष्ट किये जाने के अनेक वर्णन हैं। सम्बर के किले पहाड़ी थे और इन्द्र ने उन्हें दिवोदास के लिए ध्वस्त किया था। ऋषियो के अतिरिक्त मनु, नहुष, ययाति, इला,

दुर्गों को यन्त्रो द्वारा तोड़ने की प्रक्रिया को फरचरिष्णु कहा है। दुर्गों के बाहर मिट्टी के अवरोध बनाने और उनको चारो ओर से आवृत करने आदि के सैनिक कार्यों के वर्णन मिलते है।

ऋग्वेद के मन्त्र ऋषियो के तत्वचिन्तन की प्रक्रिया के मध्य आविर्भूत हुए। उन्होने उन मन्त्रों का उच्चारण किया तथा अपने शिष्यो को सिखाया। गुरु जैसा उच्चारण करते थे शिष्य उसकी उसी प्रकार पुनरावृत्ति करते थे। ऋषि ही मुख्य शिक्षक का कार्य करते थे। एकाग्र चिन्तन द्वारा उन्हे सत्य का परिज्ञान हुआ। छोटे ऋषियो को यास्क ने श्रुतर्षि कहा है।

ऋग्वेद मे शिक्षा पद्धति दो प्रकार की है एक तो वह जो आधुनिक गुरुकुल प्रणाली का पूर्व रूप थी जिसमे ऋषिगण अपने आश्रमो पर ही ब्रह्मचारियों अथवा व्रतचारियो को शिक्षा देते थे। व्रतचारी नाम इस लिये पड़ा कि ब्रह्मचारियों को अपने विद्यार्थी जीवन मे कुछ व्रतो, सयमो आदि का पालन करना पडता था। दूसरी वह जो सङ्घो द्वारा सञ्चालित थी। सघ वे उच्च सस्थायें थी जहाँ विद्वान् लोग लोक-भाषाओ मे विचार विनिमय करते थे। सङ्घ शब्द जो बाद मे बौद्ध धर्म का मुख्य अङ्ग बना ऋग्वेद से ही निकलता है।

ऋग्वेद के अन्त मे लिखा है कि वह शिक्षा व्यर्थ है जिसमे बिना समझे ऋक् को पढा जाय। वैदिक मन्त्रो को आत्मसात् करने के लिए गहन अध्ययन और मनन अपेक्षित था।

धर्म का लौकिक एव दार्शनिक पक्ष है। लोक धर्म के रूप मे यह सूर्य, वरुण, ऊषा, पूषा, इन्द्र और अग्नि आदि प्रकृति की शक्तियो और स्वरूपो की उपासना का विधान करता है। इसमें ऋत (सत्य) सूनृत (समृद्धि) श्रद्धा, दान आदि उच्च आदर्शो की अमूर्त देवताओ के रूप मे भी कल्पना है जो कि धार्मिक विचारो की पर्याप्त प्रगति की द्योतक है। एक सूक्त जो क्षुधार्त को भोजन कराने की शिक्षा देता है और इस कार्य को जीवनदान तुल्य बताता है विश्व के उच्चातिउच्च समाजवाद की परिकल्पना करता है।

यज्ञ के भौतिक स्वरूप के पीछे एक आध्यात्मिक महत्व छिपा है जिसमे भगवान् ने स्वय अपने ही विराट स्वरूप का सृष्टि के निर्माण हेतु बलिदान किया। एक ने अपने को अनेक मे व्यक्त करने की भावना को जन्म दिया। भगवान् ने स्वयं अपने ही उदाहरण से मनुष्य को आत्म बलिदान करने की ओर उत्प्रेरित किया।

यजुर्वेद की ऋचाओं के अनुसार वैदिक ज्ञान सभी जातियों और वर्गों जैसे शूद्र, चारण (वैश्य) यहां तक अनार्यों के लिये भी उपलब्ध होने योग्य हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में शूद्रों को समाज का अनिवार्य एवं अभिन्न अंग माना गया है और अन्य जातियों की तरह उनके कर्म भी निश्चित किये गये हैं। यास्क के अनुसार सबसे अधम पञ्चम जाति भी यज्ञ करने का वैसा ही अधिकार रखती है जैसा अन्य जातियां।

भोजन में प्रमुख रूप से चावल और जौ होते थे जो घी दूध और उससे बने पदार्थ जैसे दही, पनीर और मक्खन के साथ खाये जाते थे। बकरी और भेड़ जैसे पशुओं का मांस प्रयोग मे आता था। यज्ञों में बलि होती थी। गाय के वध का निषेध था। सुरापान वर्जित था।

वैदिक काल में सङ्गीत के सात स्वरों का पता चलता है। वाद्यों में दुन्दुभी (ढोलक) कर्करी (बांसुरी) और वीणा (सारङ्गी) का व्यवहार था।

वस्त्र तीन प्रकार के पहिने जाते थे (१) उत्तरीय (ऊपर का वस्त्र) (२) नीवीं (मध्य भाग का वस्त्र) और धोती (नीचे भाग का वस्त्र)। बढ़िया कामदार वस्त्र भी पहिने जाते थे। गर्दन और कानों में आभूषण पहिनने का रिवाज था। कङ्गन और बिछुए प्रयोग में आते थे।

अर्थ व्यवस्था कृषि और घरेलू उद्योगों पर आधारित थी। कृषि का आधार जिन पशुओं पर निर्भर था उनमे गाय, भैंस, बैल, घोड़े, भेड़, बकरी और गदहे सम्मिलित थे। जमीन की जुताई हलों द्वारा होती थी जिनमें ६, ८ और १२ बैल तक जोते जाते थे। अन्न को भूसे से पृथक् करने के लिए छलनी काम में लाई जाती थी। कुत्तों द्वारा रखवाली का काम किये जाने के उल्लेख पाये जाते हैं। खाद के लिये शकम् और करीष के शब्दो का प्रयोग हुआ है।

व्यापार में विनिमय की प्रथा भी थी। एक इन्द्र की मूर्ति १० गायों के विनिमय में मिलने का उल्लेख है। वचन-निर्वाह का आदर्श व्यापार मे भी बहुत था। एक बार सौदा होने पर वचन का टाला जाना सम्भव नहीं था चाहे दाम चढ़ जांय अथवा कम हो जायें। समुद्री व्यापार भी होता था। भुज्यु के विशाल समुद्री बेड़े के नष्ट होने का उल्लेख है। सौ-सौ पतवारों की बड़ी नावें होती थी।

सुर और असुर जातियाँ ! ऐतिहासिक संदर्भ

प्रलय का वर्णन ससार के सभी प्राचीन धर्म ग्रन्थो में है। यह सम्भवतः ईसा से ३२०० वर्ष पहले हुई थी। इसका वर्णन हमारे ब्राह्मण ग्रन्थो मे है। प्राचीन एशिया के इतिहास लेखक जैनेसिस ने भी इसके विषय में बहुत कुछ लिखा है। यह प्रलय सम्भवतः वर्तमान मैसोपोटामिया और उत्तर पश्चिम एशिया के प्रदेश मे हुई थी। कदाचित् दजला नदी मे इतने वेग से बाढ़ आई कि उसने काश्यप सागर और फारस की खाड़ी के बीच के समस्त प्रदेश को जलाप्लावित कर दिया। समुद्र तट से ६००० फीट ऊँचा भाग पानी मे डूब गया। फिलिस्तीन के वे भूमि खण्ड जो फारस की खाडी के दक्षिण-पश्चिम मे हैं सर्वथा जलमग्न हो गये और वहाँ के जीव जन्तु, वनस्पति सब नष्ट हो गये। इन प्रदेशो मे "अर्राट" जाति वसी हुई थी। अर्राट लोग महाराज अत्यराति जानन्तपति के वंशज थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि ज्वालामुखी के भयङ्कर विस्फोट से वर्फ की चट्टानें टूट गयी और जल के प्रकोप से काश्यप सागर और फारस की खाडी के मध्य का देश जल मग्न हो गया। काश्यप सागर और फारस की खाड़ी की जलमयी एक हो गयी और बीच का विशाल प्रदेश उसमे डूब गया। शतपथ ब्राह्मण मे भी प्रलय का उल्लेख है। उसमे कहा गया है कि मनु के हाथ एक मत्स्य लगी। शायद मत्स्य कोई जाति थी जिसका आश्रय लेकर मनु ने अपनी तथा अपने परिवार की प्रलय के भयङ्कर प्रकोप से प्राण रक्षा की। हिन्दू शास्त्रो के मनु सम्भवत. बाइविल के नूह हैं। बाइविल मे भी प्रलय का मिलता जुलता वृत्तान्त है।

मनु ने सुषा नगरी वसाई। पुराणो मे इस नगरी के वैभव का वर्णन है। एशिया के प्राचीन इतिहास मे भी इस नगरी की समृद्धिशालिता का मिलता-जुलता वर्णन है। प्रलय के थपेडे से तो यह नगरी वच गई परन्तु उसकी व्यापक विनाश लीला ने इसको उजाड वनाने में अपना प्रभाव दिखाया। यह नगरी भी प्रलय के बाद निर्जन हो गई और इस पर पांच फुट मोटी पर्त की धूलि जमा हो गई। इस दशा मे यह नगरी बहुत काल तक वीरान पडी रही।

दक्ष की पुत्री अदिति के पुत्र वरुण ने सर्व प्रथम इस नगरी तथा प्रलयगत भूमि का उद्धार किया। उसने व्यापक पैमाने पर खुदाई करा कर धूलि को हटाया और रुके हुए जलो को समुद्र की ओर प्रवाहित कराया।

उसने भूमि को समतल करके वहाँ आदित्यों की अनेक बस्तियाँ स्थापित कीं। अदिति के मरीचि से १२ पुत्र हुए जो आदित्य कहलाये। वरुण इन सबसे बड़े और सूर्य सबसे छोटे थे। जिस प्रकार सूर्य ने आर्य जाति का निर्माण किया उसी प्रकार वरुण ने सुमेरु जाति का। यह सुमेरु जाति सुमेरु सभ्यता की जननी थी और ईरान पर इसका आधिपत्य था। बारहों आदित्यों में केवल सूर्य के ही वंशज भारत में आर्य जाति के रूप में वर्तमान हुए शेष ग्यारह आदित्य ईरान, मिश्र, फिलिस्तीन, अरब, चीन तिब्बत तक फैल गये। मनु द्वारा बसाई हुई नगरी पहले तो सुषा के नाम से विख्यात रही फिर उसे ही अमरावती अथवा इन्द्रपुरी कहने लगे।

वरुण

पाश्चात्य साहित्य में वरुण को आदि रचयिता (Lord Creator) लिखा है और अवेस्ता में अरूज्द। वरुण के लिये ही इलोहिम और इलाही शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। शतपथ ब्राह्मण और जैनेसिस में समान रूप से कहा गया है कि वरुण देव ने पृथ्वी और आकाश को सम किया। वरुण ने प्रलय के रुके हुए जलों को नहरें खुदवा कर समुद्र की ओर प्रवाहित कर दिया, समुद्र की सीमा बाँधी और जल को अधिकार में किया। पृथ्वी को समतल करके उसमें बीजों का वपन किया जिससे वह उपजाऊ बनी। अपने इन महान् कार्यों के कारण ही वरुण को जलों का देव कहा गया।

अरब और फारस की खाड़ी के बीच के देश को ही प्राचीन साहित्य में सुषा स्थान कहा गया है। इसी को पीछे छल देश अथवा चल्डिया कहा गया। नवीन सृष्टि रचने के कारण वरुण को जो आदित्यों में ज्येष्ठ भी थे ब्रह्मा कहा गया है। जल का विभाजन करने के कारण उनका नाम नारायण भी पड़ा। अन्य ग्रन्थों में वरुण को ही इलाही कहा गया है। वरुण लोग अपने पूर्व पुरुष को ही सृष्टि का रचयिता मानते थे। प्राचीन ईरान के कापा-डोसिया प्रान्त में इन्द्र और वरुण की शपथ के शिलालेख मिले हैं। वरुण के इस राज्य का नाम अमरदेश हुआ और जैसा ऊपर लिखा जा चुका है सुषा नगरी ही अमरावती कहलाई। अब भी अमरों के वंशजों की अमरेह नाम की जाति ईरान में वर्तमान है। मनु की पुत्री इला के नाम पर पीछे इस प्रदेश का नाम एलम या इलावर्त हुआ। आजकल इस प्रदेश का नाम किरमान है। यही सुमेरु सभ्यता का केन्द्र सुमेरु साम्राज्य था। यह प्रदेश फारस की खाड़ी के ऊपर है। जैनेसिस ने इसे पर्शिया के इतिहास में शीनार भूमि (शीस्तान) कहा है। पुराणों में इसे श्रीनार लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है क्षीरसागर और कुछ नहीं फारस की खाड़ी ही थी। जोरास्टर लोग वरुण के उपासक थे।

अपवर्त वर्तमान ईरान का एक प्रदेश था जो कलातनादरी के निकट था। आजकल इसे अविवर्द (दोजख) कहते हैं। जिस समय यम ने यहाँ आकर राज्य स्थापित किया उससे कुछ पहले ही प्रलय हुई थी अतः वहाँ सभी जीव जन्तु नष्ट हो चुके थे। इसी कारण उस प्रदेश को मृत्युलोक कहने लगे थे। यम ने दक्ष प्राचेतस के कुल की दस कन्याओ से विवाह किया। इनमें से एक कन्या सन्ध्या थी जिससे साध्य जाति प्रचलित हुई। इसी जाति के लोग पीछे मीथियन कहलाने लगे। कुछ ऐतिहासिकों मत है कि इनके नीप और पाल वशधरो ने मिश्र और यूनान मे फैलकर मिश्र का प्रथम राजवश २१८८ ई० पू० मे और असुरो का राजवंश २०५६ ई० पू० मे स्थापित किया था। इसी नीपवश पर आगे चलकर जनमेजय ने विजय प्राप्त की थी। समस्त असुर प्रदेश मे फैली हुई वसु, मरु, भानु, घोष, साध्य, हंस, विश्वकर्मा, मनीषि, द्रविण, हूण, मगोल, रमण, धर, हयताल आदि शाकद्वीपी जातियाँ यम के ही वश की है। ये अपने पूर्व पुरुष सूर्य देव की उपासक थी। सूर्य को ही ये नृवश का पूर्व पुरुष मानती थी। कुशान और हयताल जो इतिहास मे क्रमशः सफेद हुन और तुर्क जातियो के पूर्वज कहे गये हैं यम के ही वशधर हैं।

कुछ ऐतिहासिक शोध सूत्र

ईरान मे यमथल, यमशिद, के नाम पर ईरानी लोग जमशेद नाम रखते हैं, यमशिद की पूजा करते हैं। शनि का दूसरा नाम श्रुतिकर्मा है। उसने यूनान देश पर राज्य किया। आदित्यो का कुल ही सारे ससार में व्याप्त हो गया। सबसे अधिक विस्तार सूर्य वश का ही हुआ। सूर्य वश की चार राजधानियाँ स्थापित हो गई थी। (१) आदित्य नगर (२) कश्यप नगर (३) इन्द्रवन (४) भण्डार। सूर्य ने बैबिलोनियाँ, सीरिया और मिश्र को जीतकर त्रिविक्रम की उपाधि धारण की। सीरिया निवासी प्राचीन सूर्य के उपासक हैं। पर्शिया के रेगिस्तान के निवासी प्राचीन काल मे आदित्य कहलाते थे। अदन मे आदम का विश्व विख्यात मन्दिर था जो सोने चाँदी की ईंटो से बना था और जिसकी छत मे मोती जड़े हुए थे। आदम की कथा बाइबिल मे है। आदम का अर्थ सूर्य है। अरब या यारा भी अरबी भाषा मे सूर्य को ही कहते हैं। अरब मे एक खोट प्रान्त है खोट नाम सूर्य का है। अदन का प्राचीन नाम आदित्यपुरी था जो सूर्य की चार राजधानियों में एक थी।

अजर बेजान का प्राचीन नाम आर्य वीर्यान् था, देमावन्द देवस्थान या अरभ्रग है। अत्रि भृगुपुत्र शुक के पुत्र थे। अत्रि का उपनिवेश अत्रिपत्तन था जिसको आजकल एट्रोपेटन कहते हैं और जो ईरान मे स्थित है। प्राचीन अत्रिरदी आजकल ईरान मे आद्रीक कहलाती है। आजकल के वन सागर

एक नगर का अस्तित्व पुराने अत्रिवन की मूक घोषणा कर रहा है। अत्रि की तपोभूमि को आजकल तपुरिया कहते हैं। वास्तव में तपुरिया तपपुरी का का अपभ्रंश है। पर्शियन इतिहास मे एट्रोपेटन और अजरवेजान को आट्रीक नदी के तीर पर काश्यप सागर के निकट बताया गया है। यही पर वैकुण्ठ (बहिश्त) या सत्यलोक था। इस भूमि में सोम प्रचुरता से पैदा होता था और यहां कल्पतरुओ की विद्यमानता थी जो यथेष्ट फल देने के कारण कल्प वृक्ष कहलाते थे। यहां के निवासियो की जाति आज भी अत्रियस है। बेबिलोनियन सम्राट देव कहलाते थे और सोमपान का भारी उत्सव किया करते थे। उन्होने अपनी भूमि का नाम देव भूमि रक्खा और उनकी जाति देव कहलाने लगी। अत्रि के पुत्र का नाम चन्द्र था, आज भी ईरान में चन्द्र की पूजा होती है तथा वहां चान्द्र वंश का ही प्रचार है।

सारा असुर प्रदेश जो भारत के उत्तर पश्चिम मे था तथा आधुनिक गिलगित के समीप तक का भू भाग एवं एशियाई रूस का दक्षिण पश्चिम भाग और ईरान का पूर्वी भाग इलावर्त के अन्तर्गत था। (चतुरसेन शास्त्री रचित वय रक्षाम.) पेशावर से डेरागाजी खां तक का प्रदेश गन्धर्वों का देश कहलाता था। यह प्रदेश सिन्धुनद के दोनों ओर बसा होने के कारण अति रमणीय था। एक समय इसका राजा गन्धर्व मित्रावसु था जिसकी पुत्री चित्राङ्गदा का विवाह रावण से हुआ था।

यम की पत्नी वसु से आठ वसु उत्पन्न हुए। वसुओ में सबसे ज्येष्ठ धर थे। धर के पुत्र रुद्र थे। रुद्र के ग्यारह कुल चले और उनके चार स्थान थे। प्रथम मूल स्थान मूजवान् पर्वत -हेमकूट था -जिसे आजकल हिन्दू कुश कहते हैं। यह श्वेत गिरि जिसे आजकल सफेद कोह कहते हैं उत्तर में है। यहां सोम बहुतायत से उत्पन्न होता है। इसके पूर्व की ओर क्रौंचगिरि था जिसे आजकल 'कुराकुरम्' कहते हैं। उमावन इसी स्थान के पास है। इस वन का वर्तमान नाम शरवन है, इस प्रदेश में मूजवन, महावृष, बाह्लीक तथा मरुत जातियां रहती थीं जो आर्येतर थीं। पर्शिया के एक प्रान्त मे शकरा जाति अब भी निवास करती है। असीरिया के फ्रीजिया देश में 'सेवा' या 'सेवाजिया' नाम के देवता की पूजा होती थी वहां तथा मिश्र में 'सेवा' के साथ सर्प का सम्बन्ध जोड़ा गया है। निस्सदेह यह शिव की ही पूजा है। अमेरिका के पेरू प्रदेश मे 'सिवु' देवता की पूजा है।

अफ्रीका का प्राचीन नाम शिवदान है। सुदान शिवदान का अपभ्रंश है। रावण पर विजय प्राप्त कर जब राम ने कालान्तर में अपने राज्य को

कर दी और उनको ध्वस्त कर दिया। इस प्रकार ७०० वर्ष तक अखण्ड रहकर इसका ऐसा ध्वस हुआ कि नामोनिशान तक बाकी न रहा।

उपरोक्त तिथिक्रम अनेक इतिहासो मे उपलब्ध सामग्री के अनुसार है। लेखक का आग्रह यह कदापि नही कि इसको ठीक और अन्तिम शब्द ही समझा जाय। पुरातन भारत के इतिहास निर्माण की प्रक्रिया तो भविष्य में चलती ही रहेगी और तिथि सम्बन्धी मान्यताएँ भी विभिन्न रूप से प्रकाश में आवेंगी। भारत के पुरातन साहित्य के निर्माण मे अपरिमित शोध की आवश्यकता है और इसकी सीमाओ को किसी निश्चित अवधि के भीतर बांधना सम्भव नही है।

पुराणों में सृष्टि की उत्पत्ति एवं एकेश्वरवाद

विष्णु पुराण की विचार धारा से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति के आदि कारण स्वय विष्णु भगवान् हैं जिन्होने प्रजापति ब्रह्मा का रूप धारण कर समस्त सृष्टि की रचना की थी। विष्णु पुराण मे सृष्टि की रचना का बडा मनोहारी एव अलकारिक वर्णन है। उक्त पुराण की मान्यता के अनुसार प्रजापति के ध्यान करने पर शरीर और इन्द्रियो सहित मानस प्रजा उत्पन्न हुई। देवताओ से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी त्रिगुणात्मक चर और अचर जीव इसी प्रकार उत्पन्न हुए। जब महाबुद्धिमान प्रजापति की वह प्रजा पुत्र पौत्रादि क्रम से और न बढी तब उन्होने भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अगिरा, मरीचि, दक्ष, अत्रि और वशिष्ठ नामक अन्य मानस-पुत्रो को उत्पन्न किया। पुराणो मे इनको नौ ब्रह्माओ की सज्ञा दी गई है। इसके अनन्तर उन्होने ख्याति, भूति, सम्भूति, क्षमा, प्रीति, सन्नति, ऊर्ज्जा, अनसूया तथा प्रसूति इन नौ कन्याओ को उत्पन्न कर इन्हे उन ऋषियो को क्रमश. पत्नी रूप मे दे दिया।

ब्रह्माजी ने अपने ही विग्रह से अपने ही स्वरूप स्वायम्भुव को प्रजा पालनार्थ प्रथम मनु बनाया। उन स्वायम्भुव मनु ने शतरूपा देवी से प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र और प्रसूति एव आकूति नाम की दो कन्याऐं उत्पन्न की। प्रसूति को दक्षप्रजापति और आकूति को रुचि प्रजापति के साथ विवाह दिया गया।

रुचि प्रजापति और आकूति से यज्ञ और दक्षिणा दो युगल सतान उत्पन्न हुई। यज्ञ के दक्षिणा से बारह पुत्र हुए जो याम नामक देवता

कहलाये। दक्ष ने प्रसूति से २४ कन्याएँ उत्पन्न की उनमें से तेरह कन्याओं को जिनके नाम श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, मेधा, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि और कीर्ति है धर्म ने पत्नी रूप से ग्रहण किया। इनसे छोटी शेष ग्यारह कन्याओं को जिनके नाम ख्याति, सती, सम्भूति, प्रीति, क्षमा, सन्तति, अनसूया ऊर्ज्जा, स्वाहा और स्वधा हैं क्रमशः भृगु, शिव, मरीचि, अंगिरा, पुलस्त्य, प्रलह, क्रतु, अत्रि, वशिष्ठ, तथा अग्नि और पितरों ने ग्रहण किया।

धर्म के पुत्र इस प्रकार हुए। श्रद्धा से काम, चला से दर्प, धृति से नियम; तुष्टि से संतोष और पुष्टि से लोभ का जन्म हुआ। मेधा ने श्रुत, क्रिया ने दण्ड, जय और विजय, बुद्धि ने बोध, लज्जा ने विनय, वपु ने व्यवसाय, शान्ति ने क्षेम, सिद्धि ने सुख और कीर्ति ने यश को उत्पन्न किया। रति ने काम से धर्म के पौत्र हर्ष को उत्पन्न किया।

अधर्म की स्त्री हिंसा थी उससे अनृत नाम का पुत्र और निकृति नाम की कन्या उत्पन्न हुई। उन दोनो से भय और नरक नाम के पुत्र और उनकी पत्नियां माया और वेदना नाम की कन्यायें उत्पन्न हुई। उनमें माया से समस्त प्राणियों का संहारकर्ता मृत्यु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वेदना से रौरव के द्वारा दुःख नाम का पुत्र हुआ। मृत्यु से व्याधि, जरा, शोक, तृष्णा और क्रोध का जन्म हुआ। ये सब भगवान् विष्णु के भयङ्कर रूप हैं और संसार की नित्य प्रलय के कारण होते हैं। इनके न कोई स्त्री है और न सन्तान ये सब ऊर्ध्वरेता है।

उपरोक्त वर्णन परमेश्वर के मानस पुत्र और पुत्रियों की सृष्टि का कितना अपूर्व एवं मनोहारी है। स्वायम्भुव मनु और शतरूपा के रूप में पुरुष और स्त्री के उत्पन्न होने के उपरान्त जगत के समस्त गुण दोषों की उत्पत्ति का वर्णन कितने उत्तम ढंग से महान् अलङ्कारिक भाषा में किया गया है? इसी प्रकार देव, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, तन्मात्रा वर्ग, सत, रज, तम आदि अनेक सर्गों की सृष्टि का मनोरंजक वर्णन है।

पुराणों में परमेश्वर के विभिन्न स्तोत्र स्तुतियां आराधनायें आदि प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं। विभिन्न अवसरो पर देवताओं, ऋषियों, महर्षियों, प्रजाजनो एवं भक्तों द्वारा की गई ईश्वर की स्तुतियां अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण एवं आध्यात्मिक चिन्तन से परिपूर्ण हैं। दो एक उदाहरण देना उपयुक्त होगा।

स्वमव्यक्त मनिर्देश्यमचिन्त्यानाम वर्णयत्।
अपाणिपाद रूपं च शुद्धं नित्यं परात्परम्॥

विष्णुपुराण पं॰ अंश प्रथम अध्याय

भावार्थ—आप अव्यक्त, अनिर्वाच्य, अचिन्त्य, नाम और वर्ण से रहित, हाथ पाँव और रूपहीन, शुद्ध, सनातन और पर से भी परे हैं।

त्वं विश्वनाभिर्भुवनस्य गोप्ता सर्वाणि भूतानि तवान्तराणि।
यद्भूतभव्यं यदणोरणीयः पुमांस्त्वमेकः प्रकृतेः परस्तात्॥

भावार्थ—आप संसार के केन्द्र और त्रिलोकी के रक्षक हैं। समस्त प्राणियों की स्थिति आप में ही है। जो कुछ भूत, भविष्यत्, अणु से अणु है वह सब आप हैं। आप प्रकृति से परे एक मात्र परम पुरुष हैं।

व्यक्ताव्यक्त स्वरूपस्त्वं समष्टि व्यष्टि रूपवान्।
सर्वज्ञस्सर्व वित्सर्व शक्ति ज्ञान बलर्द्धिमान्॥

भावार्थ—आप व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप है, आप समष्टि और व्यष्टि स्वरूप है तथा आप ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, और निखिल ज्ञान, बल और ऐश्वर्य से युक्त हैं।

पुराण इस प्रकार की स्तुतियो के भाण्डागार है। इन स्तुतियो मे हिंदुत्व का एकेश्वरवाद बडी सुगमता और उतमता से सिद्ध होता है। ईश्वर की महिमा के प्रति ऐसा अद्‌भुत् चिन्तन विश्व के किसी अन्य धर्म एव साहित्य मे उपलब्ध नही है।

भारतीय इतिहास के पहिले छः मन्वन्तर

लोकमान्य तिलक का मत है कि आर्य लोग भारत मे ईसा से ६००० वर्ष पूर्व आये। वे ऋग्वेद का निर्माण काल ईसा से ३८०० वर्ष पूर्व आंकते है। इससे सिद्ध होता है कि आर्य लोग वेदो के निर्माण से भी लगभग २२०० वर्ष पूर्व भारत आ चुके थे। ऋग्वेद मे यद्यपि तत्कालीन आर्य जीवन की छोटी-छोटी बातें भी लिखी हैं उसमे यह कही नही लिखा कि आर्य विश्व के अमुक भाग से भारत आये। अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि आर्य लोग ऋग्वेद के निर्माण के समय तक इतने अधिक काल तक भारत मे रह चुके थे कि वे अपने को भारत का निवासी ही समझते थे और अपने निर्गम स्थान को तो वे कालाधिक्य के कारण भूल ही चुके थे अन्यथा उसका कम से कम उल्लेख तो ऋग्वेद मे अवश्य होता।

लोकमान्य तिलक वैवस्वत मनु का समय विक्रमाब्द से ३५०० वर्ष पूर्व का मानते हैं। उनके मत से ६००० वि० पू० से ३५०० वि० पू० तक आर्य

लोग भारत में बस गये थे। पौराणिक आधार से लोकमान्य तिलक के मत की पुष्टि होती है।

पौराणिक वर्णनो मे समय का विभाग मन्वन्तरो मे किया गया है। वर्षो की अपेक्षा समय का विभाजन मन्वन्तरों मे अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है। मन्वन्तरों की, सख्या चौदह है जिसमें कि पूरा भूत, वर्तमान और भविष्य काल बाँटा गया है। वैवस्वत मनु से पहिले छः मन्वन्तर हो चुके थे और पौराणिक आधारो के अनुसार इन छः हों मन्वन्तरो का काल लगभग २५०० वर्ष मे समाप्त हो जाता है। इस प्रकार ६००० वर्ष में से २५०० वर्ष निकाल देने पर वैवस्वत मनु को ३५०० वर्ष विक्रम पूर्व हुए।

मन्वन्तरों को पुराणों मे गणना के अनुसार भी बाँधा है परन्तु उसे देवताओ के वर्षों के अनुसार निर्धारित करने से वह एकदम अतिशयोक्तिपूर्ण एवं सख्यातीत सा प्रतीत होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है पूरा काल १४ मन्वन्तरों में विभक्त है। १४ मन्वन्तरों में से ६ तो हो चुके और सातवाँ चल रहा है तथा सात मन्वन्तर अभी भविष्य मे और आवेंगे। एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगियाँ होती है। प्रत्येक चतुर्युगी मे सत्युग, त्रेता, द्वापर, और कलियुग होते हैं और इन्ही चारो युगो के सम्मिलित नाम को चतुर्युगी कहते हैं। चतुर्युगियो की काल गणना को हम अपने शब्दो में न कहकर मिश्रबन्धुओं के शब्दो मे व्यक्त करते हैं। "सत्युग की संख्या ४००० वर्षों की है और चार-चार सौ की सन्ध्या और सन्ध्याश होते हैं। त्रेतायुग ३००० वर्षों का है और उसकी सन्ध्या और सन्ध्याश में छः सौ वर्ष लगते हैं। द्वापर मे २००० वर्ष और २०० वर्ष की सध्या और संध्याश हैं। कलियुग में १००० वर्ष और २०० वर्षों की सध्या और सन्ध्याश है। प्रयोजन यह है कि जितने हजार वर्षों का युग होगा उतने ही सौ वर्षो की उसकी सन्ध्या होगी और उसी के बराबर सन्ध्यान्श होगा। अतः एक चतुर्युगी मे १२००० वर्ष होते हैं। यह गणना अच्छी थी किंतु पौराणिक पण्डितो ने इस काल को देवताओं का कह कर बहुत बढा दिया है। इस समय पौराणिक मत के अनुसार उपरोक्त प्रत्येक वर्ष हमारे ३६० वर्षों का होना है क्योंकि देवताओं का एक दिन हमारे एक वर्ष के बराबर होता है। अतः एक चतुर्युगी तेतालीस लाख बीस हजार वर्ष की हो जाती है। और एक मन्वन्तर मे ऐसी ७१ चतुर्युगियाँ पड जाती हैं। इसलिए यह पौराणिक समय-सख्या बिल्कुल बेकार हो गई है।"*

---

* भारतवर्ष का इतिहास (मिश्रबन्धु) अध्याय ७।

पुराणों में वर्णित युगों के आधार पर क्रमबद्ध इतिहास के निर्माण किये जाने की आशा करना व्यर्थ है। हाँ, मन्वन्तरो और उनके अन्तर्गत राजवंशों के वर्णनो से इतिहास-निर्माण का कार्य अपेक्षाकृत सुलभ एव सम्भव है।

चौदहो मन्वन्तरो के प्रवर्तक मनु इस प्रकार हैं। १—स्वायम्भुवमनु २—स्वारोचिष ३—उत्तम ४—तामस ५—रैवत ६—चाक्षुष ७—वैवस्वत ८—सावर्णि ९—दक्ष सावर्णि १०—ब्रह्म सावर्णि ११ धर्म सावर्णि १२—रुद्र सावर्णि १३—देव सावर्णि और १४—इन्द्र सावर्णि। इनमें सावर्णि वाले मन्वन्तर तो भविष्य कालीन है अतः इनका वर्णन कर सकना तो असम्भव है। स्वायम्भुवमनु पहिले राजा थे। इनसे वैवस्वत मनु का काल २२०० वर्ष बाद का कूता गया है, अर्थात् चाक्षुष मन्वन्तर तक पहिले छः मन्वन्तर इतने ही काल मे समाप्त हो गये। ये बात पुराणो मे वर्णित राजवंशो के वर्णन से भी पुष्ट हो जाती है। ऋग्वेद का निर्माण चाक्षुष मन्वन्तर से ही आरम्भ हुआ। चाक्षुष से पहिले वेद तथा उनके मन्त्रो की कोई चर्चा नही है। बाल गंगाधर तिलक का भी मत है कि आर्य लोग वेद निर्माण से कम से कम २००० वर्ष पहिले भारत मे आ गये थे।

स्वायम्भुवमनु

ऋग्वेद का मन्त्र है, "हे इन्द्र, तुमने यह देश मनु को दिया है।" इसका तात्पर्य स्वायम्भुवमनु से है। जहाँ वैवस्वत मनु से अभिप्राय है वहाँ मनु से पहिले वैवस्वत शब्द का प्रयोग ऋग्वेद मे प्राप्त है। स्वायम्भुवमनु का १४ मनुओ मे सर्वप्रथम स्थान है। इनकी २७ पीढियों के राज्य का उल्लेख पुराणो से मिलता है। इस कारण इस मन्वन्तर का भोगकाल अधिक से अधिक ७०० वर्ष प्रतीत होता है।

स्वायम्भुवमनु के दो पुत्र थे १—प्रियव्रत २—उत्तानपाद। आर्यो ने सबसे पहिले राज्यसस्था स्वायम्भुवमनु से ही आरम्भ की। स्वायम्भुवमनु आर्यों के सबसे पहिले राजा थे। प्रियव्रत और उत्तानपाद दोनो ही प्रतापी और भिन्न-भिन्न देशों के अधिपति हुए हैं। उत्तानपाद की दो रानियाँ थी। बडी से ध्रुव नामक ज्येष्ठ पुत्र और छोटी से उत्तम नामक छोटा पुत्र था। ध्रुव को पिता का स्नेह प्राप्त न था कारण उसके पिता छोटी रानी से विशेष प्रेम करते थे। ध्रुव अपमानित होकर वन को चले गये। बनवास के कारण उनके चरित्र गौरव मे महान् वृद्धि हुई और वे भक्तो मे श्रेष्ठ और अग्रगण्य समझे जाने लगे। जब वे बन से लौटकर आये तो उनकी गरिमा से उनका

छोटा भाई परास्त हुआ और उन्होने पुनः राज्य ग्रहण किया। ध्रुव का शासन न्यायपूर्ण था, उनके नाम की महिमा से उनके नाम पर ही एक नक्षत्र और एक लोक प्रसिद्ध हुए।

प्रियव्रत के पौत्र नाभि बड़े प्रतापी हुए हैं। नाभि के भाइयो के नाम थे, "किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलाव्रत, रम्य, हिरण्यवान, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल। इनके पिता अग्नीध्र थे जिनके ६ भाई थे। राजा प्रियव्रत ने पृथ्वी के सात भाग करके उसे अपने सातों पुत्रों में बाँट दिया। अग्नीध्र को जम्बूद्वीप दिया जिसका प्रयोजन एशिया से है। नाभि के भाग में वह देश आया जो हिमालय से समुद्र पर्यन्त है। सम्भवतः यह भारत ही है। नाभि के पुत्र ऋषभदेव और उनके पुत्र भरत थे। भरत के नाम पर यह देश भारतवर्ष कहलाता है। नाभि के भाई किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलाव्रत और कुरु पर इन्हीं के नाम के चार राज्य स्थापित हुए जिनमे क्रमशः ये ही राजा राज्य करते थे।

किम्पुरुष कश्मीरसे ऊपर का प्रदेश और हरिवर्ष वर्तमान अरेबिया था। प्रियव्रत के वंश मे नाभि, ऋषभ, भरत और गय बड़े प्रतापी राजा हुए हैं। गय महान् यज्ञ कर्ता थे। इस वंश का अतिम २७ वाँ राजा विष्वग्ज्योति था। उसके बाद भरतवंश समाप्त हो गया।

उत्तानपाद के वंश में १४ पीढी तक राज्य चला। इन राजाओं मे ध्रुव, चाक्षुषमनु, वेन, पृथु, प्रचेतस और दक्ष मुख्य थे। दक्ष इस वश का अन्तिम राजा था।

राजा वेन ने एक नया धर्म चलाना चाहा और प्रजाजनो को आदेश दिया कि वे उसे ईश्वर-तुल्य समझें और देव भाव से उसकी पूजा करें। उस समय तक यद्यपि जाति भेद न था परन्तु कर्म से लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि हुआ करते थे। ब्राह्मणों ने राजा की इस पैशाचिक आज्ञा का विरोध किया। कुछ ने उसको बहुत समझाने की चेष्टा की लेकिन वह न माना। इस पर ब्राह्मणों ने उसका वध कर दिया।

वेन के उसकी रानी से पृथु नामी पुत्र हुआ और नीचकुल में उत्पन्न एक दासी से उसका बड़ा पुत्र निषाद हुआ। निषाद बड़ा था लेकिन नीच कुलोत्पन्न दासी का पुत्र था इसलिए राजा न बनाया गया। छोटे भाई पृथु को राज्य प्राप्त हुआ। उसने इतनी योग्यता और उत्तम विधि मे राज्य चलाया और भूमि की इतनी उन्नति की कि उसका नाम पृथु की कन्या के रूप मे पृथ्वी पड गया। इसने जगलों को अग्निसात करके और टीलों और पहाडो को समतल करके भूमि का विकास किया।

जाता है। मिश्रबन्धु अपनी पुस्तक 'भारतवर्ष का इतिहास' मे लिखते है "हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु के युद्ध भी चाक्षुप मन्वन्तर के अन्तर्गत है, क्योंकि बलि हिरण्यकशिपु के प्रपौत्र थे सो इन दोनो का अन्तर १०० वर्ष से अधिक का नही हो सकता, और बलिबन्धन चाक्षुप मन्वन्तर के अत मे होने से यदि यह मन्वन्तर प्राय: २०० वर्ष का हो तो हिरण्याक्ष आदि की कथाऐं इसी के अतर्गत पडेगी। ऊपर की गणनाओ से अनुमान किया जाता है कि स्वारोचिप से चाक्षुप पर्यन्त पाँचो मन्वन्तरो का भोगकाल प्राय. १५०० वर्षों का पडता है। उधर चाक्षुप मनु के वेदर्षि होने से और वेदो का प्रारम्भ काल प्राय: ४००० वर्ष सवत् पूर्व होने से तथा वैवस्वत मन्वन्तर का प्रारम्भ काल प्राय: ३८०० वर्ष सम्वत् पूर्व होने से चाक्षुष मन्वन्तर कम से कम २०० वर्ष का बैठता है।"

पुराणो मे कथन है कि अदिति दिति और दनु तीन बहिनें थी और इनके पति का नाम कश्यप था। कश्यप को इन्द्र का पिता कहा है। अदिति को देवताओ की माता कहा है और दिति को दैत्यो तथा दनु को दानवो की। जब दैत्यो, देवताओ और दानवो की माताएँ बहिने थी और उनके पिता एक ही थे तब उनमे जाति-भेद कैसा ? पुराणो के अनुशीलन से पता चलता है कि देवताओ तथा दैत्यो और दानवो के बीच जाति-भेद की गहरी खाई थी। इससे प्रतीत होता है कि दिति और दनु के पति कश्यप से भिन्न कोई कश्यप नामी व्यक्ति थे।

इन्द्र की महिमा वेद तथा पुराणो मे अत्यधिक है। वैदिक इन्द्र सदैव विजयी हुए हैं उन्होने कभी कोई गर्हित काम नही किया। पुराणो के इन्द्र को कभी-कभी पराजय का मुँह भी देखना पडा है। उन्होने कभी निन्दनीय कार्य भी किये है। इन्द्र द्वारा दानवो और विशेप करके वृत्त के ९९ दुर्गों को ध्वस्त किया जाना, वृतासुर और शम्बर आदि के वध सभी चाक्षुप मन्वन्तर की घटनाये प्रतीत होती है।

चाक्षुप मन्वन्तर के मध्य मे दिति पुत्र हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष बड़े सामर्थ्यशाली हुए है। हिरण्याक्ष की सहायता पाकर हिरण्यकशिपु ने अपने राज्य का विस्तार किया। इसका आतंक आर्यों पर भी था। यद्यपि हिरण्यकशिपु के समय के उन युद्धो का वर्णन नही है जिनमे आर्यों को पराजित होना पडा तथापि उसको तीनों लोको का स्वामी कहे जाने मे यह स्पष्ट है कि उसका प्रभाव पुष्कल मात्रा मे आर्यों पर भी था। हिरण्यकशिपु का प्रभाव जब अपने चरमोत्कर्ष पर था तब उसके जीवन मे एक महत्वपूर्ण घटना घटित

हो गई। हिरण्याक्ष का वन में किसी वराह से सामना हो गया और उसे अपनी जान से हाथ धोना पडा। यह घटना हिरण्यकशिपु का बल क्षीण करने मे एक प्रधान कारण बनी।

प्रहलाद और हिरण्यकशिपु में गहरा मतभेद दिखाकर पुराणों मे पिता पुत्र की शत्रुता दर्शायी गई है। कुछ इतिहासकारो की दृष्टि में यह शत्रुता अमान्य है। छोटी सी बात पर ऐसे प्रतापी राजा को अपने पुत्र से शत्रुता करने की बात कम जँचती है। एक तर्क यह भी है कि विष्णु भक्ति की बात वैदिक समय से बहुत पीछे उठी थी। चाक्षुप मन्वन्तर में इस प्रकार की भक्ति का कही उल्लेख नही है। भागवत पुराण की अपेक्षा हरिवंश पुराण अधिक पुराना है उसमे प्रहलाद भक्त तो कहे गये है परन्तु पिता पुत्र का विरोध नही कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब हिरण्याक्ष की मृत्यु से हिरण्यकशिपु का बल क्षीण हो गया तब देवताओं (आर्यो) ने एका करके उस पर धावा बोल दिया और भयङ्कर युद्ध के उपरान्त किसी नृसिंह नामी आर्यवीर के हाथों हिरण्यकशिपु मारा गया। दैत्य लोग पूर्व की ओर भाग गये और आर्य लोग सरस्वती के पूर्व की ओर भी बढ़े।' इस युद्ध के परिणाम स्वरूप दैत्यों ने उस प्रदेश मे अपना निवास स्थान बनाया जिसे आजकल पूर्वी उत्तर प्रदेश और अवध कहते हैं।

हिरण्यकशिपु के समय मे भी तीनों लोको का वर्णन आया है। कुछ इतिहासकारो के मत से वर्तमान पंजाब आर्य लोक, बंगाल नागलोक और इन दोनों के बीच का प्रदेश दैत्यलोक समझना चाहिये।

प्रहलाद और उसके पुत्र विरोचन के समय मे दैत्यो की विशेष राजनीतिक उन्नति न हुई तथा राज्य का विस्तार भी न बढा। परन्तु अपने पिता के शासन काल मे ही विरोचन के पुत्र बलि ने इतनी बुद्धिमत्ता, कुशलता और शालीनता से राज्य काज सम्हाला कि प्रहलाद और विरोचन आदि सब ही की सम्मति से उनके जीवन काल मे ही बलि को राजपद प्रदान किया गया। पद प्राप्त करने पर तो बलि ने एक बहुत ही श्रेष्ठ राज्य स्थापित किया। उसने इतनी दक्षता से काम किया कि दैत्यो और दानवो की महती उन्नति होने लगी।

उधर आर्यो और नागो के देशो में भी आवागमन होने से उन्नति होने लगी और यातायात बढा। बलि ने सुशासन से न केवल अपने राज्य में सुखशान्ति फैलाई अपितु आर्यो और नागों मे भी कोई संघर्ष न किया। परिणाम स्वरूप तीनों राज्य बड़े सहयोग के ढंग पर उत्तरोत्तर उन्नति करने लगे।

ऐसे वातावरण मे विचार साम्य की प्रगति होना स्वाभाविक है। सभी लोग वाणिज्य अथवा देशाटन के दृष्टिकोण से समुद्र से लाभ उठाने और दूसरे देशो की यात्रा करने की बात सोचने लगे। फलत समुद्र मन्थन हुआ। पुराणो मे समुद्र मन्थन का वर्णन दार्शनिक अथवा अलङ्कारिक है। पुराणो में लिखा है कि शेषनाग ने मन्दराचल को उखाड कर अपने ऊपर रखा वासुकि नाग रस्सी वने और मन्दराचल के माध्यम से देवो और दैत्यो ने मन्थन किया और प्रचुर परिश्रम के उपरान्त चौदह रत्न प्राप्त हुए। वे रत्न है लक्ष्मी, कौस्तुभमणि, रम्भा, वारुणी, अमृत, पाचजन्य शख, ऐरावत हाथी, कल्पवृक्ष, चन्द्रमा, कामधेनु, शारगधनुष, धन्वन्तरि वैद्य और उच्चैश्रवा घोडा।

समुद्र मन्थन नामी रूपक से ऐसा प्रतीत होता है कि नागो दैत्यो और आर्यों ने मिलकर समुद्र यात्रा का विचार किया था। नागो के सरदार शेष नाग ने मन्दराचल से इतने प्रचुर परिणाम मे लकडी मँगाई कि वह पहाड़ सा लगने लगा। वासुकि नाग ने रस्सी मस्तूल आदि से जहाज बना लिये और दैत्यो नागो और आर्यो ने मिलकर समुद्र यात्रा की। उस यात्रा के परिणाम स्वरूप उन्हे बहुत सी बहुमूल्य वस्तुऐं प्राप्त हुई। इस यात्रा के वाद आर्यों ने अपने कौशल से सब उत्तम वस्तुए स्वय ग्रहण कर ली दैत्यो के हाथ कुछ न लगा। ऐसा प्रतीत होता कि कुछ युद्ध भी हुआ। सम्भवत बलि को भाग कर अपने राज्य मे आना पडा।

इस घटना से दैत्यो मे बड़ा असन्तोष फैला। बलि और अनेक प्रभाव-शाली दैत्यराजो ने सोचा कि उनके शत्रुता का व्यवहार न करने पर भी उनके साथ यह दुर्व्यवहार किया गया। उनको इसका पछतावा हुआ कि अपने प्रपितामह (हिरण्यकशिपु) के वध का बदला लेने की बात को न सोचकर उन्होंने आर्यो से सहयोग किया और उसका प्रतिफल इन्हे विश्वासघात के रूप मे मिला। असन्तोष इतना व्याप्त हुआ कि भक्तावतस प्रहलाद सरीखे महापुरुष भी युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गए साधारण दैत्यो की तो बात ही क्या है। आर्यो से बडे पैमाने पर युद्ध का निश्चय किया गया।

आर्यों से युद्ध करने के लिए दैत्यो ने एक विशाल चतुरगिनी सेना एकत्रित की। दैत्य सेना बडे बडे वीरो से सुसज्जित हुई। दैत्य दल के जिन प्रमुख दैत्य सरदारो ने युद्ध मे योग दिया उनके नाम इस प्रकार हैं, महापर्षिनी, कुम्भकरण, काचनाक्ष, कपिकध, क्षितिकम्पन, मैनाक्ष, ऊर्ध्व, वक्र, सितकेश, विकच, सुबाहु, सहस्त्रबाहु, व्याघ्राक्ष, वज्रनाभि, एकाक्ष, गजस्कन्ध, गजशीर्ष, कालजिह्वा, कपिलाक्ष,धेनुक, युवराजवाण, अनायुषा, पुनर्बलि, नमुचि, यम, प्रलोमा, हयग्रीव, प्रह्लाद, विरोचन, शम्बर, अनुह्लाद।

दानवो ने भी दैत्यों का साथ दिया। जो प्रमुख दानव दैत्यों के साथ युद्ध में सम्मिलित हुए उनके नाम है विपपर्वा, विम, कनकविन्दु, कुंभज, असिलोमा, एकचक्र, राहु, विप्रचित्तदानव, केशीदानव, हेममाली, मय, वृत्तासुर आदि। दैत्य और दानवो के पुरोहित ब्राह्मण लोग भी उनकी ओर से आर्यों से युद्ध करने रण में गये।

आर्यों के सहायको का उल्लेख इस प्रकार है। विद्याधर, गन्धर्व, यक्ष, डम्बर, तुम्बर, किन्नर, नाग आदि। बडा भयङ्कर युद्ध हुआ। इस युद्ध को ही देवासुर संग्राम कहा है। भारतीय इतिहास मे इक्ष्वाकुवशी ५२ वी पीढी पर हुए राजा सुदास के काल मे दाशराज्ञ युद्ध तथा कृष्ण कालीन महाभारत युद्ध वडे समझे जाते हैं। यह प्राचीन युद्ध भी अनेक परवर्ती युद्धो की भांति भयङ्कर था।

इस युद्ध मे आर्यों की पूर्ण पराजय हुई। वे भाग खडे हुए तथा उनमें से बहुत से अपने लोक मे न जाकर नागलोक की ओर भागे। देवताओ ने न केवल दैत्यलोक अपितु अपना राज्य भी खो दिया। इस पराजय के बाद देवताओ (आर्यों) ने अपनी खोई हुई स्थिति की पुन. प्राप्ति के लिए एक कुशल सेनापति की खोज आरम्भ कर दी। कुछ प्रयास करने के उपरान्त उनकी दृष्टि कश्यपपुत्र वामन भगवान पर पडी। उनको बलि के यज्ञस्थल मे भेजने की योजना बनाई गई।

बलि ने विजय के वाद एक अत्यन्त सुन्दर शासन की व्यवस्था की थी। उसने अनेक यज्ञो का समारम्भ कर दिया था। वामन भगवान ने बलि की यज्ञशाला मे पहुँचकर यज्ञ की सुन्दर विधियों का वर्णन किया। उन्होने बलि की भी बहुत प्रशंसा की। शुक्राचार्य वामन के तर्कों का कोई उत्तर न दे सके। बलि ने प्रसन्न होकर वामन से वरदान मांगने का आग्रह किया। वामन ने दान में तीनो लोक मांग लिये। शुक्राचार्य के मना करने पर भी अपने वचन का निर्वाह करने के लिए बलि ने वामन को तीनो लोको का राज्य दे दिया। वामन ने बलि को नागपाश में बांधकर सुतल नामी लोक मे भेज दिया। वामन के कौशल से आर्यों को अपने राज्य की पुनः प्राप्ति हो गई। इस घटना के बाद से उनके यश, वैभव और राज्य का फिर विस्तार होने लगा। वामन द्वारा तीन पग पृथ्वी मांगे जाने का उल्लेख ऋग्वेद मे भी है।

इस घटना के बाद से वैवस्वत मन्वन्तर का समारम्भ समझना चाहिये।

तत्कालीन समाज की दशा

ऋग्वेद की संस्कृति का आरम्भिक रूप बड़ा प्रोज्ज्वल है। इसके बहुत से सिद्धान्त अक्षुण्ण रूप से आज तक चले आ रहे हैं। इस शाश्वत संस्कृति के मध्य कालीन परिवर्तन इतने स्वस्थ नहीं है। एक प्रकार से इन परिवर्तनों ने इसके सौन्दर्य को बिगाड़ा है परन्तु वे मूल संस्कृति को नष्ट न कर पाये कारण यह संस्कृति महान् है और इसकी महानता ने ही इसे शाश्वत बनाया है। यही कारण है कि अनेक गम्भीर आघातों से भी वह सीधी खड़ी है। सब झटकों को झेलकर भी आज अक्षुण्ण और जीवन्त है।

ऋग्वेद से एक बहुत ही सभ्य और व्यवस्थित समाज का पता चलता है। उस समय एक पत्नी विवाह की प्रथा प्रचलित थी परन्तु राजपुरुषों में बहु पत्नी विवाह भी कभी-कभी हो जाया करते थे। परन्तु एक स्त्री के एक से अधिक पति होने की बात उस समाज मे अज्ञात थी। विवाह एक पवित्र बन्धन था जो मानवीय कार्य से नहीं टूट सकता था। निस्सन्तान विधवाओं को पुनर्विवाह करने की छूट थी। वैदिक काल मे अन्त्येष्टि कर्म करने के लिए सन्तान का होना वाछनीय समझा जाता था। विवाह के समय दहेज की प्रथा प्रचलित थी परन्तु कभी-कभी भावी जामाता को वधू-प्राप्ति के लिए कुछ धन भी देना पडता था।

लडकियो के लिए वैवाहिक बन्धन अनिवार्य न था। ऐसे अनेक उदाहरण थे जिनमे अविवाहित लडकियाँ बडी अवस्था तक अपने पितृगृह पर ही जीवन व्यतीत करती हुई प्रतीत होती थी। विवाहोपरान्त लड़कियाँ अपने श्वसुर गृह चली जाती थी और वहाँ उनका स्थान सम्मानप्रद था। पति के माता-पिता, बन्धु बान्धवो पर उनका स्नेहाभिसिक्त अधिकार रहता था। स्त्री पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी समझी जाती थी और कोई भी धार्मिक अनुष्ठान स्त्री के सम्मलित हुए बिना अपूर्ण समझा जाता था। उस समय बाल विवाह लगभग अज्ञात था। यद्यपि लडकी के लिए पति की तलाश करना पिता का ही मुख्य कर्तव्य होता था तथापि लडकी को भी इस सम्बन्ध मे काफी स्वतन्त्रता थी।

पिता का अपनी सन्तान पर पूर्ण अधिकार होता था। ऐसा उदाहरण है कि एक पिता ने अपने पुत्र को जुआरी होने के कारण नेत्र-विहीन कर दिया था। पिता कुटुम्ब का मुखिया होता था और अपनी सतान के विवाहादि कृत्यो मे उसका पूर्ण अधिकार होता था। वह कौटुम्बिक सम्पत्ति का स्वामी होता था। गोद लेने की रस्म भी प्रचलित थी। पुत्रहीन पिता की सम्पत्ति का हस्तान्तरण पुत्री को नहीं अपितु दौहित्र को होता था।

ऋग्वेद काल मे जाति-पाँति के कट्टर बन्धन नही थे। ऋग्वेद में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यो के लिए किया गया है। चूंकि जाति बन्धनों में कट्टरता का अभाव था अतः इन तीनो जातियों मे अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित थे। कभी-कभी लोग पितृगत कर्मों को भी बदल देते थे जैसा कि ऋग्वेद के एक सूक्त से प्रकट है, "मैं कवि हूँ, मेरा पिता चिकित्सक और मेरी माँ दाना पीसने वाली है। विभिन्न कर्म वाले हम लोग अर्थ लाभ की कामना करते हैं।"

कदाचित् व्यवसाय-कर्म के आधार पर द्रविड़ो मे जाति प्रथा प्रचलित थी। ऐसा प्रतीत होता है द्रविड़ो के सम्पर्क से ही आर्यों मे जाति प्रथा का विकास हुआ। ऋग्वेद काल मे ब्राह्मण लोग पठन, पाठन, चिन्तन, अध्ययन एव धार्मिक अनुष्ठानो मे व्यस्त रहते थे, क्षत्रियो का कर्म युद्ध करने का था तथा वैश्य कृषि और वाणिज्य आदि का काम करते थे। समाज का विभाजन पैतृक परम्परा पर आधारित न था। अगस्त्य ऋषि ने विदर्भराज की पुत्री लोपामुद्रा से विवाह किया और उशन शुक्र ऋषि की पुत्री देवयानी का विवाह सम्राट ययाति के साथ हुआ था। यह तो स्पष्ट है कि जाति-प्रथा की वह कट्टरता जो पीछे प्रचलित हुई वैदिक-काल मे अज्ञात थी।

वैदिककाल मे जाति-प्रथा के प्रचलित होने या न होने के विषय मे विद्वानों में मतभेद है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरुष सूक्त में चार वर्णो का उल्लेख है परन्तु यह भी एक निर्विवाद तथ्य है कि ऋग्वेद का दसवाँ मण्डल बहुत पीछे हजारो वर्ष बाद का बना हुआ है।

भोजन व्यवस्था—आर्यों का दूध और उससे जनित पदार्थ भोजन के विशिष्ट अङ्ग थे। वे दूध के साथ दलिया, चावल आदि खाते थे। वे घी के साथ चुपडी हुई जौ की रोटियाँ खाते थे। बलि किये हुए पशुओं का मांस ही भक्षण के योग्य होता था। गाय पवित्र मानी जाती थी, वह अवध्य समझी जाती थी। सोम और सुरा का प्रयोग होता था परन्तु सुरा के पीने का निषेध भी था। ऋग्वेद का नवाँ मण्डल सोमपान के सम्बन्ध में है।

आर्थिक दशा—वैदिक आर्यों का जीवन कृषि प्रधान था। गाय बैल आदि की सहायता से कृषि की जाती थी। उनकी जीविका के आधार कृषि और पशुपालन थे। खेतों में उत्पन्न होने वाले अनाजों में गेहूँ, धान, मांस व तिल प्रमुख थे। कृषि के अतिरिक्त जीविका के अन्य साधन भी थे। वेद मे तक्षन् (बढ़ई) हिरण्यकार (सुनार) कर्मार (धातु शिल्पी) चर्मकार वाय (जुलाहा) आदि अनेक शब्दों के प्रयोग से इन व्यवसायों की विद्यमानता

भी प्रगट होती है। आर्यों ने दासों को सेवा में रख कर अनेक व्यवसाय चलाये थे।

अनेक धातुओ का प्रयोग होता था। सुवर्ण और रजत से आभूषण तैयार किये जाते थे। पात्रों और यन्त्रों के लिए अयस् नाम की धातु का प्रयोग किया जाता था। सस्कृत मे अयस् का अर्थ लोहा है परन्तु वेदो मे अयस् के प्रयोग से तांबे का बोध होता है। तांबा हो या लोहा, आर्य लोग यन्त्रों और पात्रो के निर्माण मे धातु-प्रयोग को भली भांति जानते थे।

निवास स्थान—निवास के लिए सुन्दर शालाओ का प्रयोग किया जाता था। शालाओ के निर्माण मे लकडी का प्रयोग होता था। वेद मे शाला सूक्त हैं जिसमे भवन-मिर्नाण का बडा सुन्दर वर्णन है।

वस्त्राभूषण—वस्त्र-निर्माण का शिल्प भी उन्नत दशा मे था। ऊन और रेशम से भी वस्त्र तैयार किये जाते थे। आर्य लोग सूत कातने और अनेक प्रकार के वस्त्र बनाने के व्यवसाय मे कुशल थे। वे सिर पर ऊष्णीश (पगडी) नीचे अधोवस्त्र (धोती) और ऊपर से उत्तरीय का प्रयोग करते थे। स्त्री और पुरुष दोनो ही आभूषण पहिनते थे। कुण्डल, केयूर, निष्कग्रीव आदि आभूषण पहिने जाते थे।

व्यापार—व्यापार के लिए वस्तु विनिमय का प्रयोग होता था। सिक्के का प्रचलन था या नही यह सदिग्ध है। निष्क नामक सुवर्ण मुद्रा का उल्लेख है परन्तु हो सकता है यह शब्द आभूषण के लिये प्रयुक्त हुआ हो। वैदिक युग मे लोग स्थल और जल मार्गों के द्वारा दूर-दूर तक व्यापार के लिये आते जाते थे।

धर्म—वैदिक युग के आर्य विभिन्न देवताओ की पूजा करते थे, इन्द्र, मित्र, वरुण और यम आदि। इनको तृप्त और सतुष्ट करने के लिए अनेक विधानो का अनुसरण किया जाता था। ईश्वर की एकता का तथ्य भी आर्यों मे भली भांति प्रचलित था। कभी-कभी वे इन सब देवताओ मे एक ही ईश्वर का अश देखते थे। ससार का स्रष्टा, पालक व सहर्ता एक ईश्वर है यह विचार वैदिक आर्यों मे विद्यमान था। वे प्राकृतिक शक्तियो की उपासना करते थे। वेदो में द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथ्वी लोक मे जो शक्तियां विद्यमान हैं उनकी स्तुति मे विभिन्न सूक्तो और मन्त्रो की रचना की गई थी। द्युलोक के देवता हैं सूर्य, सविता, मित्र, पूषा, विष्णु, वरुण अन्तरिक्ष के स्थानीय देवता इन्द्र, वायु, मरुत और पर्जन्य हैं। पृथ्वी स्थित देव हैं अग्नि, सोम और पृथिवी। अदिति, उषा, सरस्वती आदि के रूपों में देवियो की

उपासना का भी वेदों में विधान है। वैदिक युग में प्राकृतिक शक्तियों की पूजा का विधान यज्ञादिक अनुष्ठानों के माध्यम से था अतः उनको मूर्तियों के रूप में मन्दिरों में प्रतिष्ठापित करने की प्रथा उस काल में न थी।

मनोरंजन आदि—लोगों के मनोरंजन के साधनों में रथों की दौड़, घुड़दौड़, गायन, नृत्य और द्यूत आदि थे। द्यूत दाँव लगा कर होता था और इसमें बहुत से घर बरबाद हो जाते थे। नृत्य संगीत में ढप, ढोल, दुन्दुभि, कर्कटी, वीणा आदि का प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद कालीन आर्य लोग भ्रमणशील न थे, वे एक स्थान पर रह कर निश्चित जीवन व्यतीत करते थे।

आर्यों और अनार्यों का भेद—आर्य भिन्न लोग अनार्य कहलाते थे। उनको दास, दस्यु अथवा असुर भी कहते थे। कभी-कभी उनको पिशाच और राक्षस आदि की संज्ञा भी इसलिये दी गई है कि वे युद्धों में भयङ्कर चीत्कार करते थे। उनकी मुखाकृति के विषय में कहा गया है कि वे कृष्णवर्ण और चपटी नाक वाले थे। उनकी भाषा भी आर्यों की भाषा से भिन्न थी। आर्यों की तरह वे यज्ञादि न करते थे और न वैदिक देवी-देवताओं की पूजा ही। वे शिश्न की पूजा करते थे जिसको कि आर्य लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनके दुर्ग थे और आर्यों को उन पर विजय प्राप्त करने के लिए काफी संघर्ष करना पड़ा था। उनका प्रतिरोध इतना भयङ्कर था कि आर्यों को उन पर विजय प्राप्त करने के लिए इन्द्र का आह्वान करना पड़ता था।

इक्ष्वाकु वंश

भारतीय अनुश्रुति के अनुसार आज से हजारों वर्ष पहिले उत्तर भारत में मनु और उनके वंशजों ने भारतीय भूमि पर सर्वप्रथम राज्य संस्था स्थापित की। इनसे पहिले यहाँ न कोई राजा था न शासन और न किसी प्रकार की व्यवस्था थी। पुराणों के अनुसार छः मन्वन्तरों का संक्षिप्त इतिहास लिखा जा चुका है। स्वायम्भुवमनु से लेकर चाक्षुष तक छः मनुओं के बाद सातवें मनु हुए जिनके पिता का नाम विवस्वान् था जो दक्ष प्रजापति और अदिति से उत्पन्न हुए थे। विवस्वान् के पुत्र होने के कारण मनु को वैवस्वत मनु भी कहते हैं। मनु के दस पुत्र हुए जिनके नाम हैं—इक्ष्वाकु, नृग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, प्रांशु, नाभाग, दिष्ट, करूष और पृषध्र। मनु के इन्हीं पुत्रों और उनके वंशजों ने न केवल भारत में वरन् समस्त विश्व में अपना राज्य स्थापित किया और चलाया। मनु की ही वंश परम्परागत सन्तानें एक स्थान से दूसरे स्थान पर गईं और समस्त विश्व में फैल गईं। उनके

अनेक वंश भिन्न भिन्न राजवंशों के नाम से प्रसिद्ध हुए। अयोध्या के राज्य सिंहासन पर जिस वंश की स्थापना हुई उसके मानव, मूल मानव और सूर्यवंश आदि कई नाम हैं।

मनु की इला नाम की एक कन्या भी थी जिसका चन्द्रमा के बेटे बुध से प्रणय हो गया और परिणाम स्वरूप उनके पुरूरवा नाम के एक पुत्र की उत्पत्ति हुई। यह मनु विवस्वान् के पुत्र कदापि न थे, कारण इनका अस्तित्व तो वैवस्वत मनु से लगभग ३५ पीढी बाद सिद्ध होता है। यह मनु सूर्यवशी सगर के समकालीन कोई राजा हो गये हैं ऐसा प्रतीत होता है। पुरूरवा से जो वश चला वह भी अत्यन्त विशाल और गौरवशाली था। मनु के वशज मानव और इला के वशज ऐल कहलाये। मानवो और ऐलो से सम्बन्धित एक तीसरे राजवश का उदय हुआ जिसके सस्थापक सुद्युम्न के तीन पुत्र हुए जिनके नाम थे उत्कल, गय और विनत।

अब हम मनु के पुत्र इक्ष्वाकु से जो वश चला उसका वर्णन करेंगे। मनु के ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु अयोध्या के सिंहासन पर आसीन हुए और उनसे ही मानव अथवा सूर्यवश की प्रगति हुई। यह वश भारतीय इतिहास मे बहुत प्रसिद्ध है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम इसी वश मे इक्ष्वाकु से ६१ वी पीढी पर उत्पन्न हुए थे। कुछ इतिहासकार श्रीराम को ६५ वी पीढ़ी पर उत्पन्न हुआ मानते हैं। कदाचित् उन्होने वशावली को दृष्टि में रखकर उन व्यक्तियो को भी सम्मिलित कर लिया है जो किसी राजा के पुत्र तो थे परन्तु उनको उनके जीवन में कभी उत्तराधिकार प्राप्त न हुआ था। हमने ऐसे व्यक्तियो को पृथक् कर दिया है। इक्ष्वाकु से श्रीराम तक जो नृपतिगण हुए उनकी सूची इस प्रकार है। यहाँ पर राजाओ के यथाक्रम नामो का ही उल्लेख किया जा रहा है, उनका सम्पूर्ण जीवन वृत्त विस्तारभय से लिखा जाना असम्भव है। यह भी एक तथ्य है कि कुछ राजाओ का जीवन वृत्त तो कतई उपलब्ध ही नही है। नामोल्लेख के उपरान्त कुछ महत्वपूर्ण राजाओ का जीवन परिचय ही देना पर्याप्त होगा।

इक्ष्वाकु के विकुक्षि, निमि और दण्ड नामक तीन पुत्र हुए जो उत्तरापथ और दक्षिणापथ के शासक हुए। विकुक्षि का दूसरा नाम शशाद था। शशाद का पुत्र पुरञ्जय हुआ। पुरंजय का दूसरा नाम ककुत्स्थ था। ककुत्स्थ के पुत्र का नाम अनेना था। अनेना का पुत्र पृथु हुआ। पृथु से इक्ष्वाकु वश की पीढी इस प्रकार चलती है। पृथु इक्ष्वाकु की पांचवी पीढी पर आता है, आगे इस पीढ़ी का क्रम इस प्रकार है।

(५) पृथु, (६) विष्टराश्व, (७) चान्द्र युवनाश्व, (८) शावस्त, (९) बृहद्श्व, (१०) कुवलयाश्व, (११) दृढ़ाश्व, (१२) हर्यश्व, (१३) निकुम्भ, (१४) अमिताश्व, (१५) कृशाश्व, (१६) प्रसेनजित, (१७) युवनाश्व, (१८) मान्धाता, (१९) पुरुकुत्स, (इनके दो भाई अम्बरीष और मुचुकुन्द भी थे) (२०) त्रसद्दस्यु, (२१) अनरण्य, (२२) पृषदश्व, (२३) हर्यश्व, (२४) हस्त, (२५) सुमना, (२६) त्रिधन्वा, (२७) त्र्य्यारुणि, (२८) सत्यव्रत (यह पीछे त्रिशंकु कहलाया) (२९) हरिश्चन्द्र, (३०) रोहिताश्व, (३१) हरित, (३२) चंचु, (३३) विजय (भाई वसुदेव), (३४) रुरुक, (३५) वृक, (३६) बाहु, (३७) सगर (सगर के ज्येष्ठ पुत्र का नाम असमंजस था जिसको कि दुराचारी होने के कारण पिता ने त्याग दिया था और उसके पुत्र अर्थात् अपने पौत्र अंशुमान को उत्तराधिकारी बनाया) (३८) अंशुमान, (३९) दिलीप (४०) भगीरथ, (४१) सुहोत्र, (४२) श्रुति, (४३) नाभाग ,(४४) अम्बरीष, (४५) सिंधुद्वीप (४६) आयुतायु, (४७) ऋतुपर्ण, (४८) सर्वकाम, (४९) सुदास, (५०) सौदास मित्रसह, (५१) अश्मक, (५२) मूलक, (५३) दशरथ, (५४) इलविल, (५५) विश्वसह, (५६) खट्वाङ्ग, (५७) दीर्घबाहु, (५८) रघु, (५९) अज, (६०) दशरथ, (६१) राम।

उपर्युक्त राजाओं में जो महत्वपूर्ण हुए हैं और जिनका जीवनवृत्त किसी अंश मे उपलब्ध है उनका संक्षिप्त वृत्तान्त इस प्रकार है।

मान्धाता—इक्ष्वाकु वंश में १८ वी पीढी पर यह एक महान् प्रतापी राजा हुए। इनके दिग्विजयी अभियानों ने अनेक राजाओ को इनके वशवर्ती कर दिया और ये अपने समय के चक्रवर्ती सम्राट कहलाये। विष्णुपुराण में सम्राट मान्धाता के राज्य विस्तार के विषय में लिखा है।

यावत्सूर्य उदेत्यस्तं यावच्च प्रतितिष्ठति।
सर्वं तद्यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते॥

अर्थात् सूर्य जहाँ से उदय होता है और जहाँ अस्त होता है वह सम्पूर्ण देश युवनाश्व पुत्र मान्धाता का कहलाता है। उन्होने यादव राज शशिबिन्दु की पुत्री से अपना विवाह किया। इस वैवाहिक सम्बन्ध से तथा कान्यकुब्ज, पाञ्चाल, पूर्वी पंजाब और दक्षिण मे हैहयों पर विजय से महाराज मान्धाता ने अपनी स्थिति दृढ़ की। इनके अनेक पुत्रियां हुई। युवावस्था प्राप्त करने पर सभी कन्याओं का विवाह सौभरि ऋषि से हुआ। दक्षिण मे रेवा नदी का नाम नर्मदा मान्धाता के पुत्र पुरुकुत्स की वधू नर्मदा के नाम पर पड़ा। इनके कई पीढ़ी बाद हरिश्चन्द्र नाम के बड़े सत्यवादी और धर्मात्मा राजा

हुए। उनसे सूर्यवंश की कीर्ति तो बढ़ी परन्तु राजनीतिक शक्ति में उन्नति न हुई।

राजा सगर—सगर ने अपने पिता के शत्रु हैहय और तालजंघ क्षत्रिय राजाओं को नष्ट कर दिया। शक, यवन, काम्बोज, पारद और पल्हवगण भी पराजित हुए और बड़ी संख्या में मारे गये। सगर का प्रण उनको समूल नष्ट करने का था। परन्तु सगर के गुरु वशिष्ठ ने उपरोक्त जातियों को स्वधर्म और द्विजातियों के संस्कार से वंचित कर दिया और विधर्मी बनाकर जीवन यापन करने की आज्ञा दे दी। उन्होंने महाराज सगर को आदेश दिया कि उन लोगों को बन्धन मुक्त किया जाय।[1] वशिष्ठ का यह कार्य अत्यन्त अदूरदर्शिता पूर्ण था और इसका हिन्दू जाति के ऊपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। वशिष्ठ ने विधर्मियों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करके उनको पनपने का अवसर दिया। यदि वशिष्ठ यह भूल न करते तो आगे चलकर विधर्मियों की इतनी संख्या और शक्ति न बढ़ती और हिन्दुओं पर वे अत्याचार न होते जो बाद में विधर्मियों ने उन पर किये।

महाराज भगीरथ—इनके काल में गङ्गाजी का आविर्भाव हुआ। इनके नाम पर गङ्गाजी को भागीरथी भी कहते हैं। भगीरथ के अतिरिक्त दिलीप, अम्बरीष, ऋतुपर्ण आदि भी सूर्यवंश के प्रसिद्ध सम्राट हुए हैं जिनका अनुश्रुतियों और पुराणों में महत्वपूर्ण उल्लेख है। महाराज रघु ने भी दिग्विजय किया और अपनी वीरता की धाक चारों दिशाओं में फैलाई। रघु के कारण

---

1. तथेति तद्गुरुवचनमभिनन्द्य तेषां वेषान्यत्वमकारयत् ।४६। यवनान्मुण्डित-शिरसोऽर्द्धं मुण्डितांछकान् प्रलम्ब केशान् पारदान् पल्हवांश्मश्रुधरान् निस्स्वाध्याय वषट्कारानेतानन्यांश्च क्षत्रियांश्चकार ।४७। एतेचात्मधर्म-परित्यागाद्ब्राह्मणैं परित्यक्ता म्लेच्छतां ययुः ॥४८॥

भावार्थ—राजा ने 'जो आज्ञा' कहकर गुरुजी के कथन का अनुमोदन किया और उनके वेष बदलवा दिये ॥४६॥ उसने यवनों के शिर मुँड़वा दिये, शकों को अर्द्ध मुण्डित कर दिया, पारदों के लम्बे-लम्बे केश रखवा दिये, पल्हवों के मूँछ डाढ़ी रखवा दी तथा इनको और इनके समान अन्यान्य क्षत्रियों को भी स्वाध्याय और वषट्कारादि से बहिष्कृत कर दिया ॥४७॥ अपने धर्म को छोड़ देने के कारण ब्राह्मणों ने भी इनका परित्याग कर दिया अतः यह म्लेच्छ हो गये ॥४८॥

[विष्णुपुराण, चतुर्थ अंश, तीसरा अध्याय]

यह वंश रघुवंश भी कहलाने लगा। रघु के पुत्र अज और अज के पुत्र दशरथ हुए।

दशरथ—ये बड़े प्रतापी राजा हुए हैं। इन्होंने कई युद्धों में अत्याचारियो की जिनको उस काल में राक्षस कहते थे परास्त किया। एक युद्ध में इनके रथ की कीली टूट गई। इनकी तृतीय रानी कैकेयी ने जो उस समय युद्ध में उनके साथ थी टूटी हुई कीली की जगह पर अपना हाथ लगा दिया। परिणाम यह हुआ कि रथ के बिना टूटे ही राजा दशरथ युद्ध में विजय प्राप्त करने को समर्थ हो गये। रानी के उस साहसपूर्ण कार्य को राजा ने बहुत सराहा और उनसे वर मांगने को कहा। रानी ने कहा कि इस समय तो उन्हें सर्वसुख है जब आवश्यकता होगी मांग लेगी, महाराज दोनों वर अपने पास थाती रहने दें। राजा दशरथ के तीन रानियां थी। (१) कौशल्या, (२) सुमित्रा, (३) कैकेयी। कौशल्या के श्रीराम, सुमित्रा के लक्ष्मण और कैकेयी के भरत और शत्रुघ्न इस प्रकार चार पुत्ररत्न महाराज दशरथ के तीनो रानियो से उत्पन्न हुए।

श्रीराम—श्रीराम भारतीय उच्च आदर्शों के प्रतिष्ठापक और जन्मदाता हैं। इसी कारण उनको मर्यादा पुरुषोत्तम कहते हैं। श्रीकृष्ण की तरह श्रीराम भारतीय संस्कृति, भारतीय उच्च परम्पराओ और आदर्शों के आदि श्रोत हैं। उनका चरित्र आज असंख्य जन-मन के रञ्जन और प्रेरणा का कारण है।

राजा दशरथ ने बाल्यकाल में ही राम और लक्ष्मण को गुरु विश्वामित्र के आश्रम मे प्रविष्ट करा दिया। वहां उन्होंने अनेक अत्याचारी विधर्मियों का सफाया कर दिया। फिर मिथिलाधिपति जनकराज ने अपनी दुहिता सीता का स्वयम्वर रचा, उसमे श्रीराम ने धनुष तोड़ कर अपनी वीरता का परिचय दिया और उनका सीता जी के साथ विवाह हो गया।

विवाहोपरान्त राजा दशरथ ने उनको राज्याधिकार देने के निमित्त राज्याभिषेक की योजना बनाई। कैकेयी ने अपनी दासी मन्थरा की कुमन्त्रणा से प्रभावित होकर महाराज से अपने दोनों वरदान मांगे जिनमे एक के द्वारा भरत को राजतिलक और दूसरे के द्वारा राम को १४ वर्ष का वनवास। राजा दशरथ प्रतिज्ञा भग न कर सके और शोक-ग्रस्त होकर स्वर्गवासी हो गये। श्रीराम १४ वर्ष के लिए लक्ष्मण और सीता सहित वन को चले गये।

वहां छद्मवेश में रावण ने सीता का अपहरण कर लिया। राम ने सुग्रीव और हनुमान के नेतृत्व मे वानर जाति के लोगो की एक विशाल सेना का

निर्माण करके रावण की राजधानी लंका पर आक्रमण कर दिया। रावण अपने परिवार सहित यमपुर को सिधारा और राम ने उसके भाई विभीषण को लंका का अधिपति बना दिया। सीता को लेकर राम अयोध्या को वापिस आ गये।

द्रविड़ अनुश्रुतियो के आधार पर अगस्त्य आदि ऋषियो का राम से भी पहिले दक्षिण मे जाना सिद्ध होता है। तमिल भाषा का व्याकरण अगस्त्य ऋषि ने ही बनाया था। दक्षिण की जनता तो वैदिक सस्कृति का स्वागत करती थी परन्तु राक्षस जाति के लोग इसमें मुख्य बाधा उपस्थित करते थे। राम ने इस जाति का उन्मूलन कर वैदिक संस्कृति को सुदूर दक्षिण तक फैला दिया।

श्रीराम के भाइयों और वंशजो ने जिन विभिन्न राज्यो की स्थापना की उनको हम अपने शब्दों न में लिख कर डा० राजवली पाण्डेय की पुस्तक 'भारतीय इतिहास की भूमिका' से उद्धृत करना उचित समझते हैं।

"राम के भाई भरत को उनके नाना से कैकय (पश्चिमी पजाब) का राज्य मिला। उन्होने सिन्ध को भी अपने अधिकार मे कर लिया। भरत के बेटे तक्ष और पुष्कर ने पश्चिमोत्तर मे गाधार का राज्य जीता और तक्षशिला तथा पुष्करावती नाम की नगरियाँ बसायी। शत्रुघ्न ने यादवो से मथुरा के आस पास का प्रदेश जीता जो शत्रुघ्न के पुत्र शूरसेन के नाम पर शूरसेन कहलाया। लक्ष्मण के बेटे अङ्गद ने वर्तमान बस्ती जिले मे अगदीया नगरी बसायी और चन्द्रकेतु ने गोरखपुर देवरिया मे मल्लराष्ट्र की स्थापना कर चन्द्रकान्ता को अपनी राजधानी बनाया। राम के पुत्र कुश ने कुशावती (कुशि नगर) और लव ने पूर्व मे शरावती नगरी बसायी।

रामचन्द्र आदर्श राजा और उत्तम चरित्र के व्यक्ति थे। वे मर्यादा पुरुषोत्तम और विष्णु के अवतार माने जाते हैं। राम के समकालीन भृगुवशी मुनि वाल्मीकि हुए। उन्होने अपने आदि काव्य रामायण मे राम के चरित्र को अमर बना दिया। राम के बाद मानव वश का गौरव मन्द पड गया। उनके पश्चात् हजारों वर्ष तक यादवो और पौरवो की ही इतिहास मे प्रधानता रही।"

इक्ष्वाकु वंशीय कुछ प्रतापी राजागण

मनु के उत्तराधिकारी के रूप मे महाराज इक्ष्वाकु हुए। इक्ष्वाकु के अनेक पुत्रों में विकुक्षि, निमि और दण्डक बड़े थे। इक्ष्वाकु के पीछे विकुक्षि अयोध्या के राज्यसिंहासन के स्वामी बने। दण्डक ने विन्ध्याचल के दक्षिण में जिस प्रदेश पर अपना अधिकार किया था वह पीछे दण्डकारण्य नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इक्ष्वाकु ने एक बार युवराज विकुक्षि को श्राद्ध के लिए वन में से मांस एकत्रित कर लाने का आदेश दिया। दिन भर काम करने के बाद विकुक्षि को वन में भूख लगी। उसने जो अनेक पशु पक्षियों का मांस एकत्रित किया था उसमे से एक खरहे का मांस खा लिया। शेष सब मांस को लाकर विकुक्षि ने अपने पिता को दे दिया। मांस खा लेने की बात किसी प्रकार ब्राह्मणो को मालुम हो गई। वे बड़े क्रोधित हुए और उन्होंने राजा से कहा कि श्राद्ध कर्म मे उच्छिष्ट मांस अभक्ष्य है। राजा को जब तथ्य का पता चला तो उन्होंने विकुक्षि को घर से बाहर निकाल दिया। निर्वासन दण्ड देते समय राजा ने विकुक्षि से कहा, "तुम ब्राह्मणो को उच्छिष्ट खिलाने के दोषी होने के कारण राज्यकर्म के अयोग्य हो।" वशिष्ठ ने राजकुमार का नाम शशाद रख दिया कारण उसने खरगोश का मांस खा लिया था।

इक्ष्वाकु बहुत वर्षों तक राज्य करने के उपरान्त स्वर्गवासी हुए। उनके मरणोपरान्त विकुक्षि वन से लौट आये और उन्होने फिर बडी नीति और धर्मपूर्वक अनेक वर्षो तक राज्य किया। विकुक्षि के सम्बन्ध में और भी अनेक कथाएँ विष्णुपुराण मे वर्णित हैं परन्तु वे अनूठी और अतिरंजित है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन कथाओं का समावेश ब्राह्मणो की अन्य वर्गों पर (विशेषकर क्षत्रियो पर) पूजनीयता और महनीयता दर्शित करने के उद्देश्य से किया गया है।

विकुक्षि के बाद अयोध्या के राज्यसिंहासन पर उनका प्रबल प्रतापी पुत्र परञ्जय बैठा। उस समय भारतवर्ष के उत्तर की ओर देव जाति के लोगों का राज्य था। उन पर बहुधा दक्षिण दिशा में बसने वाले कृष्णवर्ण के राक्षस लोग आक्रमण किया करते थे जिसके कारण कि देवजाति के लोग बड़े परेशान रहते थे।

आक्रमणकारी राक्षसों से सफलतापूर्वक भिडने के लिए देवो ने परञ्जय के नेतृत्व मे लडने की एक योजना बनाई। वे परञ्जय के पास पहुँचे और राक्षसो से युद्ध मे नेतृत्व करने की प्रार्थना की। परञ्जय ने देवजाति की

की युद्ध में सहायता करना स्वीकार कर लिया। देवताओं ने हर्ष से उ
कन्धे पर बिठा लिया और उनका ककुत्स्थ नाम घोषित किया। परञ्जय
वीरता के कारण देवों को युद्ध में सफलता प्राप्त हुई। इस घटना के बा
ककुत्स्थ की देवराज से घनिष्ट मैत्री हो गई। वस्तुतः देवों की अयोध्या
महाराजाओं से मैत्री तो परम्परागत हो चली थी।

सूर्यवंश मे परञ्जय से छठी पीढ़ी पर श्रावस्त नाम का राजा हुआ
उसने श्रावस्ती नगरी बसाई। यह राप्ती नदी के किनारे अयोध्या से ५
मील दूर है और आजकल सहेत महेत के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ काल बा
सूर्यवंशी राजागण अयोध्या छोड़ कर श्रावस्ती आ गये थे और वहाँ ही राज
करने लगे थे। गौतम बुद्ध बहुत दिनों तक श्रावस्ती मे रहे थे और वहाँ
उन्होंने तत्कालीन राजा प्रसेनजित् को बौद्धधर्म मे दीक्षित किया था।

श्रावस्त का पौत्र कुवलयाश्व भी एक प्रसिद्ध शूरवीर राजा हो गय
है। उसने उत्तङ्क ऋषि को त्रस्त करने वाले धुन्ध नाम के राक्षस को मार
था। इसी से इसका नाम धुन्धमार भी पड़ा। कुवलयाश्व से सातवीं पीढ़ी
यौवनाश्व नाम का एक राजा अति प्रतापी और पराक्रमी हुआ। चन्द्रवंश
राजा मतिनार उसका सम-सामयिक था। उसकी पुत्री गौरा का विवा
यौवनाश्व के साथ हुआ था। यौवनाश्व का गौरा से जो पुत्र हुआ उसी क
नाम मान्धाता हुआ। महाराज मान्धाता सूर्यवंशी राजाओं में बड़े प्रताप
और प्रसिद्ध हुए हैं। वे अपनी अनेक विजयों से एक विशाल देश के अधिपति
होकर चक्रवर्ती सम्राट कहलाये।

महाराज मान्धाता को त्रसदस्यु भी कहते हैं कारण उन्होंने अप
राज्य में दस्युओं का उन्मूलन कर दिया था। दस्युगण उनके भय से कांप
थे। उन्होंने नर्मदा और यमुना के किनारे के नगरों को जीत कर अपने राज
मे मिला लिया था। महाराज मान्धाता ने पश्चिमी प्रदेश में द्रुह्यु के वंश
अरद्ध को युद्ध क्षेत्र मे मार दिया। इस कारण पश्चिमी प्रदेशों ने भी इनक
आधिपत्य स्वीकार कर लिया। अरद्ध के पुत्र गंधार ने गांधार नाम का देश
बसाया था। मान्धाता के काल में अयोध्या पुरी धनधान्य से पूर्ण औ
अपनी समृद्धि की चरम सीमा पर थी।

महाराज क्रोष्टु ययाति के पुत्र यदु के वंशज थे। उनके वंश की
परम्परा मे उत्पन्न महाराज शशिबिन्दु महाराज मान्धाता के समसामयिक
थे। उनकी पुत्री मान्धाता को ब्याही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अपन

विशेष सफलता प्राप्त कर सके थे। राजपूताने में हिन्ता और दुंदिया नामक स्थानों पर मान्धाता का नाम अब भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। मान्धाता का बसाया हुआ तीर्थ ओंकार मान्धाता अभी तक विद्यमान है। प्रतापगढ़ जिले में भी मान्धाता नाम का एक छोटा सा गाँव है जो सम्भवतः मान्धाता द्वारा ही बसाया गया होगा। महाराज मान्धाता का ऋग्वेद में भी उल्लेख है।

एक बार महाराज मान्धाता ने देव जाति के लोगों पर आक्रमण करने की योजना बनाई। देवराज ने उनसे कहा कि आपको पहिले राक्षस लोगों पर विजय प्राप्त करना उचित है। यदि आप समझें तो पीछे देवराज पर भी आक्रमण कर सकते हैं। महाराज मान्धाता देवराज की बातों में आ गये और उन्होंने यमुना तीर पर बसे हुए राक्षसो से युद्ध छेड़ दिया। राक्षस लोग बड़े बलवान् थे। वे शत्रुओं पर लोहे की सलाखों से वार करते थे। युद्ध में राक्षसराज ने मान्धाता पर लोहे के त्रिशूल से प्रहार किया जिससे युद्ध क्षेत्र मे ही महाराज वीर गति को प्राप्त हुए। मान्धाता की अनेक पुत्रियाँ थी जो सब की सब सोमरि ऋषि को ब्याही थी। इस विवाह के सम्बन्ध मे भी पुराणों मे लोमहर्षक, अतिरंजित और आश्चर्यजनक घटनाओं का उल्लेख है। उन घटनाओं का अव्यावहारिकता के कारण वर्णन करना व्यर्थ है।

मान्धाता के तीन पुत्र थे (१) पुरुकुत्स (२) अम्बरीश और (३) मुचकुन्द। पुरुकुत्स अपने पिता के उत्तराधिकारी हुए। वे अपने पिता के समान पराक्रमी और बलशाली थे। गन्धर्व जाति के लोगों ने मध्यभारत के नागवंशियों पर विजय प्राप्त करके उनका प्रदेश अपने अधीनस्थ कर लिया था। नागवंशियो ने महाराज पुरुकुत्स की शरण ली। पुरुकुत्स ने गन्धर्वों से लड़ाई छेड़ दी और शीघ्र ही उनको परास्त करके नागवंशियों का राज्य उनको लौटा दिया। नागवंशियों ने प्रत्युपकार स्वरूप अपनी राजकन्या नर्मदा का विवाह पुरुकुत्स से कर दिया। इन्ही पुरुकुत्स की नर्मदा से पौरा नाम की कन्या का जन्म हुआ जिसे युवावस्था प्राप्त करने पर पुरुकुत्स ने चन्द्रवंशी अमावसु की परम्परा में उत्पन्न महाराज गाधि को जो कान्यकुब्ज के राजा थे ब्याह दी। गाधि महाराज और महारानी पौरा से ऋषि विश्वामित्र की उत्पत्ति हुई। नर्मदा से पुरुकुत्स का एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ जिसका नाम त्रसदस्यु रक्खा गया। त्रसदस्यु का उल्लेख ऋग्वेद में भी आया है। यह चन्द्रवंशी भरत के पुत्र अश्वमेध का समकालीन था। त्रसदस्यु के पुत्र के राज्य

का कोई विशेष उल्लेख नहीं है। उसके पौत्र का नाम अनरण्य था जिसे रावण ने युद्धस्थल में मार डाला था।

अनरण्य के पौत्र का नाम हर्यश्व था। उसके राज्यकाल में विश्वामित्र के शिष्य गालव-ऋषि ने हर्यश्व से गुरुदक्षिणा में २०० श्यामकर्ण घोड़े मांगे। गालव ऋषि के पास एक सुन्दरी राजकन्या थी जिसे उन्होंने हर्यश्व को दे दी। राजा ने ऋषि को २०० श्यामकर्ण घोड़े अर्पण कर दिये। हर्यश्व का इस रानी से वसुमना नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वसुमना का पौत्र त्र्यारुणि था। त्र्यारुणि एक अत्यन्त धर्मनिष्ठ और तेजस्वी राजा हुआ है।

त्र्यारुणि का पुत्र राजकुमार सत्यव्रत कामेन्द्रियों के वशीभूत होकर एक ब्राह्मण की नव विवाहिता वधू को विवाहस्थल से ही ले भागा। जब ब्राह्मणों ने इस बात की राजा से शिकायत की तो राजा ने क्रुद्ध होकर पुत्र को निर्वासित कर दिया और उसे चाण्डालों में रहने की आज्ञा दी। सत्यव्रत नगर से बाहर चाण्डालों में रहने लगा। कुछ काल बाद बड़ा भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा। विश्वामित्र अपनी पत्नी और परिवार को छोड़कर देशाटन को गये हुए थे। दुर्भिक्ष की मार से पीडित होकर उनकी पत्नी अपनी एक सन्तान को बेचने निकली। मार्ग में उसकी सत्यव्रत से भेंट हुई। सत्यव्रत को उसकी दशा पर बड़ी दया आई। उसने ऋषि पत्नी को आश्रम लौट जाने को कहा और स्वयं नित्यप्रति वन्य पशुओं का आखेट कर ऋषि के परिवार के भक्षणार्थ मांस देता रहा। जब विश्वामित्र लौटकर आये तो उन्होंने सत्यव्रत की कृपा से अपने परिवार को दुर्भिक्ष से अप्रभावित देखा। वे सत्यव्रत पर प्रसन्न हुए और उसे आशीर्वाद दिया। सत्यव्रत ने एक बार अनजाने अथवा जानबूझ कर वशिष्ठ मुनि की एक गाय मार कर उसका मांस विश्वामित्र के परिवार को खिला दिया था। इस पर वशिष्ठ बड़े अप्रसन्न हुए और उन्होंने सत्यव्रत का तीन अपराधों के कारण त्रिशंकु नाम रख दिया। वे तीन अपराध इस प्रकार थे (१) ब्राह्मण की वधू का अपहरण करना (२) चाण्डालों में निवास करना तथा (३) कुलगुरु पुरोहित की गाय को मारना।

त्र्यारुणि ने वृद्ध होने पर वनवास करना उचित समझ कर सत्यव्रत को नगर में बुला लिया और बड़ी धूम-धाम से उसका राज्याभिषेक कर दिया। तदुपरान्त त्र्यारुणि तपस्या करने चले गये और अयोध्या में सत्यव्रत त्रिशंकु के नाम से राज्य करने लगे।

हरिश्चन्द्र

महाराज त्रिशंकु की मृत्यु के बाद उनके पुत्र हरिश्चन्द्र अयोध्या के राजसिंहासन पर विराजमान हुए। उनकी रानी का नाम शैव्या था। बहुत काल

तक राज्य करने के उपरान्त भी जब महाराज के कोई पुत्र न हुआ तो उन्होने कुलगुरु वशिष्ठ की सलाह से वरुणदेव की पूजा की और उनसे पुत्र-प्राप्ति के लिए प्रार्थना की। उन्होने यह भी प्रण किया कि यदि उनके सन्तति उत्पन्न होने लगी तो वे सबसे बड़े पुत्र को वरुणदेव को ही अर्पण कर देंगे। दैवात् रानी को प्रसव हुआ और उसके एक पुत्र हुआ जिसका नाम रोहिताश्व रक्खा गया। जब रोहिताश्व बड़ा हुआ तो पिता ने उसे वरुणदेव को अर्पण करना चाहा। जब रोहिताश्व को अपने बलि दिये जाने का समाचार विदित हुआ तो वह भय के मारे घर से भाग गया। थोड़े दिन बाद राजा को भयङ्कर जलोदर हो गया और पेट की पीडा उनको अत्यन्त पीड़ित करने लगी। कुल पुरोहित की सम्मति हुई कि वरुणदेव को बलि दी जानी चाहिये और इसके लिए किसी ब्राह्मण के बालक की व्यवस्था की जाय। एक नृशंस ऋषि अजीगर्त ने अपने मध्यम पुत्र शुनःशेप को धन के बदले इस कार्य के लिए देना स्वीकार कर लिया। निदान शुनःशेप को यज्ञस्तम्भ से बांधा गया। मृत्यु के भय से उस बालक ने भयानक चीत्कार किया। उसके करुण क्रन्दन को सुनकर विश्वामित्र को दया आ गई। उन्होने उससे वरुण देव की स्तुति करने को कहा। उसकी स्तुति करने के उपरान्त दैवात् राजा की पीडा शान्त हो गई और यज्ञ मे बलि देना स्थगित कर दिया गया। रोहिताश्व भी लौट आया। इसके बाद बहुत काल तक हरिश्चन्द्र अपनी दानशीलता के लिए प्रसिद्ध रहे। उन्होने अपने कुलगुरु वशिष्ठ को प्रभूत दान दक्षिणा से सन्तुष्ट किया तथा उनको धनैश्वर्य की दृष्टि से वैभवशाली बना दिया। जब विश्वामित्र ने वशिष्ठ की समृद्धि को देखा तो उन्हें ईर्ष्या उत्पन्न हुई और उन्होने मन में निश्चय किया कि राजा से समस्त राजपाट दान में मांगें और ऊपर से दक्षिणा भी। इस प्रकार उन्होने राजा की दानशीलता की परीक्षा लेने का निश्चय किया।

एक बार राजा आखेट करते हुए एक भयानक वन में पहुँचे। विश्वामित्र से उनकी भेंट हुई। बातों ही बातों में राजा ने समस्त राजपाट धन दौलत विश्वामित्र को दान में देने का सकल्प कर दिया और राजधानी को लौट आये। उसके कुछ ही दिन बाद विश्वामित्र राजधानी मे आये और राजा से प्रतिज्ञापूर्ति के लिए आग्रह पूर्वक कहने लगे। राजा ने राजपाट तो ऋषि के हवाले कर दिया परन्तु दक्षिणा देने को उनके पास कुछ शेष न रहा। परिणामतः राजा, रानी और पुत्र बिकने के लिए काशी ले जाये गये। रानी तो एक ब्राह्मण की दासी के रूप मे बिकी और राजा की वांछित कीमत एक चाण्डाल ने दी। परिणामस्वरूप राजा हरिश्चन्द्र एक चाण्डाल के दास हो गये। वे अपने स्वामी के लिए मृतकों के ऊपर लगे चाण्डाल के कर को उगाहने का काम

करने लगे। एक दिन एक महान् दुर्घटना समुपस्थित हुई। दैवात् पुत्र को सर्प ने काट लिया और शैब्या उसके शव को लेकर श्मशान में आई। राजा ने हृदय पर पत्थर रखकर उससे भी कर माँगा। रानी ने बिलख-बिलख कर अपनी करुण कथा सुनाई परन्तु राजा स्वामी का कर छोड़ने को उद्यत न हुए। उन्होंने यही कहा कि स्वामी के कर को छोड़ना अधर्म होगा। दैवात् रोहिताश्व जी उठा और यह संकट टल गया। इस प्रकार राजा और रानी के असाधारण धैर्य और धर्माचरण से सभी लोग बड़े प्रभावित हुए। राजा और रानी को दासत्व से मुक्त किया गया और विश्वामित्र ने उनका राज्य भी उनको लौटा दिया। इसके बाद अनेक वर्षों तक राज्य करने के उपरान्त महाराज हरिश्चन्द्र दिवगत हुए और रोहिताश्व उनका उत्तराधिकारी हुआ।

रोहिताश्व से लेकर कई पीढ़ी तक किसी राजा का कोई उल्लेखनीय वृतान्त उपलब्ध नहीं है। रोहिताश्व से छठी पीढ़ी पर बाहु नाम के एक राजा हुए। हैहय और तालजंघ नाम के क्षत्रिय राजाओं ने बाहु के राज्य पर आक्रमण कर दिया। शत्रुओं की बाढ़ को रोकने मे बाहु असमर्थ रहे और अपनी गर्भिणी पत्नी के साथ उन्होंने राजधानी छोड़कर और्व मुनि के आश्रम मे प्रवेश किया। अपनी पराजय से उत्पन्न क्षोभ और वन के दुःख न सह सकने के कारण बाहु ने जो अब काफी वृद्ध भी हो गये थे प्राण त्याग दिये। गर्भिणी रानी ने सती होना चाहा परन्तु गर्भवती स्त्री का जीवित अग्नि प्रवेश नीति के विरुद्ध है यह कह कर और्व ऋषि ने रानी का सती होना रुकवा दिया। यथा समय रानी ने पुत्र रत्न को जन्म दिया। उसकी गर्भावस्था में रानी को शत्रुओं ने विष भी दे दिया था इसलिए पुत्र का नाम और्व ऋषि ने सगर (गर=विष सहित) रक्खा।

जब सगर बड़े हुए तो उनके समस्त संस्कार उपनयन आदि और्व ऋषि ने सम्पन्न करा दिये। ऋषि ने उन्हे वेद, शास्त्र और शस्त्र विद्या मे भी दीक्षित किया। राजकुमार सगर अपने जीवन मे एक महान् योद्धा सिद्ध हुए। उन्होंने अपने शत्रु हैहय तालजंघ क्षत्रियो से डटकर बदला लिया। वे उनका पूर्ण रूप से उन्मूलन करने पर तुले हुए थे परन्तु मुनि वशिष्ठ ने दयार्द्र होकर उनको संस्कारच्युत करके बन्धन मुक्त करा दिया। अन्यत्र हमने लिखा है कि उनका यह कार्य अदूरदर्शितापूर्ण था। सगर ने अपनी वीरता के कारण न केवल अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया अपितु अनेक विजयो के परिणाम स्वरूप उसकी सीमाएँ भी बढ़ाईं।

सगर के दो विवाह हुए। उनकी दोनों रानियों के नाम केशिनी और सुमति थे। केशिनी से सगर का जो पुत्र हुआ उसका नाम असमंजस था। वह बड़ा क्रूर था और प्रजाजनों पर अत्याचार करता था। महाराज ने उसे निर्वासित कर दिया। असमंजस का एक पुत्र था जिसका नाम अंशुमान था। सुमति से भी सगर के अनेक पुत्र हुए।

अपनी विजयोल्लास में महाराज सगर ने अश्वमेध यज्ञ रचाया। ईर्ष्या वश देव जाति के राजा ने यज्ञ के अश्व को चुरा लिया और उत्तर दिशा में कपिल मुनि के आश्रम में बाँध दिया। सुमति से उत्पन्न सगर के पुत्रों ने घोड़े को चारो ओर ढूंढा। बहुत समय बाद ढूंढते-ढूंढते वे कपिल ऋषि के आश्रम मे पहुँचे और वहाँ घोड़े को देखकर कपिल मुनि को कपटी चोर आदि अपशब्दो से सम्बोधित करने लगे। कपिल ऋषि अत्यन्त क्रुद्ध हुए। दैवात् उसी समय आश्रम के चहुँ ओर अग्नि प्रज्वलित हो गई और सभी राजकुमार उसमे जल कर भस्म हो गये।

जब बहुत काल तक कोई राजकुमार घोड़ा लेकर वापिस न लौटा तो महाराज सगर ने अपने पौत्र अंशुमान् को खोज में भेजा। अंशुमान् जब ढूँढते ढूँढ़ते कपिल मुनि के आश्रम मे पहुँचे तो अपने पितृव्यो को मृत देखकर बडे दुःखी हुए। वे घोड़े को लेकर अपने पितामह सगर के पास पहुँचे और दुर्घटना का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। महान् क्लेश की स्थिति में सगर ने यज्ञ की पूर्णाहुति की।

सगर के बाद अंशुमान् राज्य के उत्तराधिकारी हुए। वे अपने परिवार की पूर्वकालीन दुर्घटना से सदैव दुःखी रहते थे। कुछ काल बाद वे अपने पुत्र दिलीप को राज्य सिंहासन सौंप कर वन को चले गये। दिलीप और उनके पुत्र भगीरथ निरन्तर इसी प्रयत्न में लगे रहे कि किस प्रकार गंगा की धारा उस क्षेत्र में होकर निकले जिससे उसके पावन जल का स्पर्श कर वह भूमि जिस पर उनके पूर्वजों की अकाल मृत्यु हुई थी पवित्र हो और पूर्वजो को सद्गति प्राप्त हो। अन्त मे भगीरथ के प्रयत्न से गंगा की धारा उस क्षेत्र में होकर वह निकली जिससे उनके पूर्वजों का उद्धार हुआ।

भगीरथ से लेकर पाँचवी पीढ़ी तक कोई राजा ऐसा न हुआ जिसके राज्य की किसी उल्लेखनीय घटना का वर्णन उपलब्ध हो। छठी पीढ़ी पर महाराज ऋतुपर्ण अयोध्या के राजा हुए। ऋतुपर्ण द्यूत क्रीड़ा में बड़े निपुण थे। विदर्भ देश के राजा भीम और निषध देश के राजा नल उनके सम-कालीन

थे। इन राजाओं के काल में कुछ उल्लेखनीय घटनाक्रम घटित हुआ जिसका वर्णन पृथक् रूप से प्रस्तुत करना उचित होगा।

रघुवंश

अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के पौत्र के पुत्र का नाम मित्रसह था। वह बड़ा प्रतापी राजा हुआ है। इसकी रानी का नाम मदयन्ती था। एक बार आखेट के मध्य मित्रसह की एक राक्षस से मुठभेड़ हो गई। राक्षस चोट खाकर भाग गया और मित्रसह से बदला लेने की बात सोचने लगा। एक बार राजा के यहाँ श्राद्ध मे ब्राह्मण भोजन के अवसर पर वह रसोइया का वेश धर कर पाकगृह में पहुँच गया और वहाँ उसने भोजन मे मनुष्य का मांस मिला दिया। यह बात मुनि वशिष्ठ को ज्ञात हो गई। उन्होंने इस कार्य मे राजा को दोषी ठहराया और अपने उस प्रभाव से जो उस समय उनका था उन्होंने राजा को नगर के बाहर राक्षसो के बीच रहने का आदेश दिया। राजा ने खिन्न मन से मुनि की आज्ञा का पालन किया और बहुत काल तक नगर के बाहर रहे। जब मुनिराज ने उनसे लौट आने को कहा तब ही वे वापिस आये। यह घटना राजपुरोहित के सम्मान और राजा पर उनके प्रभुत्व की द्योतक है।

मित्रसह के पुत्र मूलक का भी बड़ा मनोरंजक वृत्तान्त मिलता है। वह बड़ी दुर्बल प्रकृति का राजा था। वह परशुराम जी का समकालीन था। परशुराम जी क्षत्रियो से असन्तुष्ट होकर उनका विनाश कर रहे थे। उन्होंने मूलक को भी अपना लक्ष्य बनाया और सेना लेकर उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया। भय के मारे मूलक भाग खड़ा हुआ और रनिवास मे जाकर छिप गया। वहाँ नग्न स्त्रियो ने उसे चारो ओर से घेर लिया। परशुराम जी ने नंगी स्त्रियो के मध्य घुसना अधर्म समझकर उसे यो ही छोड़ दिया।

मूलक के उत्तराधिकारी दशरथ प्रथम, दशरथ प्रथम के एलविल, एलविल के विश्वसह और विश्वसह के खट्वाङ्ग हुए। राजा खट्वाङ्ग भी बड़े शूरवीर और प्रतापी थे। इनके राज्य काल मे देव और राक्षस जातियो के लोगो मे भीषण संघर्ष हुए। देवो ने राजा खट्वाङ्ग की सहायता और सहयोग से राक्षसो पर विजय प्राप्त की।

खट्वाङ्ग के द्वितीय पुत्र का नाम दिलीप था। ये बड़े धर्म परायण राजा हुए हैं। जब महाराज दिलीप के बड़ी अवस्था प्राप्त कर लेने पर भी

उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति न हुई तो उन्होंने गुरु वशिष्ठ से उसका उपाय पूछा। गुरु ने उनको स्त्री समेत गो सेवा करने की सलाह दी। उनकी रानी का नाम सुदक्षिणा था। वह मगध देश के राजा की कन्या थी। गुरुजी की आज्ञानुसार जब वे दीर्घ काल तक गो की सेवा कर चुके तो दैवात् उनको एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। उन्होंने अपने पुत्र का नाम रघु रक्खा। जब राजकुमार रघु नवयुवक हुए तब सम्राट दिलीप ने उनको अश्व का रक्षक नियुक्त करके ९९ अश्वमेध यज्ञ संपन्न किये। १०० वें यज्ञ के अवसर पर यज्ञ का अश्व देवराज इन्द्र ने पकड लिया। राजकुमार रघु ने युद्ध में देवराज के भी छक्के छुड़ा दिये। देवराज रघु की वीरता पर मुग्ध हो गये और युद्ध को बन्द करने की घोषणा करके अश्व को लौटा दिया। इस प्रकार अयोध्या के राजवंश के देवराज से दृढ़ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गये।

महाराज दिलीप की मृत्यु के उपरान्त रघु सूर्यवंश के राज्य सिंहासन के उत्तराधिकारी हुए। उन्होंने चारों दिशाओं के राजाओं पर विजय प्राप्त करने के अभिप्राय से अपनी दिग्विजय का अभियान चलाया। सबसे पहिले उन्होंने पूर्व की ओर प्रस्थान किया। वे सुह्म और वंग पर विजय प्राप्त करते हुए उत्कल पहुँचे। वहाँ से कलिंग पर चढ़ाई की और उसे भी जीता। इसके बाद पाण्ड्य और केरल को वशीभूत किया। पश्चिमी अभियान में पारसीक, यवन, हूण और काम्बोजों पर आक्रमण कर उन्हें वशवर्ती किया। हिमालय की उत्सव संकेत नाम की जाति पर विजय प्राप्त की और प्राग्ज्योतिष को भी अपनी अधीनता में लाये। इन चारों दिशाओं के सफल विजयाभियान के बाद रघु चक्रवर्ती सम्राट हो गये। उन्होंने विश्वजित् यज्ञ सम्पन्न किया। इस यज्ञ में रघु ने अपना सर्वस्व दान कर दिया। अब उनके राज्यकोष में कुछ भी धन शेष न रहा। इसी दशा में महर्षि वरतन्तु के शिष्य कौत्स ऋषि ने रघु से दान में चौदह करोड स्वर्ण मुद्रा माँगी। यद्यपि रघु के पास कुछ भी न था उन्होंने यह धनराशि मुनि को कुबेर से दिलवादी। कुबेर उस समय यक्षों का राजा था।

रघु के बाद उनके पुत्र अज उनके राज्य के स्वामी हुए। अज का विवाह विदर्भ देश के राजा की छोटी बहिन इन्दुमती के साथ हुआ था। यह विवाह स्वयम्वर की विधि से सम्पन्न हुआ था। रघु के बाद अज ने अनेक वर्षों तक अयोध्या का राज्य किया। रानी के देहावसान के बाद अज ने अपने पुत्र राजकुमार दशरथ को राज्य कार्य सौंप दिया और स्वयं वन को चले गये। वे अपनी स्त्री की मृत्यु के उपरान्त आठ वर्ष तक और जीवित रहे।

मनाने गये परन्तु राम के वापिस न आने पर उनकी खड़ाउओं को साथ लेते आये जिनको उन्होंने राज्यसिंहासन पर प्रतिष्ठापित कर दिया और शत्रुघ्न को राज संचालन के लिए कह आप वन में तपस्या करने के हेतु चले गये।

श्री रामचन्द्र ने सीता और लक्ष्मण सहित कुछ दिन चित्रकूट में विश्राम किया। तदुपरान्त वे कुछ दिन तक ठहरने के लिए उपयुक्त स्थान का चयन करने के हेतु दक्षिण के अरण्य में भ्रमण करते रहे। उन्होंने गोदावरी के किनारे पंचवटी को ठहरने के लिए निश्चित किया और वहाँ रहने लगे।

कुछ ही दिन में रावण को पता लगा कि अयोध्या से दो राजकुमार एक परम सुन्दरी स्त्री सहित वन में आये हुए हैं। उसके मन में सीता को अपहरण करने की बात आई। दैवात् एक दिन श्रीराम मृगया के लिए गये हुए थे। लक्ष्मण जी भी उन्हें खोजने के लिए चले गये थे। उनकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर रावण ने भिखारी का छद्म वेष बनाकर सीता का अपहरण कर लिया। जटायु नामक एक व्यक्ति ने रावण को रोका परन्तु वह रावण जैसे शक्तिशाली शत्रु का प्रतिरोध करने में असफल रहा और रावण ने अपनी तीक्ष्ण तलवार की धार से उसे मौत के घाट उतार दिया।

श्रीराम और उनके पीछे लक्ष्मण जब लौटकर आये तो वे सीता को वहाँ न देखकर बडे चिन्तित हुए। उन्होंने वहाँ बड़ी छानबीन की परन्तु सीता का कही पता न चला। ढूंढते-ढूंढते वे दक्षिण किष्किंधापुरी की ओर पहुँचे। वहाँ ऋष्यमूक पर्वत पर श्रीराम का सुग्रीव से मिलन हुआ। बहुत शीघ्र राम की सुग्रीव के साथ मैत्री हो गई। सुग्रीव की सहायतार्थ राम ने उसके बडे भाई बालि से युद्ध किया और उसे मार कर सुग्रीव को पम्पा के राज्य का अधिपति बनाया। सुग्रीव के सेनानायक हनुमान श्रीराम के परम प्रिय सेवक और भक्त हो गये। उन्होने सीता की खोज मे बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया। वे लङ्का पहुँचे और वहाँ सीता का पता लगाकर उनसे मिल आये। उन्होने सीता को आश्वस्त भी किया कि राम बहुत शीघ्र रावण से युद्ध करके उनकी मुक्ति की व्यवस्था करेंगे।

इधर रावण ने सीता को अनेक प्रलोभनो और यातनाओ द्वारा उत्पीडित कर यह प्रयत्न किया कि वह किसी प्रकार उसकी बात मान ले और उसकी पटरानी बन जाय। परन्तु उस महान् सती साध्वी को यह बात मृत्यु से भी अधिक दुखप्रद सदैव ही प्रतीत हुई और उसने येनकेन प्रकारेण अपने सतीत्व की रक्षा की। वह सदैव दुःखी चित्त से अपने आराध्यदेव पति का स्मरण करती हुई अपने शोक ग्रस्त जीवन को व्यतीत करती रही।

जब राम को पता लगा कि सीता रावण के यहाँ है तो उन्होंने सुग्रीव और उसके मित्र जाम्बवान् की सहायता से एक विशाल सेना तैयार की और लङ्का पर चढ़ाई कर दी। रावण का भाई विभीषण भी राम से आ मिला। इससे राम को लंका के सब भेद मालुम हो गये। बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ। एक एक करके रावण की सेना के महान् सेनाध्यक्ष कुम्भकर्ण, मेघनाथ आदि सभी युद्ध मे खेत रहे। रावण ने भयङ्कर प्रतिरोध किया परन्तु राम के आगे युद्ध में अधिक समय तक न टिक सका और मारा गया। राम ने विभीषण को लङ्का का राजा बनाया और स्वयं सीता और लक्ष्मण सहित अयोध्यापुरी को वापिस आ गये।

उनके वहाँ पहुँचने के पूर्व भरत उनसे आगे जाकर मिले। दोनों भाइयों के मिलन का समारोह बड़ा अपूर्व था। भरत ने राम को उनका राज्य लौटा दिया। यह राज्याभिषेक बडी धूम-धाम से मनाया गया था।

श्री रामचन्द्र ने अपने राज्य में प्रजारंजन के इतने महत्वपूर्ण कार्य किये कि तब ही से रामराज्य प्रजाजनों के सर्वाधिक हित के राज्य का प्रतीक ही समझा जाने लगा। कुछ दिन बाद एक गुप्तचर ने यह समाचार दिया कि प्रजा के कुछ वर्ग में इस बात की चर्चा है कि बहुत दिनों तक शत्रु के घर मे रहने के बाद सीता को ग्रहण करना उचित न था। लोकापवाद से बचने के लिए और प्रजा रञ्जन का एक सर्वोच्च उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए राम ने गर्भवती सीता को अकेला वन में छुड़वा दिया। प्रजा रञ्जन की दृष्टि से किया हुआ यह कार्य आधुनिक विद्वानो की दृष्टि में कदापि उचित नही ठहराया जा सकता है। प्रथम तो वह जनमत जिसके आगे रामचन्द्र झुक गये बुद्धिहीन तर्कों पर आधारित था। दूसरे राम का यह निर्णय सीता के प्रति घोरातिघोर अन्याय था जो कि श्रीराम जैसे न्यायपरायण और कर्तव्यनिष्ठ राजा के लिए कदापि शोभनीय न था।

निर्जन वन में त्यक्त सीता को वाल्मीकि ऋषि ने शरण दी। उचित समय पर सीता के दो पुत्ररत्न उत्पन्न हुए। ऋषि ने उनके नाम कुश और लव रक्खे। उनके लालन-पालन, और शिक्षा दीक्षा की व्यवस्था भी ऋषि ने आश्रम में ही कर दी। धीरे-धीरे दोनो तेजस्वी बालक बड़े होने लगे।

इधर रामचन्द्र जी ने अश्वमेध यज्ञ का समारम्भ कर दिया। सीता के स्थान पर उनकी एक स्वर्णमयी प्रतिमा रक्खी गई। जब यज्ञ का अश्व वाल्मीकि के आश्रम के निकट पहुँचा तो कुश और लव ने उसे आश्रम में बाँध

दिया और युद्ध करने को उद्यत हो गये। तेजस्वी बालकों ने अपूर्व योग्यता दिखाई। एक एक करके राम की सेना के समस्त वीर धराशायी हो गये। जब राम स्वयं आये तो बालकों को बरजते हुए ऋषि वाल्मीकि और सीता ने कहा कि ये तुम्हारे पिता हैं अतः अब युद्ध बन्द करो। बड़े रोमांचपूर्ण वातावरण मे पिता का अपने पुत्रों से मिलन हुआ। वाल्मीकि के अनुरोध पर और प्रजाजनो के ही आग्रह पर राम सीता को पुनः ग्रहण करने को उद्यत हो गये परन्तु सीता अब जीवित न रहना चाहती थी। उसने धरती मे समा कर अपनी इहलीला समाप्त कर ली। राम ने कुश और लव को अपने योग्य पुत्र के रूप मे ग्रहण किया और बहुत दिनो तक अयोध्या का राज्य करते रहे।

रामचन्द्रजी की भाँति उनके शेष तीनो भाइयो के भी दो दो पुत्र हुए। श्रीराम ने अपने जीवन-काल मे ही अपने पुत्रों और भतीजो को देश के विभिन्न भागो का राज्य सुपुर्द कर दिया। उन्होंने पुत्रो मे कुश को कुशावती का जो विन्ध्याचल के दक्षिण मे है राज्य दिया और लव को शरावती का। शाक्यगण कदाचित् लव के ही वंशज थे। इसी कुल में गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था। लव के वंशजो ने ही सम्भवतः कपिलवस्तु को अपनी राजधानी बनाया था। भरत के बड़े पुत्र तक्ष को तक्षशिला का और छोटे पुत्र पुष्कर को सिन्धु नदी के किनारे पुष्कलावती का राज्य दिया गया। शत्रुघ्न के बड़े पुत्र शत्रुघाती को मथुरापुरी का और छोटे पुत्र सुबाहु को विदिशा (भेलसा) का राज्य मिला। लक्ष्मण के बड़े पुत्र अङ्गद ने मल्ल देश का और छोटे चन्द्रकेतु ने चन्द्रकान्ता नाम की नगरी का राज्य प्राप्त किया। इस प्रकार दशरथ के आठ पौत्रो को देश के विभिन्न भागो का राज्य मिला और सूर्यवंश आठ विभिन्न शाखाओ मे विभक्त हो गया।

राम के बाद कुश ने ब्राह्मणो और मन्त्रियो की सलाह से कुशावती नगरी छोड दी और अयोध्यापुरी आकर सूर्यवंश का सिंहासन सम्हाला। कुश का विवाह राजा कुमुद की छोटी बहिन कुमुद्वती से हुआ था। उनके अतिथि नाम का एक पुत्र हुआ। राक्षसो से युद्ध करते हुए कुश युद्धस्थल मे ही दुर्जय नाम के एक राक्षस के हाथो मारे गये। कुश के बाद अतिथि अयोध्या के राज्य सिंहासन पर आसीन हुए। अतिथि ने • निषध देश की राजकुमारी के साथ विवाह किया और उनके वंशज चिरकाल तक अयोध्या का राज्य करते रहे।

अतिथि के बाद कुछ तेजस्वी राजा हुए हैं। उनसे चौदहवी पीढ़ी मे व्युषिताश्व नाम के राजा प्रतापी हुए हैं। इन्होने काशी मे निवास किया और महादेव जी की पूजा अर्चना मे अपना जीवन व्यतीत किया। इनके पुत्र

हिरण्यनाभ बड़े धुरन्धर विद्वान् और वेदज्ञशिरोमणि हुए हैं। इन्होंने जैमिनि से योग विद्या का अध्ययन किया था और अजमीढ़ के वंशज सन्नतिवान् के पुत्र कृत को योग विद्या सिखलाई थी। प्रसिद्ध मुनि याज्ञवल्क्य भी इन्ही के शिष्य थे। जैमिनि ने हिरण्यनाभ के पुत्र पुष्य को भी योग विद्या सिखलाई थी।

पुष्य के पुत्र ध्रुवसन्धि को आखेट का व्यसन था। उन्हे मृगया करते समय किसी सिंह ने भक्षण कर लिया। उस समय उनका पुत्र सुदर्शन निरा बालक था। सुदर्शन जब बड़े हुए तो उन्होने शत्रुओ पर आक्रमण कर दिया और अपने राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया। इनका अग्निवर्ण नाम का एक पुत्र था जिसके युवास्था प्राप्त कर लेने पर महाराज सुदर्शन ने सन्यास ग्रहण कर लिया। अग्निवर्ण राज्य प्राप्त करके विलासिता के गहरे गर्त मे जा पडा और अतिशय स्त्री प्रसंग से क्षय रोग का शिकार हो गया। उस भयङ्कर रोग के परिणामस्वरूप वह युवावस्था मे ही इस संसार से कूच कर गया। जब वह मरा उसकी रानी गर्भवती थी। उचित समय पर रानी के शीघ्र नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। शीघ्र ने अपने जीवन काल मे सूर्यवश की कीर्ति बढाई और उसके वंशजो ने चिरकाल तक अयोध्या का राज्य किया।

शीघ्र से दसवी पीढ़ी पर बृहद्बल नाम का राजा हुआ। यह महाभारत कालीन था। जिस समय महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था भीमसेन पूर्व दिशा मे विजयाभिमान करने को भेजे गये थे। बृहद्बल का भीमसेन से युद्ध हुआ जिसमे बृहद्बल पराजित हुआ। उसे सम्राट युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी थी तथा भेट लेकर यज्ञ मे अन्य विजित राजाओ की भाँति उपस्थित होना पड़ा था। पीछे कौरवों और पाण्डवो का जो महाभारत का युद्ध हुआ था उसमे बृहद्बल कौरवों की ओर से लड़ा था और पाण्डव अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के हाथ से मारा गया था। बृहद्बल की कई पीढी बाद महाराज दिवाकर जब अयोध्या के राजसिहासन पर विराजमान थे तब परीक्षित के वंशज अधिसीम कृष्ण और मगधराज जरासन्ध के वशज सेनजित् इनके समकालीन राजागण थे।

कुछ और समय बाद इस राजवंश ने अयोध्या नगरी को छोड कर श्रावस्ती को अपनी राजधानी बनाया। यह अयोध्या से ५८ मील दूर थी। इसे सूर्यवशी किसी श्रावस्त नाम के राजा ने बसाया था। उसका वशज प्रसेनजित् गौतम बुद्ध का समकालीन था। प्रसेनजित् की बहिन मगध सम्राट बिम्बिसार को ब्याही थी। पुराणो मे उल्लेख है कि सूर्यवश का अन्तिम राजा सुमित्र था।

चन्द्र वंश

पुराणों के अनुसार ब्रह्मा के दो पुत्र थे (१) मरीचि और (२) अत्रि। मरीचि से सूर्यवंश की परम्परा चली और अत्रि से चन्द्रवंश की।

अत्रि का पुत्र चन्द्रमा था जिसे प्रजापति ब्रह्मा ने सब ब्राह्मणों और औषधियों का स्वामी बनाया। चन्द्र ने अपने राज्य की महिमा बढ़ाने के लिए राजसूय यज्ञ किया था। उसने एक बार यौवन के उन्माद में देवजाति के गुरु बृहस्पति ऋषि की सुन्दरी पत्नी तारा का अपहरण कर लिया था। देवर्षि बृहस्पति तथा देवों के राजा इन्द्र ने चन्द्रमा से तारा को लौटाने के लिए कहा तथा बहुत ऊँच नीच समझाया परन्तु चन्द्रमा ने किसी की न सुनी। इस पर देवराज सेना लेकर चन्द्र से लड़ने को आमादा हुए। असुरों के गुरु शुक्राचार्य देवर्षि बृहस्पति से द्वेष मानते थे। उन्होंने असुरों की सेना के साथ युद्ध में चन्द्रमा का पक्ष ग्रहण करना चाहा। इस प्रकार तारा के लिए देवताओं और असुरों मे घोर युद्ध छिड़ गया। अन्त में ब्रह्मा ने बीच बचाव करा दिया और दोनों में सौहार्द स्थापित हो गया। तारा बृहस्पति जी को लौटा दी गई। इसी तारा से चन्द्र का एक अत्यन्त सुन्दर और तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। इसका नाम बुध रक्खा गया। उपरोक्त पौराणिक वर्णन में अलंकारिकता है। ब्रह्मा के दो पुत्रों मरीचि और अत्रि से क्रमशः सूर्य और चन्द्र की स्थापना की बात स्थिर करने से तो यह प्रतीत होता है कि दोनों वंशों का आरम्भ एक ही समय में हुआ। परन्तु वस्तु स्थिति इस प्रकार नहीं है। सूर्यवंश की लगभग ३५ पीढ़ियों के गुजर जाने के बाद ही चन्द्रवंश का आविर्भाव होता है। ऐसा प्रतीत होता है सूर्यवंशी महाराज सगर के समय मे चन्द्रवंशी महाराज पुरूरवा ने अपना राज्य प्रतिष्ठान मे स्थापित किया।

बुध ने युवावस्था प्राप्त कर मनु की कन्या इला से विवाह किया। ये मनु सूर्यवंशी राजा अम्बरीष के समय कोई राजा थे। बुध तथा इला से पुरूरवा नामी पुत्र हुआ जो बड़ा धर्मात्मा, दानी एवं प्रतापी राजा हुआ है। इला को मनु से प्रतिष्ठान नामक नगर का राज्य मिला था। इला ने अपने पुत्र पुरूरवा को प्रतिष्ठान का ही राजा बनाया। यही प्रतिष्ठान नगरी बहुत काल तक चन्द्रवंशी राजाओं की राजधानी रही। प्रयाग के समीप वर्तमान झूसी को ही प्रतिष्ठान कहते हैं।

एक बार उर्वशी नाम की एक अप्सरा को महाराज पुरूरवा ने किसी असुर के बन्धन से छुड़ाया। उर्वशी महाराज के इस उपकार से प्रभावान्वित

हुई और महाराज उर्वशी के रूप पर मुग्ध हो गये। दोनों में परस्पर बड़ी प्रीति हो गई। एक बार उर्वशी के कारण महाराज को देव भूमि में जाना पड़ा। वहाँ से उन्होंने अरणी के माध्यम से अग्नि प्रज्वलित करने की कला सीखी जिसे उन्होंने अपने देश भारत में प्रचलित किया।

पुरूरवा के छः पुत्र हुए। आयु, धीमान्, अमावसु, विश्वासु, शतायु और श्रुतायु। आयु इन सब में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ थे। आयु के वशजों का राज्य बहुत काल तक प्रतिष्ठान में चलता रहा। अमावसु की वंश परम्परा में कुशाम्ब नाम के राजा हुए जिन्होने कौशाम्बी नगरी बसाई। पुरूरवा के पुत्रों मे आयु और अमावसु के वंश ही गौरवशाली हुए शेष पुत्रों का विशेष वर्णन उपलब्ध नही है।

महाराज आयु ने राहु की पुत्री प्रभा से विवाह किया। उनके पाँच पुत्र हुए। उनके नाम थे नहुष, क्षत्रवृद्ध, रम्भ, रजि और अनेनस्। ज्येष्ठ होने के कारण नहुष राज्य के उत्तराधिकारी हुए।

क्षत्रवृद्ध के वशजों ने काशी मे अपना राज्य स्थापित किया। रम्भ के कोई पुत्र नही हुआ। रजि ने देवताओं का पक्ष लेकर असुरों को युद्ध मे परास्त किया। यद्यपि देवताओं ने रजि का सम्मान किया महाराज रजि ने देवताओ का स्वामी बनने अथवा उनका राज्य हड़पने की कोई चेष्टा नही की। रजि के अनेक पुत्र हुए जिन्होंने अपने पिता की नीति के विपरीत अपने पराक्रम से देवताओं का राज्य छीन लिया। परन्तु वे अपना राज्य स्थिर करने मे असफल रहे। देवताओं ने बृहस्पति की सहायता से उनके सब मनसूबे विफल कर दिये।

महाराज नहुष बड़ी उच्च कोटि के शासनकर्ता थे। एक बार इन्द्र की अनुपस्थिति मे देवताओं ने महाराज नहुष की प्रशासन क्षमता के कारण उन्हे अपना राजा चुना। नहुष स्वदेश छोड़कर देवताओ की भूमि मे गये परन्तु वे वहाँ देवराज इन्द्र की परम सुन्दरी रानी शची के रूप को देखकर मोहित हो गये। देवताओ ने नहुष को बहुत समझाया परन्तु वे न माने और उन्होने शची को प्राप्त करने की चेष्टा की। वे ब्राह्मणो से अपनी पालकी उठवा कर शची के भवन की ओर चले। मार्ग मे उन्होने ब्राह्मणों से शीघ्र चलने को कहा और आतुरता में अगस्त्य नामी एक विप्र के लात जमा दी। इस पर ब्राह्मण बिगड उठे और उन्होने राजा को पालकी से ढकेल दिया तथा देवताओ से मन्त्रणा करके उन्हे देवभूमि से भी निकाल दिया। इस घटना से नहुष का पतन हुआ।

रायणता के लिए विख्यात था। यद्यपि उसकी राजधानी माहिष्मती ही थी तथापि उसकी विजयों के फलस्वरूप उसके राज्य की सीमाएँ बहुत बढ़ गई थी। उसने राक्षसराज रावण को परास्त कर बन्दी बना लिया था और कुछ काल तक बन्दीगृह में रखकर ही उसको मुक्त किया था। अपने जीवन के अन्तिम दौर मे उसे कुछ अभिमान हो गया और वह ब्राह्मणो से वैर मानने लगा था।

इक्ष्वाकु वंशीय राजा रेणु की सत्या नाम की एक कन्या तो सहस्रार्जुन को विवाही थी और दूसरी रेणुका नाम की कन्या का विवाह जमदग्नि ऋषि के साथ हुआ था। एक बार रेणुका अपनी बहिन से मिलने माहिष्मती आई। वहाँ उसे अपनी बहिन के वैभव को देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उसके बहनोई ने उसका बडा आदर सत्कार किया, रेणुका की भी इच्छा हुई कि वह भी इसी प्रकार अपनी बहिन और राजा को अपने पति के आश्रम मे बुलावे और उनका आतिथ्य सत्कार करे। उसने अपना मनोरथ अपनी बहिन को कह सुनाया। बहिन ने उसकी बात की यह कह कर उपेक्षा कर दी कि उसके दरिद्री सन्यासी पति राजा और उसके साथियों का किस प्रकार आतिथ्य सत्कार करेंगे। परन्तु रेणुका को तो अपने आतिथ्य का बदला चुकाना ही था, उसने अपने पति से आग्रह किया कि वह राजा और उसकी पत्नी को निमन्त्रण भेजें। जमदग्नि ने अपनी पत्नी के आग्रह को टालना उचित न समझा और राजा अर्जुन को उसकी रानी व सेना सहित निमन्त्रित कर दिया। राजा अपनी रानी को लेकर सेना सहित आश्रम मे आ गये। जमदग्नि ने उनका बड़ा आतिथ्य सत्कार किया जिससे राजा व रानी अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। उन्होने देखा कि ऋषि के पास एक गाय बड़े काम की है तथा उसके दिये हुए प्रचुर दूध से अनेक प्रकार की सामग्री शीघ्र ही बन जाती है तो उन्होंने लोभवश उस गाय को जमदग्नि ऋषि से माँगा। ऋषि ने अपने दैनिक उपयोग की वस्तु को देने से इन्कार कर दिया। इस पर राजा उस गाय को बलात् ले गये। जमदग्नि के पुत्र परशुराम उस समय वहाँ मौजूद न थे। जब वे आये तो गाय को वहाँ न देखकर अपने पिता से उसके विषय मे पूछने लगे। जमदग्नि ने सारा वृत्तान्त आद्योपान्त कह सुनाया। परशुराम उस वृत्तान्त को सुनकर बड़े क्रुद्ध हुए और अपने अस्त्र-शस्त्र ठीक करके सहस्रार्जुन से युद्ध करने चल दिये। उस युद्ध मे जो परशुराम और सहस्रार्जुन के मध्य हुआ सहस्रार्जुन का निधन हो गया। इस प्रकार एक प्रतापी राजा का अन्त हो गया।

सहस्रार्जुन के पुत्रो मे जयध्वज, मधु, वृषण, शूर और शूरसेन बड़े पराक्रमी हुए। तालजंघ जयध्वज का पुत्र था, उसके नाम पर तालजंघ क्षत्रियों

का एक वर्ग उदित हुआ। ये तालजंघीय क्षत्रिय बड़े बलिष्ठ थे। इन्होंने इक्ष्वाकुवंशी राजा बाहु का वध करके उनकी गर्भवती पत्नी को विष दे दिया था। उनकी पत्नी ने और्व मुनि के आश्रम में एक पुत्र को जन्म दिया, जिसने और्व मुनि से अनेक विद्याओं की शिक्षा पाई और जो सगर के नाम से विख्यात हुआ। सगर ने अवसर पाकर तालजंघ क्षत्रियों से अपने पिता के वध का बदला ले लिया। तालजंघ क्षत्रियों में वीति होत्र और भरत नाम के राजागण हुए। भरत का पुत्र मधु हुआ। मधु से माधव वंश के क्षत्रिय और मधु के पुत्र वृष्णि से वृष्णिवंशी क्षत्रिय भारत के अनेक भागों में फैल गये।

सहस्रार्जुन के वंशज हैहय और तालजंघ के नाम से प्रसिद्ध हुए और उनका राज्य बहुत काल तक माहिष्मती में चलता रहा। महाभारत के युद्ध के समय माहिष्मती में नील नाम का राजा राज्य करता था। वह युद्ध में कौरवों की ओर से लड़कर वीरगति को प्राप्त हुआ था। यही हैहयवंशी क्षत्रिय पीछे और पूर्व की ओर बढ़े और चेदि के कलचुरियों के नाम से मध्यभारत में बहुत काल तक राज्य करते रहे। कलचुरियों ने विक्रमी सम्वत् ३०६ चेदि या कलचुरि नाम का नया सम्वत् भी चलाया था।

यदु के द्वितीय पुत्र क्रोष्टु थे। इसके वंशजों ने मध्यभारत के अनेक प्रदेशों पर राज्य किया और जो नगरियाँ बसाईं उनमें चेदि, मथुरा, द्वारका, विदर्भ, भोजकूट आदि प्रसिद्ध हैं।

क्रोष्टु से छटी पीढ़ी में महाराज शशिबिन्दु एक बहुत ही शक्तिशाली सम्राट हुए हैं। ये इक्ष्वाकुवंशी महाराज मान्धाता के समकालीन थे। इनकी पुत्री बिन्दुमती महाराज मान्धाता को विवाही थी। मान्धाता के बिन्दुमती से पुरुकुत्स, अम्बरीश, मुचुकुन्द आदि बड़े वैभवशाली पुत्र हुए।

शशिबिन्दु के पौत्र शिनेयु के पौत्र रुक्मकवच भी मध्यभारत के एक परम पराक्रमी राजा हो गये हैं जिनकी वीरता के आगे कोई वीर न ठहर सकता था। रुक्मकवच के पुत्र पराजित हुए जिनके पाँच परम बलिष्ठ और प्रतापी पुत्र हुए। सबसे बड़े का नाम रुक्मेषु था जो महाराज पराजित का उत्तराधिकारी हुआ। दूसरा पुत्र उसी के आश्रित होकर रहा। तीसरे पुत्र ज्यामघ को देश त्याग कर दक्षिण पूर्व की ओर जाना पड़ा। उसने ऋक्ष पर्वत पर मार्तिकावती नाम नगरी बसायी और वहाँ ही राज्य करने लगा।

महाराज ज्यामघ ने काशीराज की कन्या शैब्या से विवाह किया और अपनी वीरता के कारण बड़ी ख्याति पाई। वे अपनी स्त्री से बड़ा स्नेह करते थे और उसको किसी प्रकार अप्रसन्न होते न देख सकते थे। एक बार

वे युद्ध से लौटते समय शत्रुओं द्वारा परित्यक्त एक सुन्दरी युवती कन्या को अपने रथ में बैठा कर ले चले। जब उनका रथ नगर के समीप पहुँचा तो शैब्या दूर से ही रथ में बैठी स्त्री को देखकर चिल्ला उठी कि यह आप किस स्त्री को रथ में बैठा कर लाये हैं ? भय के मारे हठात् राजा के मुँह से निकल पड़ा, "यह तुम्हारी पुत्रवधू है।" इससे शैब्या के मन को सन्तोष हुआ। उस युवती का विवाह युवराज विदर्भ के साथ कर दिया गया। इसी विदर्भ ने अपने नाम पर विदर्भ देश की स्थापना की।

विदर्भ के क्रथ, कैशिक और रोमपाद नामक तीन पुत्र हुए। रोमपाद के वंशज चिदि नाम के एक राजा ने चिदि नाम की एक नगरी बसाई जिसका पीछे चेदि नाम पड़ा। चिदि का पुत्र चैद्य था जिसको दमघोष भी कहते थे। इसी दमघोष का पुत्र शिशुपाल था जिसने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण के प्रति अपशब्द कहे थे और श्रीकृष्ण ने दण्डस्वरूप उसका सुदर्शन चक्र से शिरच्छेद कर दिया था।

क्रथ के वंशजों का राज्य विदर्भ में रहा। इसी वंश में महाराज भीम हुए जिनकी कन्या दमयन्ती निषध देश के राजा वीरसेन के पुत्र महाराज नल को विवाही थी। राजा भीम अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के समकालीन थे। क्रथ के ही वंश में कुण्डिनपुर के राजा भोज थे जिनकी छोटी बहिन इन्दुमती ने स्वयम्वर में रघु के पुत्र अज को अपना पति चुना। यही इन्दुमती महाराज दशरथ की माता थी। इसी क्रथ के वंश में कुण्डिनपुर के राजा भीष्मक हुए हैं जिनकी कन्या रुक्मिणी का हरण करके श्रीकृष्ण द्वारकापुरी लाये और वहाँ उसके साथ विवाह किया। रुक्मिणी के भाई रुक्म ने भोजकट नाम का नगर बसाया।

क्रथ से बाईसवीं पीढ़ी पर सत्वान् नाम के राजा हुए जिनके पुत्र सात्वत दक्षिण छोड के उत्तर पश्चिम की ओर बढ़े। सात्वत ने मथुरापुरी को अपनी राजधानी बनाया। मथुरा को महाराज रामचन्द्र के भाई शत्रुघ्न ने बसाया था। पीछे मथुरा के प्रदेश का नाम शूरसेन पड़ गया और मथुरा सात्वतवंशी यादवों की राजधानी हो गई।

ययाति के द्वितीय पुत्र तुर्वसु को उत्तर पूर्व देश का राज्य मिला था। यह वंश अधिक काल तक न चला। अन्तिम राजा के कोई पुत्र न हुआ। उसकी एक पुत्री थी जो कुरु-पाचाल देश के राजा को विवाही थी। इसी पुत्री से महाराज दुष्यन्त का जन्म हुआ था और वे अपने नाना के राज्य के भी उत्तराधिकारी बने।

ययाति के तृतीय पुत्र द्रुह्यु को पश्चिमी प्रदेश के भाग मिले थे। द्रुह्यु के वंशजों ने उत्तर की ओर भी कदम बढ़ाये और वे पश्चिमोत्तर प्रदेश के स्वामी बने। द्रुह्यु के वंश मे एक अरुद्ध नाम का राजा प्रतापी हुआ था जो महाराज मान्धाता से युद्ध मे मारा गया था। अरुद्ध के पुत्र गन्धार ने मान्धाता के भय से सुदूर पश्चिम मे अपना नया राज्य बसाया जो उसी के नाम पर गान्धार नाम से प्रसिद्ध हुआ। गन्धार के वंश में ही राजा सुबल हुए जिनकी पुत्री हस्तिना पुर के राजा धृतराष्ट्र को विवाही थी। सुबल के पुत्र का नाम शकुनि था। शकुनि दुर्योधन का मामा था। वह अधिकतर दुर्योधन के पास ही उसके मित्र के रूप में रहता था और उसे पाण्डवो के विरुद्ध भडकाता रहता था। एक प्रकार से यह शकुनि ही महाभारत के युद्ध की जड था। महाभारत के युद्ध में शकुनि की युधिष्ठिर के सबसे छोटे भाई सहदेव के हाथ से मृत्यु हुई थी।

ययाति के चतुर्थ पुत्र अनु को उत्तर की ओर का देश मिला था। अनु के वंशजो ने पूर्व और पश्चिम की ओर बढकर भी अपना राज्य फैलाया। अनु की वंश परम्परा मे सृञ्जय नाम का एक पराक्रमी राजा हुआ है जिसके नाम पर एक प्रसिद्ध वंश की परम्परा प्रचलित हुई।

अनु के वंश में महामना नाम के एक राजा के उशीनर और तितिक्षु नाम के दो पुत्र हुए। उशीनर ने पश्चिम की ओर अपने राज्य का विस्तार किया और अटक या पश्चिम काशी को अपनी राजधानी बनाया। उशीनर के पुत्र शिवि भी इतिहास प्रसिद्ध राजा हुए हैं। इन्होने इसी नाम का एक प्रदेश बसाया जो वर्तमान् सिन्ध में सक्खर के पास है। शरणागत को त्राण देने के विषय में महाराज शिवि की बड़ी ख्याति रही है और इसके कई उपाख्यान भी इतिहास मे प्रसिद्ध हैं।

शिवि के सुवीर, केकय और मद्र नाम के तीन पुत्र थे। इनमें से प्रत्येक ने अपने नाम पर प्रदेश बसाकर राज्य स्थापित किया। सुवीर ने दक्षिण और पश्चिम की ओर सिन्ध में अपना राज्य स्थापित किया। केकय ने कांगड़ा की घाटी और काश्मीर के कुछ भाग में अपना नया राज्य बनाया। केकय के वंश मे महाराज अश्वपति एक प्रसिद्ध राजा हुए हैं। इनकी कन्या कैकेयी का विवाह महाराज दशरथ से हुआ था। कैकेयी भरत की माता थी। इसी की कलह के कारण श्रीराम का राज्याभिषेक न हो पाया और उन्हें चौदह वर्ष के लिए वन में निवास करना पडा।

अश्वपति के बाद केकय वंश में युधाजित् भी प्रसिद्ध राजा हुए हैं। इनका गन्धर्व जाति के लोगो से इतना भीषण युद्ध हुआ कि उसमे इनकी मृत्यु

ही हो गई। श्री रामचन्द्र ने अपने भाई भरत को सेना सहित गन्धर्वों को को पराजित करने भेजा। भरत ने गन्धर्वों का दमन कर वहाँ पर एक राज्य की स्थापना की जिसको उनके वंशज अनेक पीढ़ियों तक भोगते रहे। केकय वंश का श्रीकृष्ण से भी सम्बन्ध था। श्री कृष्ण के पिता वसुदेव की बहिन श्रुतकीर्ति केकयवंश के किसी राजा को विवाही थी। श्रुतकीर्ति के पुत्र सन्तर्दनादिक राजकुमार हुए जो महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की ओर से लड़े और मारे गये। प्राचीन कैकय जाति के लोग ही आजकल कश्मीर और सिन्धु में घक्कर जाति के नाम से प्रसिद्ध हैं।

शिवि के तृतीय पुत्र मद्र ने इरावती और चन्द्रभागा नाम की नदियों के प्रदेश पर अपना राज्य बनाया। इन दोनों नदियों को आजकल क्रमशः रावी और चिनाव कहते हैं। इस प्रदेश का नाम उसके संस्थापक के नाम पर मद्र ही पड़ा। हस्तिनापुर के महाराज पाण्डु को इसी देश की राजकुमारी माद्री विवाही थी। माद्री से पाण्डु के नकुल और सहदेव नाम के दो पुत्र हुए थे। माद्री के भाई का नाम शल्य था जो महाभारत के युद्ध में कौरवों की ओर से लड़ा था और युधिष्ठिर के हाथों मारा गया था।

तितिक्षु का पुत्र उपद्रथ हुआ। उसके वंश में बलि नाम का एक राजा हुआ जिसके छ. पुत्र अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सुह्य, पौण्ड्र और उड्र नाम के हुए। उन्होंने दक्षिण पूर्व में अनेक नये राज्य स्थापित किये।

अङ्ग का बसाया हुआ वह देश है जो आजकल भागलपुर जिला या उसके आस पास का इलाका है। वङ्ग द्वारा स्थापित किये हुए राज्य की भूमि को आजकल बंगाल कहते है। पौण्ड्र ने वह देश बसाया जो आजकल बंगाल के पश्चिम मे है। कलिङ्ग ने उडीसा के दक्षिण की ओर समुद्र के किनारे की भूमि पर अपना आधिपत्य किया। इस प्रदेश का नाम ही कलिङ्ग पड गया। यह देश गोदावरी और कृष्णा नदियों के कारण तीन भागों मे विभाजित हो गया था। इसी से इसका नाम त्रिकलिंग और पीछे तिलङ्गाना पडा। कलिङ्ग की राजधानी राजमहेन्द्री थी। श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के के विवाह मे कलिङ्ग देश के राजा ने रुक्म से द्यूत खेलते समय बलराम जी की हँसी उडाई थी जिस पर उन्होंने उस राजा के दाँत तोड़ दिये थे।

सुह्य ने बंगाल के दक्षिणी भाग ताम्रलिप्ति या दामलिप्ति नामक देश बसाया जिसको आजकल तामलुक कहते है। अंग के एक वंशज रोमपाद के विषय मे एक बडी मनोरंजक घटना वर्णित है। रोमपाद के देश मे कई वर्ष तक वर्षा न होने के कारण अकाल पड़ा। रोमपाद अयोध्या के राजा दशरथ का

समकालीन था। उसने महाज दशरथ की पुत्री शान्ता को अपनी पोष्य पुत्री के रूप में ग्रहण किया और उसका विभाण्डक ऋषि के पुत्र ऋष्यश्रृङ्ग से विवाह कर दिया। जब ऋष्यश्रृङ्ग रोमपाद के राज्य में आये तब वर्षा हुई और वहाँ की जनता को अकाल से मुक्ति मिली।

रोमपाद का एक वंशज चम्प था। उसने चम्पापुरी बसाई थी। चम्प के वंश में एक जयद्रथ नाम का राजा हुआ। उसने ब्राह्मणी माता और क्षत्रिय पिता से उत्पन्न एक कन्या से विवाह किया अतः उसकी वंश परम्परा सूत या संकर जाति के क्षत्रियो के नाम से विख्यात हुई। इसी जयद्रथ का एक वंशज अधिरथ था जिसने कुंतीपुत्र कर्ण को अपने पोष्यपुत्र के रूप में ग्रहण किया था।

कर्ण के जन्म के विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। कर्ण कुन्ती की अविवाहित अवस्था मे उससे उत्पन्न हुआ था। लोक मर्यादा के भय से कुन्ती ने उसे एक मञ्जूषा मे रखकर नदी मे प्रवाहित कर दिया। वह मञ्जूषा एक सारथि के हाथ लगी। उसने उसे राजा अधिरथ को दे दिया। अधिरथ ने नवजात बालक को अपने पोष्यपुत्र के रूप मे रख लिया।

कर्ण ने परशुराम जी से अस्त्रविद्या प्राप्त की थी। यह परशुराम जी वे तो नही हो सकते जो जमदग्नि ऋषि के पुत्र थे और जो इस पीढी से बीसियो पीढियाँ पूर्व कार्तवीर्य अर्जुन के समय मे हुए थे। मालुम होता है यह उन्ही के गोत्र मे उत्पन्न कोई ऋषि थे। परशुराम नाम के ऋषि का सम्बन्ध अनेक राजाओ के जीवन की घटनाओ से रहा है। इन राजाओ के जीवनकाल मे कई कई पीढियो का अन्तर रहा है। एक ही व्यक्ति बीसियो पीढियों तक जीवित नही रह सकता। इससे प्रतीत होता है कि आदि परशुराम के समस्त परवर्ती परशुराम उसी गोत्र से उत्पन्न ऋषिगण हैं जिन्हें उस गोत्र से उत्पन्न होने के कारण परशुराम नाम से सम्बोधित किया गया है। कर्ण बड़ा बलिष्ठ और धनुर्विद्या मे पारङ्गत था। वह अर्जुन के समान वीर था। उसकी वीरता पर मुग्ध होकर दुर्योधन ने उसे अपना परम मित्र बना लिया था। यही कारण था कि कर्ण महाभारत के युद्ध में कौरवो की ओर से लडा था। जब कुन्ती ने उसे यह कह कर कि वह उसी का पुत्र है समझाया कि युद्ध में कौरवो का साथ देकर अपने भाइयों से ही न लड़े तो उसने कुन्ती को उत्तर दिया "यह बात तुम्हें पहिले बतानी चाहिये थी, अब तो दुर्योधन का नमक खाकर उससे विश्वासघात न करूँगा। हाँ, युद्ध में अर्जुन को छोड़कर किसी पाण्डव को न मारूँगा, इससे अर्जुन की मृत्यु भी हो गई तो तुम्हारे पाँच पुत्र ही रहेंगे।" अर्जुन का वध करने के लिए उसने एक अस्त्र रख छोड़ा था जिसका प्रयोग

उसे युद्ध में भीम के पुत्र घटोत्कच पर करना पड़ा जिससे घटोत्कच की मृत्यु हो गई। महाभारत के युद्ध मे कर्ण अर्जुन के हाथो मारा गया गया। उसका पुत्र वृषसेन भी रणक्षेत्र मे वीरगति को प्राप्त हुआ।

उड्र ने प्राचीन उत्कल देश में अपना राज्य स्थापित किया। उससे पहिले वहाँ घना जगल था। इस प्रदेश को आजकल उड़ीसा कहते हैं।

कुरु वंश

कुरुवंश के प्रतापी राजा दुष्यन्त के पुत्र का नाम भरत था। उसी के नाम पर इस देश का नाम भारत वर्ष पड़ा। भरत के पुत्र का नाम वितथ था और वितथ का पुत्र मन्यु हुआ। मन्यु के पाँच पुत्र हुए। उनके नाम थे वृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य, नर और गर्ग। इनमे सबसे छोटे अन्तिम पुत्र गर्ग के पुत्र शिनि से गर्गवशी ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई। नर के पुत्र संकृति और संकृति के पुत्र प्रसिद्ध राजर्षि रन्तिदेव हुए थे। महाराज रन्तिदेव एक अत्यन्त दानी और पुण्यश्लोक राजा हो गये हैं। एक बार महाराज रन्तिदेव ४८ दिन का उपवास पूरा करने के उपरान्त जब अन्न जल ग्रहण करने को उद्यत हुए तो कुछ भिक्षुक अतिथि के रूप मे आ गये। महाराज ने स्वयं भोजन न करके वह भोजन अतिथियो को खिला दिया और स्वयं भूखे रह गये। उनके आतिथ्य सत्कार इतिहास में प्रसिद्ध है। महावीर्य के पुत्र अय्यारुणि हुए। उन्ही से ब्राह्मणो की एक प्रसिद्ध शाखा प्रचलित हुई।

मन्यु के सबसे ज्येष्ठ पुत्र वृहत्क्षत्र ने अपने पिता मन्यु के बाद कुरुपाचाल देश का राज्य प्राप्त किया। वृहत्क्षत्र के पुत्र का नाम हस्ती था जो कि एक परम प्रतापी एव यशस्वी राजा हुए हैं। यह महाराज हस्ती ही हस्तिनापुर नगर के सस्थापक थे। यह नगर आज भी मेरठ से बाईस मील दूर गंगा नदी के दाहिने तट पर बसा हुआ है। वहाँ के भग्नावशेष किसी प्राचीनकाल की आभा के प्रतीक हैं। हस्तिनापुर पाण्डवों के उत्तराधिकारी परीक्षित के पौत्र शतानीक के समय तक पौरवो की राजधानी रही थी। शतानीक के बाद यह भीषण बाढ के कारण गगानदी मे ही विलीन हो गया।

महाराज हस्ती का विवाह त्रिगर्त देश की राजकुमारी यशोधरा के साथ हुआ था। इस विवाह से उनके विकुण्ठन नाम का पुत्र हुआ। विकुण्ठन के तीन पुत्र हुए जिनके नाम थे अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ। इनमे से अजमीढ की कई रानियो से अनेक पुत्र हुए जिन्होंने भारतवर्ष के

अनेक प्रदेशों में पृथक् पृथक् राज्यों की स्थापना की। द्विमीढ की वंश परम्परा में यवीनर बड़ा प्रतापी हुआ है। उसके वंश में राजा सन्नतिमान् के पुत्र कृती नाम के एक राजा हुए हैं। जिन्होने इक्ष्वाकुवंशी राजा हिरण्यनाभ से योग विद्या सीखी थी। विकुण्ठन के कनिष्ट पुत्र पुरुमीढ से कोई सन्तान न हुई और इस कारण उनका वंश आगे न चल सका।

अजमीढ की एक रानी से वृहद्दिपु नाम का एक पुत्र हुआ। इसके वंश में राजा सेनजित् ने अवन्ती में राज्य किया था। इसी सेनजित् के वंश मे विन्द और अनुविद हुए थे जिनकी बहिन मित्रविन्दा का श्रीकृष्ण हरण कर लाये थे और उसे अपनी प्रधानरानियों मे से एक बनाया था। विन्द और अनुविन्द महाभारत के समय उपस्थित थे और कुरुक्षेत्र के युद्ध मे वीरगति को प्राप्त हुए थे।

सेनजित् के पुत्र रुचिराश्व के वंश में एक राजा नीप नाम का हुआ है जो वंशकर राजा हुआ। उसके बाद के सब राजे नीप वंशीय कहलाये। नीप के पुत्र सगर ने कम्पिला नगरी बसा कर उसे अपनी राजधानी बनाया। सगर के पौत्र पृथु के वंश में राजा अनुह हुआ है। उसने श्रीकृष्ण द्वैपायन के पुत्र छायाशुक की पुत्री कृत्वी से विवाह किया था। अनुह के पुत्र का नाम ब्रह्मदत्त था जो कि एक बड़ा धर्मात्मा राजा हो गया है। ब्रह्मदत्त के पुत्र का नाम विष्वक्सेन और विष्वक्सेन के पौत्र का नाम भल्लाद था जो महाभारत के युद्ध मे पाण्डवों की ओर से लडा था और जो कर्ण के हाथ से मारा गया था। इससे प्रतीत होता है कि अजमीढ के वृहद्दिपु नामी पुत्र की सन्तानो में विन्द अनुविन्द और भल्लाद समकालीन थे।

अजमीढ की दूसरी रानी नलिनी अथवा नीलिनी थी। उससे अजमीढ के नील नाम पुत्र की उत्पत्ति हुई। नील की छठी पीढ़ी में हर्यश्व नाम का राजा हुआ जिसके पांच पुत्र मुद्‌गल, सञ्जय, वृहद्दिपु, प्रवीर और काम्पिल्य नाम के हुए। इन पाँचो पुत्रो को अपने पिता से जो प्रदेश प्राप्त हुआ उसी का नाम पीछे पाचाल पड़ा। मुद्‌गल से मौद्‌गलायन ब्राह्मणो की उत्पत्ति हुई। मुद्‌गल के एक पुत्र का नाम वध्र्यश्व था जो पाचाल देश का राजा हुआ। वध्र्यश्व के पुत्र का नाम दिवोदास और कन्या का नाम अहिल्या था। अहिल्या बड़ी रूपवती थी और उसका विवाह गौतम ऋषि से हुआ था। गौतम ऋषि के अहिल्या से शतानन्द नाम का पुत्र हुआ। शतानन्द के पुत्र का नाम सत्यधृति था और सत्यधृति के पुत्र का नाम कृप और पुत्री का नाम कृपी था। कृपी का विवाह द्रोणाचार्य से हुआ था।

अजमीढ़ की तीसरी रानी से ऋक्ष नाम का पुत्र हुआ। ऋक्ष के पुत्र का नाम सवरण था। सवरण की रानी तपती से कुरु का जन्म हुआ। कुरु के नाम पर ही कुरु क्षेत्र प्रसिद्ध हुआ। कुरु ने उस स्थान पर तपस्या की थी। इसी कुरुक्षेत्र मे पीछे कौरवो और पाण्डवो के मध्य महाभारत का युद्ध हुआ था। कुरु का विवाह यदुवश की राजकुमारी शुभाङ्गी से हुआ था। उससे सुधनु, जह्नु, परीक्षित् और निषध नाम के पुत्र हुए। सुधनु और परीक्षित् की सन्तानों के विषय मे कुछ ज्ञात नही। जह्नु की सन्तान का राज्य हस्तिनापुर मे चलता रहा। निषध ने अपने नाम पर ही एक नया राज्य स्थापित किया। इसी निषध के वंश मे राजा वीरसेन हुए थे जिनके पुत्र नल बडे प्रतापी राजा हुए हैं और जिनका विवाह विदर्भ राज भीम की कन्या दमयन्ती से हुआ था।

अजमीढ के वशज राजा उपरिचर वसु ने चेदि को अपनी राजधानी बनाया। इसके अनेक पुत्रो मे बृहद्रथ ने मगध मे और मत्स्य ने मत्स्य देश मे अपना अपना राज्य स्थापित किया। मत्स्य ग्वालियर से बरार तक फैला हुआ था। इसके एक पुत्र ने मगध से आगे प्राग्ज्योतिषपुर मे भी अपने राज्य की स्थापना की। उपरिचरिवसु की कन्या का नाम सत्यवती था जिससे उसकी अविवाहित अवस्था मे पराशर से कृष्णद्वैपायन व्यास की उत्पत्ति हुई और जिसका विवाह हस्तिनापुर के महाराज शान्तनु से हुआ था। इसी उपरिचरि वसु की सन्तान परम्परा मे राजा विराट थे जिनके यहाँ एक वर्ष तक पाण्डवो ने गुप्तवास किया था और जिनकी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु से हुआ था।

कुरु के पुत्र जह्नु से बारहवी पीढी मे प्रतीक नाम के राजा हुए। इनके तीन पुत्र थे (१) देवापि (२) शान्तनु (३) बाल्हीक। देवापि राज्य छोडकर तपस्या करने बन को चले गये। बाल्हीक ने पश्चिमोत्तर प्रदेश मे एक और राज्य बसाकर वहाँ पर राज्य किया। बाल्हीक के पुत्र का नाम सोमदत्त था। सोमदत्त के भूरि, भूरिश्रवा और शल्य नामक तीन पुत्र थे। ये तीनो महाभारत के युद्ध मे कौरवो की ओर से लडकर वीरगति को प्राप्त हुए थे।

शान्तनु हस्तिनापुर के राजा हुए इनकी प्रथम रानी का नाम गगा था। इस रानी से उनका जो पुत्र हुआ उसका नाम भीष्म था। राजा शान्तनु उपरिचरि वसु की कन्या सत्यवती से विवाह करना चाहते थे परन्तु सत्यवती के पिता चाहते थे कि विवाह उसी दशा मे किया जाय जब सत्यवती से उत्पन्न पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी बने। शान्तनु अपने पुत्र भीष्म को

उत्तराधिकार के स्वत्व से वंचित न करना चाहते थे अतः उन्होंने अपनी असमर्थता प्रगट कर दी। परन्तु भीष्म को जब यह समाचार विदित हुआ तो उन्होंने पिता की इच्छापूर्ति के लिए आजन्म ब्रह्मचारी रहने और कभी विवाह न करने का व्रत लिया जिससे सत्यवती से उत्पन्न पुत्र की सन्तान परम्परा को राज्याधिकार मिलने में कोई बाधा न रहे। स्वयं उन्होंने भी राज्य के लिए सत्यवती के पुत्र से न झगड़ने के लिए प्रतिज्ञा की। भीष्म की इस प्रतिज्ञा को सुनकर दासराज ने सत्यवती का विवाह शान्तनु से कर दिया। सत्यवती से महाराज शान्तनु के चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य नामक दो पुत्र हुए। चित्राङ्गद तो युवावस्था मे ही गन्धर्वों से युद्ध मे मारे गये। विचित्रवीर्य का विवाह काशिराज की कन्या अम्बिका और अम्बालिका से हुआ। अम्बिका के पुत्र का नाम धृतराष्ट्र था जो जन्म से ही अन्धे थे। अम्बालिका के पुत्र का नाम पाण्डु था। विचित्रवीर्य का एक दासी पुत्र भी था जिसका नाम विदुर था। विचित्रवीर्य की सन्तान के विषय मे महाभारत में उल्लेख है कि वह व्यास जी से नियोग द्वारा उत्पन्न हुई थी कारण यक्ष्मा रोग से पीड़ित होकर राजा विचित्रवीर्य तो निस्सन्तान ही चल बसे थे।

विचित्रवीर्य के देहान्त के बाद राज्यसिंहासन धृतराष्ट्र को उनके जन्मान्ध होने के कारण नही मिला। उनके छोटे भाई पाण्डु को ही उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। पाण्डु बड़े सुन्दर और पराक्रमी थे। उन्होने अनेक विजयाभियान किये और अपने राज्य का विस्तार किया। उनका विवाह वसुदेव जी की बहिन कुन्ती से हुआ था। कुन्ती राजा कुन्ति भोज के पास उनकी पोष्यपुत्री के रूप मे रहती थी। पाण्डु ने मद्र देश के राजा शल्य की कन्या माद्री से भी विवाह किया। पाण्डु के कुन्ती से युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम उत्पन्न हुए और माद्री से नकुल और सहदेव। अपने पिता विचित्रवीर्य की तरह पाण्डु भी अधिक आयु प्राप्त न कर सके और पुत्रों को बाल्यावस्था में ही छोड़ कर स्वर्गवासी हो गये।

धृतराष्ट्र का विवाह गन्धार देश के राजा सुबल की कन्या गांधारी से हुआ। उससे उनके अनेक पुत्र हुए जिनमे दुर्योधन सबसे बड़ा था। महाभारत में उनके सौ पुत्र होने का उल्लेख है जो अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। यह तो निर्विवाद है कि उनके अनेक पुत्र थे। धृतराष्ट्र के पुत्र कौरवो के नाम से प्रसिद्ध हुए और पाण्डु के पुत्र पाण्डव कहलाये। सभी राजकुमार शस्त्रास्त्र विद्या मे बड़े निपुण, शूर और पराक्रमी थे।

कौरवों और पाण्डवो को अस्त्र-शस्त्र विद्या सिखाने का कार्य आचार्य द्रोण के सुपुर्द किया गया। आचार्य द्रोण ने अपने पुत्र अश्वत्थामा सहित सभी

कौरवों और पाण्डवों को धनुर्विद्या सिखाई। द्रोण के शिष्यों में अर्जुन धनुर्विद्या में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुए। गदा युद्ध में दुर्योधन और भीम समान योग्यता के वीर समझे जाते थे। दुर्योधन के साथियों में कर्ण और शकुनि भी थे। कर्ण धनुर्विद्या में निपुण था और दुर्योधन का मामा शकुनि द्यूतक्रीडा में सिद्धहस्त था।

कौरवों और पाण्डवों के मध्य जो युद्ध हुआ उसकी जड़ में दुर्योधन का दुराग्रह और पाण्डवों के प्रति ईर्ष्या ही थी। धृतराष्ट्र का बड़ा पुत्र होने के कारण वह समूचे राष्ट्र का अधिपति बनना चाहता था और पाण्डवों को उनके स्वत्व से पूर्णरूप से वंचित करना चाहता था। उसकी दुर्बुद्धि से ही कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ जिससे समस्त भारतीय वैभव अनेक शताब्दियों के लिए नष्ट हो गया।

दुर्योधन ने कर्ण और शकुनि से गुप्त मन्त्रणा कर पाण्डवों को वारणावत में एक स्थान पर रहने को भेज दिया। उसने गुप्तचर पुरोचन को एक लाक्षागृह निर्माण कर पाण्डवों को उसमें रखने और रात्रि में उस गृह में अग्नि प्रज्वलित कर पाण्डवों को जीवित भस्म कर देने की योजना बनाई थी। दैवयोग से विदुर को इस रहस्य का पता चल गया। उन्होंने पाण्डवों को सावधान कर दिया। रात्रि को जब लाक्षागृह जल रहा था पाण्डव उससे पहिले ही गुप्तरूप से वहाँ से चल कर गङ्गा पार हो गये थे।

जिस समय राजकुमारों की शिक्षा दीक्षा हो रही थी द्रोण ने अर्जुन को आज्ञा दी कि द्रुपदराज पर आक्रमण करके उसे परास्त किया जाय। अर्जुन ने अपने कौशल से द्रुपद को परास्त किया और उसे द्रोण को आधा राज्य देने को विवश किया। द्रुपद उस समय अर्जुन की वीरता पर मुग्ध हो गया और उसने अपनी पुत्री द्रौपदी का विवाह अर्जुन से करने का निश्चय कर लिया।

वारणावत को छोड़ कर पाण्डव वन में रहने और कन्द मूल फल खाकर जीवन व्यतीत करने लगे। इसी बीच में द्रुपद ने अपनी पुत्री के स्वयम्बर का समारोह रचा। देश विदेशों के राजा इकट्ठे हुए। द्रुपद ने एक प्रचण्ड धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ा कर मत्स्यवेध करने वाले राजकुमार के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने का संकल्प घोषित किया। पाण्डव भी ब्राह्मण वेश में स्वयम्बर में पहुँचे। जब कर्ण धनुष को उठा कर प्रत्यंचा चढ़ाने वाला ही था द्रौपदी चिल्लाकर कहने लगी कि मैं सूतपुत्र के साथ विवाह न करूँगी। कर्ण ने लज्जित होकर धनुष रख दिया और अपने स्थान न पर बैठ गया। इसके बाद ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन ने धनुष उठा कर मत्स्यवेध कर दिया और

द्रौपदी ने वरमाल उसी के गले में डाल दी। कुछ राजाओं ने ब्राह्मणवेशधारी पाण्डवों को निर्बल और आश्रयहीन जानकर कुछ बाधा उपस्थित करनी चाही परन्तु अर्जुन और भीम के प्रचण्ड शौर्य के आगे उनकी दाल न गली। उस वीरता के प्रदर्शन में यह रहस्योद्घाटन भी हो गया कि ब्राह्मणवेशधारी पांचों वीर वस्तुतः पाण्डवगण ही हैं और द्रुपद से सम्बन्ध स्थापित कर वे शक्तिशाली हो गये हैं। कुन्ती के आग्रह और युधिष्ठिर की सम्मति से द्रौपदी का विवाह पांचों पाण्डवों के साथ कर दिया गया।

इस घटना के उपरान्त धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को समझा बुझाकर पाण्डवों को हस्तिनापुर बुलवाया और आधा राज्य उन्हें बांट कर दे दिया। पाण्डवों को मिले राज्य में खाण्डव नामी वन प्रदेश अधिक था।

पाण्डवो ने इन्द्रप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाया। खाण्डव वन को जलाते समय उन्होने मय नाम के एक शिल्पकार को उसके परिवार सहित अग्नि से बचाया। मय ने प्रत्युपकार स्वरूप पाण्डवों के लिए इन्द्रप्रस्थ में एक ऐसा भवन बनाया जिसमें दुर्योधन जल को थल और थल को जल समझ कर द्रौपदी के उपहास का पात्र बना था। वास्तव मे द्रौपदी का स्वयम्वर मे कर्ण को लज्जित करना तथा सभा भवन में दुर्योधन की हँसी उड़ाना आदि ऐसे कारण बन गये थे जिनसे दुर्योधन की पाण्डवों के विरुद्ध विद्वेषाग्नि और बढ़ कर उस चरम सीमा तक पहुँच गई थी जिसका कि अनिवार्य परिणाम महाभारत का युद्ध हुआ। इन्ही दिनों अर्जुन ने द्वारकापुरी की यात्रा की और श्रीकृष्ण की सम्मति से सुभद्रा का पाणिग्रहण किया।

कुछ काल बाद युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। श्रीकृष्ण उस यज्ञ मे सर्वोच्च पूज्य पद पर प्रतिष्ठित किये गये। श्रीकृष्ण के सम्मान से शिशुपाल को ईर्ष्या उत्पन्न हुई। उसने श्रीकृष्ण के प्रति अपशब्द कहे, इस पर श्रीकृष्ण ने सुदर्शन चक्र से उसका शिरच्छेद कर दिया।

पाण्डवो के वैभव को देखकर दुर्योधन को डाह उत्पन्न हुआ। उसने उस समय की राज्यप्रथा के अनुसार युधिष्ठिर को जुआ खेलने का निमन्त्रण दिया। युधिष्ठिर ने निमन्त्रण स्वीकार किया और द्यूत हुआ। शकुनि ने छल कपट से दुर्योधन की जीत करा दी। पाण्डवो ने एक एक करके सब राजपाट, धनधाम, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और यहां तक कि द्रौपदी को भी दांव पर लगा दिया और हार गये। अब तो दुर्योधन के अहंकार की सीमा न रही। उसने दुःशासन को भेजकर द्रौपदी को भरी सभा में बुला भेजा। द्रौपदी उस समय रजस्वला थी और एक ही वस्त्र पहिने हुए थी। दुःशासन उसका वह वस्त्र भी उतारने लगा।

द्रौपदी को उस संकट काल में श्रीकृष्ण की दुहाई देने के अतिरिक्त कुछ न सूझा। श्रीकृष्ण की उस समय बडी प्रतिष्ठा थी। उनके हस्तक्षेप से द्रौपदी की लाज बची। परन्तु भीम ने क्रोधावेश मे प्रतिज्ञा की कि वह दुःशासन को रणभूमि में मारकर उसका रक्तपान करेगा और दुर्योधन का मस्तक पद प्रहार से चूर कर देगा। इन भीषण मुद्राओ से धृतराष्ट्र भावी अमगल की आशका से भयभीत हो गये और उन्होने अपने पुत्रो को डाट डपट कर युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को बन्धन मुक्त कर दिया और उनका राजपाट भी लौटा दिया।

परन्तु अब दुर्योधन के चित्त की उद्विग्नता और बढ गई। वह कर्ण और शकुनि से फिर मन्त्रणा करने लगा। सबने मिलकर तय किया कि अबकी बार पाण्डवो को यह कह कर जुए पर बुलाया जाय कि जो पक्ष हारे वह बारह वर्ष वन मे रहे और बारह वर्ष वनवास के बाद एक वर्ष अज्ञातवास करे। यदि अज्ञातवास मे वह पहिचान लिया जाय तो पुन. १२ वर्ष को बनवास को जाय। युधिष्ठिर ने द्यूत के इस दूसरे निमन्त्रण को भी स्वीकार कर लिया। जुआ फिर हुआ। शकुनि ने पिछली बार की तरह छल कपट से पाण्डवो को फिर हरा दिया और उन्हे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार द्रौपदी सहित वन को जाना पड़ा। द्रौपदी के बच्चों को धृष्टद्युम्न काम्पिल्य ले गया। श्रीकृष्ण सुभद्रा और अभिमन्यु को द्वारका ले गये। धृष्टकेतु नकुल की स्त्री करेणुमती को चेदि ले गया। ये सब सम्बन्धी सहानुभूति प्रकट करने को पाण्डवो से मिलने आये थे और उन्होने पाण्डवो से वन न जाकर युद्ध करने को कहा था। परन्तु पाण्डवों के सत्यप्रेम और वचन निर्वाह की प्रवृत्ति ने उन्हे ऐसा करने से रोका और वे अपनी करनी का फल भोगने वन को चले गये।

इस बनवास के मध्य पाण्डवो ने काम्यक वन, द्वैतवन और पर्वतीय प्रदेशो का भ्रमण किया। उन्होने वन की भीषण गर्मी और सर्दी भी सहन की। भयानक जीव-जन्तुओ का सामना किया। दुर्योधन वन मे भी उन्हे दु.ख देने पहुँच गया। परन्तु गन्धर्वों ने उसकी और उसके साथियो की अच्छी खबर ली और उसे पेड से बांध दिया। युधिष्ठिर ने दयार्द्र होकर उसे छुडवा दिया।

दुर्योधन का बहनोई सिन्धुदेश का राजा जयद्रथ उसी वन मे पहुँचा। वह द्रौपदी के रूप को देखकर मोहित हो गया और पाण्डवो की अनुपस्थिति मे उसको लुभाने की बाते करने लगा। साध्वी द्रौपदी उसकी बातो में कब आने वाली थी? निदान वह उसे बलपूर्वक रथ मे बैठा कर ले जाने लगा। पुरोहित धौम्य ने इस कुकृत्य को देखा और भागकर पाण्डवों को सूचित किया।

भीम और अर्जुन ने जयद्रथ को रोका और उसकी अच्छी खासी मरम्मत की। वे तो उसे जान से ही मार रहे थे परन्तु युधिष्ठिर ने उसे यह समझ कर कि उसकी मृत्यु से चचेरे भाई की बहिन विधवा हो जायगी अपने दया भाव से मुक्त करा दिया।

इन दिनो पाण्डवों ने अनेक धार्मिक अनुष्ठान व्रत, पूजा कथा, वार्ता आदि के रूप मे किये। लोमश ऋषि का सान्निध्य धार्मिक भावनाओ का उत्प्रेरक था। बनवास के १२ वर्ष पूरे कर पाण्डवों ने गुप्तवास मत्स्य देश के राजा विराट के यहाँ व्यतीत करने की योजना बनाई। वे छद्मवेश में विराट नगर पहुँचे। युधिष्ठिर कङ्क द्यूतक्रीड़क बने, अर्जुन बृहन्नला नाम से नृत्य शिक्षक बने और द्रौपदी सैरिन्ध्री नाम से रानी की दासी नियुक्त हुई। नकुल और सहदेव ने भी नाम बदले और घोड़ों और गौओ की रक्षा पर सेवको में अपना नाम लिखा दिया। भीम बल्लभ नाम का पहलवान बना और राजकीय सेवा में नियुक्त हुआ। कुछ दिन ठीक ठीक रहने के बाद एक दुर्घटना घटित हुई। राजा विराट का साला कीचक बडा दुष्ट और अनाचारी था। वह द्रौपदी के सौन्दर्य पर मोहित हो गया और उसने द्रौपदी से बलात्कार करना चाहा। द्रौपदी ने यह भेद भीम को बतला दिया और उसने कीचक और उसके समस्त भाइयों को जो कीचक ही कहलाते थे मार डाला। कीचक के वध से राजा विराट की शक्ति क्षीण समझी जाने लगी और पडोसी राजाओ ने उस पर आक्रमण करने का विचार किया।

त्रिगर्त देश का राजा सुशर्मा विराट का शत्रु था। उसने कीचक के मारे जाने से विराट को कमजोर जानकर उस पर आक्रमण कर दिया और उसकी गौएं लेकर भागा। राजा विराट अपनी सेना लेकर उसका पीछा करने चले। अर्जुन को छोड़कर चारों पाण्डव उनकी सेना के साथ थे। पाण्डवों की वीरता के कारण सुशर्मा को मात खानी पड़ी और वह परास्त होकर लौट गया। इधर विराट और उसकी सेना को गया हुआ देख दुर्योधन भी अपनी सेना सहित विराट नगर मे घुसा और विराट की गौओ को लेकर जाने लगा। उस समय वहां अर्जुन और विराट का राजकुमार उत्तर ही मौजूद थे। उन्होंने भयङ्कर प्रतिरोध किया। अर्जुन की वीरता के आगे भीष्म, कर्ण, द्रोण आदि सभी भाग खड़े हुए और अर्जुन की वीरता से विराट बड़े प्रसन्न हुए। पाण्डवो का भेद भी खुल गया। विराट कृतज्ञता पूर्वक अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन से करने की लालसा प्रगट करने लगे। अर्जुन ने स्वीकार न किया कारण उसने उत्तरा को अपनी पुत्री के समान नृत्य-शिक्षा दी थी। इस पर

उत्तरा का विवाह बड़ी धूमधाम से अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के साथ कर दिया गया।

अज्ञात वास समाप्त होने पर पाण्डवों को उनका स्वत्व दिये जाने की चर्चा होने लगी। कुन्ती और द्रौपदी की राय थी कि अपने अधिकार के लिए युद्ध किया जाय। युधिष्ठिर का मत था कि यदि कौरव उन्हे जीवन-निर्वाह के लिए पांच गांव भी दे दे तो युद्ध न किया जाय। पाण्डवो के बन्धु बान्धवो तथा सम्बन्धियो की राय थी कि स्वाधिकार के लिए अवश्य युद्ध किया जाय। यही चर्चाएं आपस में चल रही थी कि श्रीकृष्ण को दूत के रूप में कौरवो की सभा मे हस्तिनापुर भेजा गया। धृतराष्ट्र की सहमति से श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को बहुत समझाया। भीष्म, द्रोण और विदुर आदि की भी यह राय थी कि पाण्डवो को कुछ दे दिला कर उनसे मेल कर लिया जाय। परन्तु कर्ण और शकुनि के बहकाने से दुर्योधन ने हठ पूर्वक यही कहा कि बिना युद्ध के सुई की नोक के बराबर भूमि भी पाण्डवों को न दी जायगी। श्रीकृष्ण का दौत्यकर्म विफल रहा और युद्ध का बिगुल बज गया।

अब दोनों पक्ष अपना अपना पक्ष प्रबल करने मे लग गये। एक समय अर्जुन और दुर्योधन दोनो ही अलग अलग श्रीकृष्ण के यहां सैन्य सहायता के लिए पहुँचे। उस समय श्रीकृष्ण शयन कर रहे थे। दुर्योधन सिरहाने और अर्जुन पायताने बैठ गये। श्रीकृष्ण ने उठकर पहिले अर्जुन को देखा लेकिन चूंकि दुर्योधन पहिले का आया हुआ था इसलिये उन्होंने दोनो को सहायता देने का वचन दिया। उन्होने कहा कि एक तरफ मैं अकेला हूँ और दूसरी तरफ मेरी सेना। दुर्योधन ने सेना और अर्जुन ने अकेले श्रीकृष्ण को लेना स्वीकार किया। इसके बाद दुर्योधन बलराम जी के पास पहुँचा परन्तु उन्होने कौरवों और पान्डवो को एक दृष्टि मे देखते हुए दोनो को कोई सहायता न देकर निष्पक्ष रहना पसन्द किया।

पाण्डवो के पक्ष में सात्यकि, जरासन्ध का पुत्र सहदेव, चेदि का राजा धृष्टकेतु, मत्स्यराज विराट, पाण्ड्यराज, पांचालराज द्रुपद और उनका पुत्र धृष्टद्युम्न आदि रणक्षेत्र में जा डटे। कौरवों की ओर से भगदत्त, किरातो की सेना सहित भूरिश्रवा, शल्य, कृतवर्मा, भोज, अन्धक कुकुरवंशी, सिन्धुराज जयद्रथ, काम्बोज देश का राजा सुदक्षिणा, महिष्मती का राजा नील, अवन्ति के राजकुमार विन्द और अनुविन्द और केकय देश के नन्दन आदि राजकुमार एकत्रित हुए। पाण्डव अपने पुत्रों और घटोत्कच अभिमन्यु समेत एक तरफ तथा दुर्योधन, उसके भाई, जयद्रथ, भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि दूसरी तरफ थे।

भाई बन्धुओं की इस चतुरंगिनी सेना को देखकर अर्जुन को मोह हुआ। उसने कहा कि इन भाई बन्धुओं को मारकर यदि मैंने राज्य प्राप्त कर लिया तो इससे मुझे क्या लाभ होगा? बन्धु-बान्धवों के विनाश पर आधारित यह राज्य ग्रहण करने योग्य न होगा। अर्जुन को मोह हुआ जानकर श्रीकृष्ण ने उसे समझाया। उन्होने कहा कि आत्मा अजर अमर है और मनुष्य का धर्म केवल कर्म करना है। क्षत्रिय का धर्म युद्ध करना है, युद्ध से हटना पाप है। श्रीकृष्ण के समझाने से अर्जुन का मोहतिमिर हट गया और वे धर्मयुद्ध मे प्रवृत्त हो गये। इस अवसर पर भक्ति और ज्ञान सम्बन्धी और जो अन्य उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया था वह श्रीमद्भगवद् गीता मे निहित है।

भीष्म दस दिन तक कौरवो की सेना के सेनापति रहे। इन दस दिनों में उन्होने पाण्डवों की आधी सेना को मार गिराया। भीष्म अजेय सिद्ध हो रहे थे। श्रीकृष्ण ने उन पर विजय पाने की तरकीब निकाली। उन्होने अर्जुन को शिखण्डी के पीछे रहकर बाण चलाने को कहा। भीष्म की प्रतिज्ञा थी कि शिखण्डी पर अस्त्र न उठाएँगे। शिखण्डी की आड लेकर अर्जुन ने भीष्म पितामह को बाणों से पाट दिया और वे शरशय्या पर लेट गये।

भीष्म के पतन के उपरान्त कौरव दल का सेनापतित्व द्रोण ने सम्हाला। द्रोण के सेनापतित्व काल मे पाचालराज द्रुपद, अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु और मत्स्यराज विराट वीरगति को प्राप्त हुए। द्रोण को जीतना भी कठिन हो रहा था। अतः श्रीकृष्ण ने एक तरकीब निकाली। द्रोण की प्रतिज्ञा थी कि रणक्षेत्र में अश्वत्थामा के मरने की खबर सुनते ही वे अस्त्रत्याग कर देगे। भीमसेन ने अश्वत्थामा नाम का हाथी मारा था। उन्होने युधिष्ठिर से कहलवा दिया कि अश्वत्थामा मारा गया। यद्यपि युधिष्ठिर ने उसके पीछे हाथी शब्द भी चिल्लाकर कहा था परन्तु श्रीकृष्ण ने शङ्खध्वनि से उस शब्द को द्रोण के कान तक न पहुँचने दिया था। द्रोण ने पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनकर शस्त्र फेंक दिया और समाधिस्थ हो गये। उनकी निःशस्त्र अवस्था में धृष्टद्युम्न ने उनका सिर काट डाला।

द्रोण के मरणोपरान्त कर्ण कौरव सेना का सेनापति हुआ। कर्ण के सेनापतित्व मे युद्ध दो दिन तक चला। मद्र देश के राजा शल्य ने उसके रथ का सारथी होना स्वीकार किया। जिस दिन कर्ण ने कौरव सेना की कमान सम्हाली उसी दिन उसके पुत्र वृषसेन के युद्ध मे मारे जाने से कर्ण बड़ा उत्तेजित होकर युद्ध करने लगा। उसने पाण्डव सेना मे भारी विनाश का दृश्य उपस्थित

कर दिया। इन्ही दो दिनों में भीमसेन ने धृतराष्ट्र के अनेक पुत्रों को मार डाला और दुःशासन को मार कर उसके हृदय का रक्तपान कर अपनी भीषण प्रतिज्ञा भी पूरी कर ली थी। इस घटना से कर्ण के क्रोध का वारापार न रहा।

यद्यपि क्रोधावेश मे कर्ण पाण्डव सेना का अति रुद्र रूप से सर्वनाश कर रहा था उसे भीम-पुत्र घटोत्कच से भयङ्कर प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। अर्जुन को मारने के लिए उसने जो अस्त्र सुरक्षित कर रक्खा था उसे उसको भीम-पुत्र घटोत्कच पर ही चला देना पड़ा। यद्यपि उससे घटोत्कच तो मारा गया कर्ण उस शस्त्र के इस प्रयोग से शत्रुपक्ष को एक मार्मिक क्षति पहुँचाने से वंचित हो गया। बहुत युद्ध करने के बाद दुर्भाग्यवश उसके रथ का एक पहिया कीचड़ मे फँस गया। ज्योंही वह रथ को कीचड से निकालने के लिए उतरा अर्जुन ने एक बाण चला कर उसका वध कर दिया।

कर्ण के बाद कौरव सेना का सेनाध्यक्ष मद्रराज शल्य को बनाया गया। शल्य एक दिन ही लड़कर युधिष्ठिर के हाथो मारा गया। उसी दिन सहदेव के हाथो शकुनि का वध हुआ। इस अठारह दिन के युद्ध मे कौरव सेना का सम्पूर्ण विनाश हो गया। उसमें केवल दुर्योधन, अश्वत्थामा, कृप और कृतवर्मा ही बचे, शेष सब युद्ध क्षेत्र मे वीरगति को प्राप्त हुए।

इस भीषण विनाश के बाद दुर्योधन और कुछ चारा न देखकर एक तालाब मे जा छिपा। जब पाण्डवो को पता लगा तो वे वहाँ पहुँचे। भीमसेन ने उससे पुकार कर कहा कि यद्यपि हमारी विजय हो चुकी है हार जीत का निर्णय अब भी हमारे तुम्हारे गदा युद्ध पर निर्भर किया जा सकता है। अतः कायरों की भाँति छिप कर बैठने की अपेक्षा गदा युद्ध मे भाग लेकर अपने भाग्य का निर्णय करो। दुर्योधन से ये वाक्य सहन न हुए। वह गदा युद्ध करने के लिए तालाब से निकला। तदनन्तर भीम और दुर्योधन का घोर मल्ल एवं गदायुद्ध हुआ जिसमे कभी एक और कभी दूसरा जीतता हारता प्रतीत होता था। जब दोनों योद्धाओं को लडते-लडते बहुत देर हो गई और युद्ध का निर्णय संदिग्ध हो रहा था तब श्रीकृष्ण ने सोचा कि इस प्रकार भीम दुर्योधन को परास्त न कर सकेगा। उन्होंने भीम को जाँघ का संकेत किया और तदनुसार भीम ने दुर्योधन की जाँघ पर प्रहार किया जिससे उसकी जाँघ टूट गई और वह धराशायी हो गया। भीम ने अपनी प्रतिज्ञानुसार उसके मस्तक पर अपना चरण प्रहार किया। इस कृत्य को देखकर बलराम जी को बड़ा क्रोध आया। वे तीर्थाटन करते हुए दैवात् उस समय वहाँ उपस्थित हो गये थे।

उन्होंने कहा कि भीम ने शत्रु की जाँघ पर प्रहार कर गदायुद्ध के नियमों के विपरीत आचरण किया है अतः वह अक्षम्य है। इतना कह कर वे क्रोधावेश में अपना हल मूसल लेकर भीम का वध करने को लपके। भीषण दुर्घटना की आशङ्का से श्रीकृष्ण ने आगे आकर उन्हें रोका और उन्हें यह कह कर शान्त किया कि भीम ने तो इस प्रकार अपनी उस प्रतिज्ञा की पूर्ति की है जो उसने उस समय की थी जब सभाभवन मे दुर्योधन ने द्रौपदी को अपनी जाँघ पर बैठने को कहा था। बलराम श्रीकृष्ण के हस्तक्षेप से शान्त तो हो गये परन्तु फिर भी उन्होने कहा कि मारे जाने पर भी गदा युद्ध मे दुर्योधन की कीर्ति अक्षुण्ण रहेगी और वह भीम से दक्षता में कदापि हीन न समझा जायगा। अधर्मयुक्त कार्य का कलंक भीम पर सदा रहेगा। दुर्योधन का अन्त एक प्रकार से महाभारत के युद्ध के अन्त का सूचक था।

उधर रात्रि के समय अश्वत्थामा ने पाण्डवों के शिविर मे प्रवेश कर द्रौपदी के पाँचों पुत्रों का घात कर दिया। उसने उन योद्धाओं को उनकी सुप्तावस्था मे ही तलवार की धार से मौत के घाट उतार दिया। वह कृप और कृतवर्मा के साथ धृष्टद्युम्न के शिविर मे भी चोरी छिपे पहुँचा और वहाँ उस निहत्थे योद्धा पर तलवार का वार करके उसका शिर काट लिया और इस प्रकार उसने पितृहन्ता का वधकर प्रतिशोध की भावना को शान्त किया। अश्वत्थामा ने यह समाचार दुर्योधन को उस समय सुनाया जब उसको लगभग मरणासन्न छोडकर पाण्डव वहाँ से चले गये थे। दुर्योधन ने यह समाचार सुनकर अपनी इहलीला समाप्त की।

अपने भाई और पुत्रों की इस नृशंस हत्या से द्रौपदी के शोक का वारापार न रहा। वह बडा करुण क्रन्दन करने लगी। उसकी यह दशा देखकर अर्जुन अश्वत्थामा को पकड़ कर लाने के लिए उठे और थोड़ी देर मे उसको पशु की तरह बाँधकर द्रौपदी के सम्मुख ले आये। द्रौपदी को अपने गुरुपुत्र की उस हीन दशा को देखकर दया आ गई और उसने उसे छोड देने को कहा।

युद्ध क्षेत्र मे कौरव स्त्रियों का विलाप गगन भेदी था। उनके अथाह शोक सागर और बिलख बिलख कर रोने को देखकर पाण्डवों ने अपनी विजय के महत्व को कुछ न समझा और स्वयं शोकमग्न हो गये। उन्होंने मृत सम्बन्धियो और बन्धुओं का यथोचित रीति से दाह संस्कार करा दिया।

इसके बाद श्रीकृष्ण और पाण्डव उस स्थान पर गये जहाँ महामना भीष्म शरशय्या पर पड़े उत्तरायण सूर्य में प्राणों को त्यागने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

पाण्डवों ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से पितामह का चरण स्पर्श कर आशीर्वाद मांगा। भीष्म ने उस समय जो वचन कहे वे इतिहास में राजनीति एवं धर्म नीति पर एक महान उपदेशात्मक संदेश अथवा आचार संहिता के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। भीष्म के प्राण त्यागने पर शोकाकुल पाण्डवों ने बड़े सम्मान के साथ उनकी भी अन्त्येष्टि की।

युद्ध की पूर्णाहुति के बाद पाण्डवों की ओर पांचों पाण्डव, श्रीकृष्ण और सात्यकि ही केवल शेष रहे और सब मारे गये। कौरवों की ओर धृतराष्ट्र, विदुर, संजय, कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा ही बचे और सब वीरगति को प्राप्त हुए। युद्ध के बाद धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती तो वन में तपस्या के लिए चले गये और युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ रचाया। अर्जुन को अश्व का रक्षक नियुक्त किया गया। जिन चने गुने राजाओं ने वश्यता स्वीकार न की उनके विरुद्ध युद्ध करके उन्हें वश में किया गया। युधिष्ठिर चक्रवर्ती सम्राट घोषित हुए।

पाण्डवों ने श्रीकृष्ण को बहुत सम्मानित किया तथा अनेक रत्नोंपहार उन्हें भेंट किये। यज्ञ की समाप्ति पर वे भी द्वारका चले गये। थोड़े दिन बाद धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती दावाग्नि मे भस्म हो गये। पाण्डवो ने उनका विधिवत् दाहकर्म सम्पन्न किया।

कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद पाण्डवो ने तीन दशकों से भी अधिक निर्विघ्न राज्य किया। इस काल मे कोई उल्लेखनीय घटना घटित न हुई। राज्य के ३६ वर्ष बाद यादवो मे बड़ा आपसी विग्रह हुआ जिसके परिणाम स्वरूप सभी प्रमुख यादवो का विनाश हो गया। श्रीकृष्ण ने भी प्रभास क्षेत्र मे देहोत्सर्ग किया। ये सम्वाद जब पाण्डवो को मिला तो वे महान् शोकसागर मे निमग्न हो गये। मित्रवर्ग के इस प्रकार ससार से उठ जाने के कारण उन्हे अब ऐहिक सुख भोगने की इच्छा किसी अंश मे भी शेष न रह गई। उन्होने अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु से उत्पन्न राजकुमार परीक्षित का जिसकी अवस्था अब ३५ वर्ष की हो गई थी राज्याभिषेक करके उस समय की परिपाटी के अनुसार वन में जाकर भगवत्स्मरण करना ही उचित समझा। फलत. राजकुमार परीक्षित हस्तिनापुर के सम्राट हुए और पाण्डवगण द्रौपदी सहित उत्तर दिशा मे हिमालय की ओर चले गये।

पुरुवंश

जिस प्रकार मनु के अनेक पुत्रों मे से इक्ष्वाकु ने अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठकर ऐक्ष्वाकव, मानव अथवा सूर्यवंश की स्थापना की उसी प्रकार मनु की पुत्री इला से उत्पन्न राजा पुरूरवा ने प्रतिष्ठान में एक दूसरे राजवंश की स्थापना की। इस वंश को ऐल अथवा चन्द्रवंश कहते हैं राजा पुरूरवा के वंशज पुरुवंशी भी कहलाये।

पुरूरवा के बाद उसका पुत्र आयु प्रतिष्ठान के राज्यसिंहासन का स्वामी हुआ। आयु का पुत्र नहुष और नहुष का पुन ययाति हुआ। ययाति भारतीय इतिहास के सम्राटों की परम्परा मे प्रथम है। वह एक महान विजेता, पराक्रमी और तेजस्वी सम्राट था। उसके पाँच पुत्र हुए जिनके नाम हैं यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु। ययाति ने अपने सबसे छोटे पुत्र पुरु को ही प्रतिष्ठान के राजसिंहासन पर बिठाया। ययाति ने अपने सबसे बडे पुत्र यदु को राजतिलक न करके अपने सबसे छोटे पुत्र पुरु को ही अपना उत्तराधिकारी क्यो बनाया इसका बड़ा मनोरंजक वर्णन पौराणिक अनुश्रुतियो में मिलता है। कहते हैं इन पाँचों पुत्रों मे सबसे कनिष्ट पुत्र पुरु ही पिता का सबसे अधिक आज्ञाकारी था। ययाति को जब ऐहिक सुखों के उपभोग से तृप्ति न हुई और बुढ़ापे ने आ दबाया तो उसने अपने पुत्रों मे से क्रमशः प्रत्येक से अपनी वृद्धावस्था के बदले में युवावस्था मागी। पहिले चार पुत्रो ने पिता के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया परन्तु पुरु ने अपने पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर अपनी युवावस्था उसके अर्पण कर दी। यह आज्ञाकारिता का एक अलंकारिक उदाहरण मात्र हैं। वास्तव में ययाति को शील सौजन्य आदि गुणो से युक्त अपना छोटा पुत्र ही राजसिंहासन के लिए उपयुक्त जंचा और उन्होने उसकी योग्यता के आधार पर उसको अपना उत्तराधिकारी चुना। इसी पुरु के नाम पर भारतीय इतिहास मे पुरुवंशी राजाओं का आविर्भाव हुआ।

पुरु के बाद इस वंश मे कई पीढियो के उपरान्त अप्रतिरथ नाम का बड़ा प्रतापी राजा हुआ। पुरु से अप्रतिरथ चौदहवी पीढ़ी पर था। पुरु के बाद अप्रतिरथ तक पुरुवंश मे वंशक्रमानुगत निम्न लिखित तेरह राजागण हुए। १—जन्मेजय, २—प्रचिन्वान्, ३—प्रवीर, ४—मनस्यु, ५—अभयद, ६—सुधु, ७—बहुगत, ८—संयाति, ९—अहंयाति, १०—रौद्राश्व, ११—ऋतेयु, १२—अन्तिनार, १३—अप्रतिरथ।

अप्रतिरथ के कण्व और ऐलीन नाम के दो पुत्र हुए। कण्व के मेधातिथि

हुआ जिसकी सन्तान काण्वायन ब्राह्मण हुए। ऐलीन के दुष्यन्त आदि चार पुत्र हुए।

पुरुवंश में दुष्यन्त महा प्रतापी राजा हुआ है। उसने मृगया करते समय सुदूर वन मे कण्व ऋषि के आश्रम में प्रवेश किया और वहां ऋषि की अनुपस्थिति में उनकी पुत्री शकुन्तला से गान्धर्व विवाह रचाया। इस सम्बन्ध में इससे आगे की कथा बड़ी रोमांच पूर्ण है। गान्धर्व विधि से विवाह करने के उपरान्त राजा दुष्यन्त अपने नगर को वापिस चला गया और वहां जाकर दुर्वासा के शाप से उसे शकुन्तला के प्रसंग की पूर्ण विस्मृति हो गई। कण्व जब यात्रा से आश्रम मे वापिस आये तो उन्हें शकुन्तला के विषय में जो जानकारी हुई उसके आधार पर उन्होंने उसे स्वामी के घर भेजना उचित समझा। परिणामतः दो मुनिकुमारो के साथ उसे दुष्यन्त के पास भेजा गया। दुष्यन्त तो भूल ही चुके थे, उन्होंने शकुन्तला को अंगीकार नही किया। निदान गर्भावस्था पूर्ण होने पर शकुन्तला के गर्भ से पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम भरत हुआ। भरत बाल्यावस्था ही से बडा वीर था। वह शेर के शिशुओ के साथ ऐसे खेलता था जैसे साधारण मनुष्यो के बालकों से। थोड़े समय बाद दुष्यन्त को खोई मुद्रिका दर्शन से शकुन्तला की स्मृति लौट आई और उसने अपनी वधू और पुत्र को अंगीकार कर लिया।

दुष्यन्त से पूर्व पौरव लोग वास्तव मे प्रतिष्ठान राज्य खो चुके थे। सूर्यवंशी राजा सगर की विजयो ने सूर्यवंश के गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित कर दिया था। सगर की विजयो के प्रभाव ने हैहय तालजंघीय राजाओ तथा पौरवों की प्रतिष्ठा को मन्द कर दिया था। सगर ने अश्वमेध यज्ञ किया था तथा उसके बहुसंख्यक पुत्रो ने समस्त भारत मे विजय का डंका बजा दिया था।

दुष्यन्त के बाद उसका पुत्र भरत चक्रवर्ती सम्राट हुआ। उसका राज्य वैदिक परम्पराओ और आदर्शों के अनुकूल था। उस काल में अनेक विद्याओं और कलाओ का महान् उद्भव हुआ और इस पुनरुत्थान से जिस संस्कृति का उदय हुआ वह भारती कहलाई और उसी आधार पर इस देश का नाम भारतवर्ष पडा। भारतवंश की कई शाखाएँ उत्तर भारत मे शताब्दियो तक राज्य करती रही। इस काल मे वैदिक सभ्यता और संस्कृति का प्रचार हुआ।

भरत के कई पुत्र बाल्यावस्था मे ही चल बसे। अत. उसने अपने उत्तराधिकारी के रूप मे बृहस्पति के वंशज भारद्वाजो मे से वितथ भारद्वाज को चुना। उसने उसे दीर्घतमा ऋषि के परामर्श से यज्ञ के विधान द्वारा पुत्र

रूप में वरण किया। भरत के कई पीढियो बाद हस्ति नाम का एक राजा बडा प्रतापी हुआ। इस राजा ने ही हस्तिनापुर नामक नगर अपने नाम पर बसाया था। भरत से हस्ति तक निम्नलिखित राजागण हुए (१) वितथ भारद्वाज (२) मन्यु (३) वृहत्क्षत्र (४) सुहोत्र (५) हस्ति। वृहत्क्षत्र के तीन भाई और थे, उनके नाम थे महावीर्य, नर और गर्ग। महावीर्य के दुरुक्षय नाम का पुत्र हुआ। उसके त्र्य्यारुणि, पुष्करिण्य और कपि नामक पुत्र हुए जो पीछे तीनो ब्राह्मण हो गये। नर के संकृति नामक पुत्र हुआ। संकृति के गुरु प्रीति और रन्तिदेव नामक पुत्र हुए। गर्ग के शिनि नामक पुत्र हुआ। शिनि के गार्ग्य और शैन्य नामक पुत्र हुए जो क्षत्रोपेत ब्राह्मण हुए।

हस्ति के तीन पुत्र हुए १—अजमीढ़, २—द्विजमीढ़ और ३—पुरुमीढ़। अजमीढ के वंशजो ने गगा यमुना के दोआव मे पाञ्चाल प्रदेश की रचना की। उत्तरी भाग उत्तर पाञ्चाल और दक्षिणी भाग दक्षिण पांचाल कहलाया और इन दोनों की क्रमशः अहिच्छत्र और काम्पिला राजधानी थी। अजमीढ़ के बाद पुरुवंश के बीस राजाओं का वंश क्रमानुगत नामोल्लेख और उपलब्ध होता है वह इस प्रकार है (१) अजमीढ (२) वृहदिपु (३) वृहद्धनु (४) वृहत्कर्मा (५) जयद्रथ (६) विश्वजित् (७) सेनजित् (८) रुचिराश्व (९) पृथसेन (१०) पार (११) नील (१२) समर (१३) सुपार (इसके दो भाई पार और सदश्व और थे) (१४) पृथु (१५) सुकृति (१६) विभ्राज (१७) अणुह (१८) ब्रह्मदत्त (१९) विष्वक सेन (२०) उदक्सेन (२१) भल्लाभ। अजमीढ़ के पुत्र वृहदिपु के उपरोक्त वशज दक्षिणी पाचाल प्रदेश पर शासन करते थे जिसकी राजधानी काम्पिल्य थी।

अजमीढ की नालिनी नाम की एक भार्या और थी जिससे एक और वंश क्रम चला। अजमीढ के ये वंशज उत्तरी पांचाल पर राज्य करते थे। अजमीढ का नालिनी से जो पुत्र उत्पन्न हुआ था उसका नाम नील था। नील के शान्ति, शान्ति के सुशान्ति, सुशान्ति के पुरञ्जय, पुरञ्जय के ऋक्ष, ऋक्ष के हर्यश्व नामक पुत्र हुआ। हर्यश्व के पाच पुत्र हुए मुद्गल, सृंजय, वृहदिपु, यवीनर और काम्पिल्य। इसके ये पांचों पुत्र पाचाल कहलाये। मुद्गल से मौद्गल्य नामक क्षत्रोपेत ब्राह्मणो की उत्पत्ति हुई। मुद्गल से वृहदश्व और वृहदश्व से दिवोदास की उत्पत्ति हुई। दिवोदास का पुत्र मित्रायु था। उत्तर पांचाल के दिवोदास, मित्रायु, सृंजय, च्यवन और सुदास आदि महा पराक्रमी राजा हुए। पौरवो की अन्य शाखाओं मे उत्तरी पांचाल का राज्य इन राजाओं के काल में विशेष उल्लेखनीय था।

अजमीढ का ऋक्ष नामी एक और पुत्र था जिससे भी उसकी सन्तति चली। ऋक्ष के वशजो की परम्पराओ में सवरण नाम का राजा प्रतापी हुआ है। सवरण से पांचाल राज सुदास का युद्ध हुआ जिसका वर्णन महाभारत तथा ऋग्वेद में मिलता है। यह सुदास बडा प्रतापी और विजेता था। यह अयोध्या के अडसठवी पीडी पर ऐक्ष्वाकव राजा अतिथि का समकालीन था। इसके राज्य काल मे पाचाल राज्य की शक्ति उत्तर भारत मे सर्वाधिक एव सर्वोच्च थी। इसने हस्तिनापुर के राजा सवरण को युद्ध मे परास्त किया और यमुना के पश्चिमी तट तक अपने राज्य का विस्तार किया। इस घटना से पश्चिमोत्तर भारत के राज्यो ने भयभीत होकर अपना एक सघ बनाया जिसमें पौरव, सवरण, मत्स्य, तुर्वसु, द्रुह्यु, शिवि, पक्थ भलानु, अलिन, विषाणी आदि राज्य और जातियाँ सम्मिलित हुईं। ऋग्वेद मे इस युद्ध का उल्लेख है और इसे 'दाशराज्ञ युद्ध' कहा है। सुदास ने पजाब में प्रवेश कर सघ से मुठभेड ली। परुष्णी के किनारे जो युद्ध हुआ उसमे सुदास की विजय हुई। पराजय के परिणाम स्वरूप संघ ध्वस्त हो गया। इस शानदार विजय से सुदास के प्रभुत्व में अतिशय वृद्धि हुई। इस 'दाश राज्ञ युद्ध' का वर्णन ऋग्वेद और महाभारत दोनो में मिलता है। सुदास के काल मे वैदिक साहित्य और सस्कृति का बड़ा प्रसार हुआ।

पाचाल राज्य का यह उत्कर्ष सुदास के जीवन काल तक ही सीमित रहा। सुदास के वाद भाग्य ने पलटा खाया और हस्तिनापुर के राजा सवरण ने सुदास के पुत्र सहदेव से न केवल अपना राज्य छीन लिया किन्तु उत्तर पाचाल को जीतकर अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

सवरण का पुत्र कुरु हुआ जिसने कुरुक्षेत्र की स्थापना की। कुरु वंशकर राजा था और कुरु से पुरुवश वदल कर कुरुवश कहलाने लगा।

पुरुवंशीय निषध राज्य

चन्द्रवशी सम्राट ययाति के शर्मिष्ठा से उत्पन्न सबसे छोटे पुत्र पुरु की शाखा मे निषध नाम के एक राजा हुए हैं। उन्होने निषध देश बसाकर अपना राज्यारम्भ किया। कुछ ऐतिहासिक ग्वालियर से चालीस मील दूर नरवर को ही प्राचीन निषध देश मानते हैं। कुछ अन्य ऐतिहासिक अफगानिस्तान मे हिन्दूकुश के पश्चिम में जो पर्वत श्रेणी है उसी को पर्वतोपनिषध कहते हैं। पैरोपामिशस प्रचलित नाम पर्वतोपनिषध का अपभ्रंश है।

निषध देश के राजा वीरसेन के दो पुत्र थे (१) नल (२) पुष्कर। राजकुमार नल ज्येष्ठ पुत्र थे और पुष्कर छोटे। नल अनेक गुणों से युक्त, सुन्दर, वीर, धर्मात्मा और प्रतापी थे। विदर्भ देश के राजा भीम की कन्या दमयन्ती परम सुन्दरी थी। उसके रूप सौन्दर्य की ख्याति चहुँ ओर फैली हुई थी। नल ने दमयन्ती की सुन्दरता के विषय में सुन रखा था और वे उस पर आसक्त थे। इसी प्रकार दमयन्ती ने भी नल के अनेक गुणों की प्रशंसा सुनी थी। वह भी मन ही मन नल पर अनुरक्त थी। विदर्भ देश के राजा भीम ने अपनी पुत्री के विवाह हेतु स्वयम्वर रचा जिसमें अनेक देशो के राजाओ के साथ राजा नल भी सम्मिलित हुए। दमयन्ती ने स्वयम्वर मे राजा नल को वरमाल पहिनाई। राजा नल विवाहोपरान्त घर वापस लौट गये और उन्होंने दमयन्ती सहित राज्यसिंहासन पर १२ वर्ष तक आनन्द पूर्वक राज्य किया।

इसके बाद एक घटना घटित हुई। नल के छोटे भाई पुष्कर ने नल को जुआ खेलने को कहा। उस समय की परम्परा के अनुसार नल ने मना न किया और जुआ खेलने बैठ गये। राजा नल दांव पर दांव हारते चले गये यहाँ तक कि पुष्कर ने उनका समस्त राजपाट, महल, निजी पूँजी आदि सभी कुछ हड़प लिया और उनसे नगर से बाहर निकल जाने को कहा। राजा नल तीन दिन तक भूखे प्यासे रहे। तीन दिन बाद जब वे वन में पहुँचे उन्होने कन्द मूल फल खाकर संकट-काल व्यतीत करना प्रारंभ किया। बन जाने के पूर्व नल ने दमयन्ती को समझाया था कि वह वन को चलने की अपेक्षा अपने पीहर चली जाय। परन्तु भाग्य में तो कुछ और ही बदा था। वन मे राजा नल दमयन्ती को सोता छोड कर चले गये। उन्होने सोचा कि और कुछ उपाय न सोच कर दमयन्ती अपने पीहर चली जायगी।

नल वहाँ से उठकर अयोध्या नगरी मे पहुँचे और वहाँ बाहुक नाम धारण कर अयोध्या के राजा के सारथि के रूप मे रहने लगे। इधर जब दमयन्ती जागी तो उसने राजा नल को वहाँ न देखकर बड़ा विलाप किया। वह इधर उधर भटक ही रही थी कि अकस्मात् एक अजगर उसे निगलने को उद्यत हुआ। दैवात् एक व्याध उधर आ निकला और उसने अजगर को मार कर दमयन्ती की जान बचाई। परन्तु वह व्याध तो उसके सौंदर्य पर लट्टू होकर उसका सतीत्व ही नष्ट करना चाहता था। जैसे ही व्याध दमयन्ती पर आक्रमण करने को तत्पर हुआ दैवसंयोग से वह अचेतन होकर गिर पड़ा और उसके प्राण पखेरू उड़ गये।

निदान दमयन्ती रोती बिलखती कुछ यात्रियो की टोली के साथ विदर्भ जाने लगी तो हाथियो के झुण्ड ने अनेक यात्रियो का काम तमाम

कर दिया परन्तु दमयन्ती किसी प्रकार बच निकली। वह बजाय विदर्भ के चेदि नगर पहुँच गई। दमयन्ती को रोती बिलखती चेदि देश के राजा की माता ने देखा और महल मे बुला लिया।

जब विदर्भराज भीम को नल और दमयन्ती के निषध छोड़कर जाने और लापता होने का समाचार मिला तो उन्होने कुछ विश्वसनीय गुप्तचर नल और दमयन्ती का पता लगाने भेजे। ब्राह्मण सुदेव ने जो उस समय उनकी तलाश में चेदि देश मे आया हुआ था जब दमयन्ती को देखा तो वह उसे पहिचान गया। चेदिराज की माता दमयन्ती की मौसी लगती थी। उसका पिता दशार्ण का राजा सुदामा था जिसकी दो कन्याओ मे एक तो विदर्भराज भीम को और दूसरी चेदि के राजा वीर बाहु को ब्याही थी। जब चेदिराज की माता को यह मालुम हुआ कि दमयन्ती उसी की बहिन की बेटी है तो उसने बड़े आदर पूर्वक दमयन्ती को विदर्भ अपने पिता राजा भीम के पास भिजवा दिया।

इधर राजा भीम ने अपने जमाई नल को ढुँढवाने को भी गुप्तचर भेजे हुए थे। कुछ दिन बीतने पर पर्णाद नाम के एक ब्राह्मण ने बताया कि अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण की सभा मे बाहुक नाम काएक सारथि है वह दमयन्ती का वृत्तान्त सुनकर रो पडा। दमयन्ती यह सुनकर सोचने लगी कि हो न हो यही मेरा पति है।

नल को बुलवाने के लिए राजा भीम और दमयन्ती ने आपस मे सलाह करके एक योजना बनाई उन्होंने ऋतुपर्ण के पास खबर भेजी कि दमयन्ती का दूसरा स्वयम्वर करना है अतः तुम अवश्य जल्द से जल्द आओ। राजा ऋतुपर्ण शीघ्र ही विदर्भ पहुँचना चाहते थे। बाहुक ने उन्हे आश्वस्त किया कि वह उन्हे बहुत शीघ्र विदर्भ पहुँचा देगा। बाहुक के वहाँ पहुँचने पर दमयन्ती ने अपने बच्चो को दासी के साथ उसके पास भेजा। उन्हे देखकर नल की आँखो मे आँसू आ गये। जब दमयन्ती को यह याद पता लगी तो उसे विश्वास हो गया कि नल वही है। राजा भीम और दमयन्ती उसके पास गये और कहा कि यह सब चाल तुम्हे शीघ्र बुलाने की थी। अनायास ही राजा नल के मिल जाने से उनके श्वसुर भीम और सम्बन्धी ऋतुपर्ण बड़े प्रसन्न हुए।

जहाँ राजा नल ने बाहुक के रूप में ऋतुपर्ण को रथ चलाने की विद्या खूब सिखला दी थी वहाँ ऋतुपर्ण ने भी नल को द्यूतक्रीड़ा के रहस्य बतला कर उनको द्यूत मे कुशल बना दिया। कुछ दिन तो नल ने विदर्भ मे ही

विश्राम किया परन्तु फिर वे दमयन्ती सहित निषध देश मे पहुँचे और अपने भाई पुष्कर से कहा कि अब की बार वे दमयन्ती को ही दाँव पर लगाकर जुआ खेलेंगे। पुष्कर तो यह चाहता ही था तुरन्त राजी हो गया। परन्तु इस बार नल की जीत हुई। नल ने निरन्तर कई दांवो मे अपना समस्त राजपाट पुनः प्राप्त कर लिया। परन्तु उसने अपने भाई पुष्कर के साथ उस निर्दयता का व्यवहार न किया जो कि उसके भाई ने किया था। नल ने पुष्कर को एक छोटे से राज्य का स्वामी बनाकर उसे अपने नगर से विदा किया। इसके बाद राजा नल अपनी स्त्री और सन्तान सहित सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए दीर्घकाल तक राज्य करते रहे।

यदुवंश

भारतीय इतिहास मे यदुवंश अपना बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस वंश का महत्व इसलिये भी अधिक है कि इसी वंश में श्रीकृष्ण का आविर्भाव हुआ था जिन्हें भगवान विष्णु का अवतार माना जाता है। यदुवंश की उत्पत्ति चन्द्रवंश के एक वंशकर राजा से हुई जिसका नाम यदु था।

जिस प्रकार वैवस्वत मनु के अनेक पुत्रों में से इक्ष्वाकु नामी एक पुत्र से मानव अथवा सूर्यवंश की स्थापना हुई उसी प्रकार किसी अन्य मनु की पुत्री इला के माध्यम से ऐल अथवा चन्द्रवंश की परम्परा चली। चन्द्रवंश में ययाति नाम का एक बड़ा प्रतापी और दिग्विजयी राजा हुआ है। पुराणो मे उसके चक्रवर्ती सम्राट होने का उल्लेख है। ययाति के पाँच पुत्र थे—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु। ययाति के सबसे छोटे पुत्र पुरु को प्रतिष्ठान का राज्य मिला और उसके वंशज पौरव कहलाये। यदु का राज्य पश्चिम मे केन बेतवा और चम्बल नदियो के प्रदेश मे बना। यदु के वंशज यादव हुए।

पुराणो में यदु का वंश इस प्रकार चलता है। यदु के सहस्रजित, क्रोष्टु, नल और नहुष नामक चार पुत्र हुए। सहस्रजित् के शतजित् और शतजित् के हैहय, हेहय और वेणुहय नामक तीन पुत्र हुए। हैहय वंशकर राजा था। उसने और उसके वंशजों ने यादवो की कीर्ति को बढाया। उनसे पूर्व ऐक्ष्वाकव महाराज मान्धाता की विजयो ने यादवों को निर्बल बना दिया था। अनेक यादव वंशीय राजा लोग मान्धाता से पराजित होकर उत्तर, पश्चिम और दक्षिण दिशाओं में बढ़े और उन्होंने वहाँ अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये। कुछ यादव राजे जो अपने ही प्रदेश में रहे उन्हें महाराज मान्धाता का करद सामन्त के रूप में अधीनस्थ होकर रहना पड़ा। हैहय वंशीय राजाओं ने

अपनी खोई हुई कीर्ति को पुन. प्राप्त किया। उन्होने उत्तरी भारत पर अनेक सफल सैन्य अभियान किये और काशी आदि प्रदेशो को अपने अधीन किया। उनके काल मे अयोध्या की शक्ति कुछ निर्बल पड गई थी।

हैहय से यदुवंश का विस्तार इस प्रकार हुआ। हैहय का पुत्र धर्म, धर्म का धर्मनेत्र, धर्म नेत्र का कुन्ति, कुन्ति का सहजित् और सहजित् का पुत्र महिष्मान् हुआ। महिष्मान् वडा प्रतापी राजा हुआ है उसने माहिष्मती नाम की नगरी बसाई। महिष्मान् का पुत्र भद्रश्रेण्य हुआ जिसने पूर्व में आगे बढ कर काशी राज्य पर विजय प्राप्त की थी। भद्रश्रेण्य के दुर्दम, दुर्दम के धनक और धनक के चार पुत्र हुए जिनके नाम थे कृतवीर्य, कृताग्नि, कृतधर्म और कृतौजा।

कृतवीर्य का पुत्र सहस्रार्जुन था जिसको कार्तवीर्य अर्जुन भी कहते हैं। यह वड़ा यशस्वी और प्रतापी था। पुराणो में इसके सबध मे अनेक किम्वदन्तियाँ प्रचलित है। इसने एक बार रावण को जो विजयोन्माद मे माहिष्मती पर चढ आया था अपनी नगरी के दुर्ग में वन्दी बनाकर रक्खा था। ऐसा प्रतीत होता है कि रावण श्रीराम के समय का एक व्यक्ति ही नही वरन् उस कुल के पूर्ववर्ती राक्षस राजाओं के वंश का नाम भी था। सहस्रार्जुन के सम्वन्ध मे एक अनुश्रुति यह भी है कि उसका भृगुगोत्र के ब्राह्मणो से जो नर्मदातट पर रहते थे और हैहयो के राजपुरोहित से कुछ वैमनस्य हो गया था। ब्राह्मण लोग अपने गुरू ऋषि ऋचीक और्व के साथ नर्मदातट छोड़कर कान्यकुब्ज चले गये। वहाँ जाकर और्व मुनि ने कान्यकुब्ज के राजा गाधि की कन्या सत्यवती से अपना विवाह कर लिया। और्व मुनि का पौत्र परशुराम बड़ा वीर और प्रतापी था। वह अपने पितामह की अवज्ञा के कारण हैहयो से द्वेष रखता था। कार्तवीर्य अर्जुन का परशुराम के द्वारा ही वध हुआ। परशुराम की शक्ति से हैहयो की उन्नति रुक गई और वे कुछ समय के लिए दब से गये।

कार्तवीर्य अर्जुन के पुत्रो मे शूर, शूरसेन, वृषसेन, मधु और जयध्वज ये पाँच प्रधान थे। जयध्वज का पुत्र तालजंघ हुआ। तालजघ के अनेक पुत्रो मे वीतिहोत्र सबसे वड़ा था और उनमे से एक का नाम भरत था जो वड़ा प्रतापी था। भरत के वृष, वृष के मधु और मधु के वृष्णि आदि अनेक पुत्र हुए। वृष्णि के कारण यह वश वृष्णि वश कहलाया। मधु के कारण इस वश की सज्ञा मधु भी हुई। यदु के नाम पर इस वश को यादव वंश तो पहिले ही कहा जाता था। इस वंश का यादव नाम अधिक व्यापक और सामान्य है। इस वंश-वृक्ष की अनेक शाखा प्रशाखाएँ प्रस्फुटित हुई।

यदु की सहस्रजित् नामक पुत्र से जो वंश परम्परा चली उसमे वृष्णि नाम के राजा से यादवो की वृष्णि शाखा की उत्पत्ति हुई। यदु के दूसरे पुत्र क्रोष्टु से जो वंश चला उसमे सत्रहवी पीढी पर कैशिक नाम के राजा का चेदि नामक पुत्र हुआ जिससे कि चैद्य राजाओं की श्रृङ्खला का जन्म हुआ। यदु पुत्र क्रोष्टु की बारहवी पीढी पर ज्यामघ नाम का एक महापराक्रमी व श्रेष्ठ चरित्र वाला राजा हुआ। उसने शत्रु सेना द्वारा व्यक्त एक कन्या को अपनी पुत्र वधू के रूप में ग्रहण किया। उस कन्या का उसके पुत्र विदर्भ से २१ वी पीढी पर अंशु नामी राजा हुआ जिसका कि सत्वत नामी पुत्र हुआ। सत्वत से सात्वत वंश का क्रम चला।

सत्वत के भजन, भजमान, दिव्य, अन्धक, देवावृध, महाभोज और वृष्णि नामक पुत्र हुए। सात्वत वंश में ही अन्धक, अनमित्र, महाभोज, प्रसेन और सत्राजित् हुए। सत्राजित ने स्यमन्तक मणि प्राप्त की थी। अनमित्र के वश मे ही पृश्नि का जन्म हुआ और पृश्नि से श्वफल्क की उत्पत्ति हुई। श्वफल्क के गान्दिनी से अक्रूर का जन्म हुआ।

अन्धक के कुकुर, भजमान, शुचिकम्बल और बर्हिष नामी चार पुत्र हुए। कुकुर से आठवी पीढ़ी पर पुनर्वसु से आहुक नाम का पुत्र हुआ। आहुक के देवक और उग्रसेन हुए। देवक के देववान् आदि चार पुत्र और देवकी आदि सात पुत्रियाँ थी। देवक की सातों कन्याऐ वसुदेव जी को व्याही थी। उग्रसेन के कंस आदि ६ पुत्र हुए और ४ कन्याऐं हुई।

कुकुर के भाई भजमान के आठवी पीढी पर शूरसेन हुए। उनके मारिषा नामी पत्नी से वसुदेव आदि दस पुत्र हुए। वसुदेव को आनकदुन्दुभी भी कहते हैं। वसुदेव के पांच बहिने थी जिनके नाम थे, पृथा, श्रुतदेवा, श्रुतकीर्ति, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी।

पृथा को शूरसेन ने अपने मित्र कुन्ति को गोद दे दिया था। कुन्ति की दत्तक कन्या होने के कारण उसका नाम कुन्ती पड़ा और वह पाण्डु को व्याही गई। उससे युधिष्ठिर भीम और अर्जुन उत्पन्न हुए। शूरसेन की एक कन्या श्रुतश्रवा को चेदिराज दमघोष ने विवाहा था जिससे शिशुपाल की उत्पत्ति हुई।

यादव वशीय राजाओ के वंश क्रमानुगत वर्णन के अतिरिक्त इस वश के इतिहास की कुछ उन घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है जिनका सम्बन्ध इनके सममामयिक ऐक्ष्वाकु सूर्यवंशी राजाओ से है। परशुराम और महाराज रामचन्द्र समकालीन थे। इसी प्रकार सहस्रार्जुन और परशुराम के

युद्ध का उल्लेख इस बात का परिचायक है कि हैहय वंशीय कार्तवीर्य अर्जुन और महाराज रामचन्द्र लगभग समसामयिक थे। सम्भव है एक दो पीढी का अन्तर रहा हो। कार्तवीर्य अर्जुन का एक पुत्र मधु भी था जो सम्भवतः वही यदुवंशी मधु था जो मधुवन पर राज्य करता था। इसी मधु का पुत्र लवण था जिसके अत्याचारों से तत्कालीन जनता का बहुत उत्पीड़न हुआ था। श्रीराम ने अपने भाई शत्रुघ्न को लवण से युद्ध करने और उसे राज्यच्युत करने भेजा था। लवण उस युद्ध मे मारा गया। शत्रुघ्न ने १२ वर्ष मथुरा पर स्वयं राज्य करके अपने पुत्र शूरसेन को वहाँ का राजा बना दिया। कुछ इतिहासकारों का मत है कि उसी शूरसेन के नाम पर मथुरा प्रदेश का नाम शूरसेन प्रदेश पडा। लिंग पुराण के आधार पर यह सिद्ध होता है कि इस प्रदेश का नाम सहस्रार्जुन के पुत्र शूरसेन के नाम पर पड़ा। मधुवन का राजा मधु बड़ा धर्मात्मा था। उसको रामायण में असुर लिखा है परन्तु प्राचीन काल मे राक्षसों की सस्कृति भी बडी समुन्नत थी, उनमें भी अनेक धर्मात्मा और सत्यपरायण लोग हुए हैं। प्रह्लाद और बलि आदि शुभ्र चरित्र वाले व्यक्तियो की उत्पत्ति असुरवश मे हुई थी। मधु भले ही असुर सस्कृति का मानने वाला हो वह था यादव ही।

यादवो मे पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार सूर्यवशी हर्यश्व का विवाह मधु की पुत्री मधुमती से हुआ था। अपने भाई से अनबन होने के कारण हर्यश्व को अयोध्या से निर्वासित होना पडा। कदाचित् अपनी पत्नी की सलाह से हर्यश्व अपने श्वसुर मधु की शरण मे गया। मधु ने अपने राज्य के दो भाग करके मधुवन का निकटवर्ती प्रदेश तो अपने पुत्र लवण को दिया और हर्यश्व को आनर्त और सुराष्ट्र का शासक बना दिया। इस प्रकार हर्यश्व की सन्तति सूर्यवश से बदलकर चन्द्रवश की समझी जाने लगी। हर्यश्व का मधुमती से यदु नामक पुत्र हुआ। इस यदु को ययाति पुत्र यदु से भिन्न व्यक्ति समझना होगा क्योंकि ययाति पुत्र यदु तो इस यदु का कई पीढियो के ऊपर पूर्वज था। हर्यश्व-पुत्र यदु के वंशजो के आगे चलकर अनेक कुल प्रसिद्ध हुए उनके नाम हैं भीम, कुकुर, भोज, अंधक, यादव दाशार्ह और वृष्णि। आनर्त प्रदेश पर जो यादवी शाखा राज्य कर रही थी उसके अन्तर्गत सत्वत-पुत्र भीम महाराज रामचन्द्र का समकालीन था। ऐसा प्रतीत होता है कि शत्रुघ्न पुत्र शूरसेन मथुरा प्रदेश पर अपना आधिपत्य अधिक काल तक स्थिर न रख ... और सात्वत भीम ने महाराज रामचन्द्र के बाद उसे शीघ्र ही ...२९ मथुरा पर पुनः यादवी शासन स्थापित कर दिया। जब अयोध्या मे श्री... के पुत्र कुश का राज्य था तब मथुरा में यादव वंशीय भीम का पुत्र अन्धक

राज्य करता था। मथुरा में अंधक वंशीय राजाओं का राज्य कई पीढ़ी तक चलता रहा। उग्रसेन और उसका पुत्र कंस अंधक वंशीय थे। भीम के एक पुत्र का नाम वृष्णि था। शूरसेन जो वसुदेव के पिता थे वृष्णि वंश में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने अपने नाम पर शौरपुर (वर्तमान बटेश्वर) बसाकर अपना पृथक् राज्य स्थापित किया था। यह शूर अन्धक वंशीय उग्रसेन के समकालीन थे। इन्हो के पुत्र का नाम वसुदेव था जिनको उग्रसेन के पुत्र कंस की बहिन देवकी व्याही थी। इन्हो वसुदेव के श्रीकृष्ण और बलराम दो पुत्र हुए। बलराम अथवा बलभद्र जी तो वसुदेव की रोहिणी नामक स्त्री से और श्रीकृष्ण देवकी से उत्पन्न हुए।

श्री कृष्ण

श्री कृष्ण के कारण यदुवंश गौरवशाली हुआ। श्री कृष्ण के समय मे अन्धक-वृष्णि संघ बना हुआ था। यह संघ अंधक और वृष्णि गोत्रो से उत्पन्न क्षत्रियो का था। उग्रसेन उनके राज प्रमुख थे और श्रीकृष्ण मुख्य। श्रीकृष्ण का जीवन चरित्र संक्षेप में इस प्रकार है।

देवकी की कोख से उत्पन्न होने के बाद नवजात शिशु कृष्ण को वसुदेव जी कंस के भय से गोकुल नन्दगोप के घर पहुँचा आये थे। नन्दगोप की पत्नी की कुक्षि से उत्पन्न बालिका को उसके घर से लाकर वसुदेव जी ने यह प्रकट कर दिया कि देवकी के गर्भ से कन्यारत्न उत्पन्न हुआ है। कस ने उस अबोध बालिका की हत्या कर दी। इधर श्रीकृष्ण धीरे-धीरे बड़े होकर नन्दगोप के ग्राम मे अनेक कुतूहल-वर्द्धक साहसिक कृत्य करने लगे। उन्होने कई काम अदम्य साहस एव शूरता के किये और अपने गोप बान्धवो को अनेक आपत्तियों से बचाया। उन्होने जगली बर्बर जाति के कुछ हिंसक दैत्यों जैसे धेनुकासुर, प्रलम्बासुर, केशी आदि का वध किया। इन्द्र के स्थान पर गोवर्द्धन पूजा का विधान बनाया। श्रीकृष्ण और उनके साथी गोपो को पर्वत का महत्व ज्ञात था अत: उन्होने इन्द्र के स्थान पर पर्वत की उपासना उचित समझी। श्रीकृष्ण ने कालिय नाम के नागवंशी दैत्य का जो अपने अत्याचारों और हिंसक कृत्यो से स्थानीय जनता को त्रस्त किये हुए था मर्दन किया और उसे वह भू-भाग त्यागने को बाध्य किया। श्रीकृष्ण और बलराम के वीर कृत्यो का सम्वाद मथुराधिपति कस के पास पहुँच गया था। उसने उन दोनों को किसी बहाने मथुरा बुलाकर मार डालना ही अपने हित मे समझा। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने श्वफल्क के पुत्र अक्रूर को उन दोनो को मथुरा लिवा लाने के लिए कहा। अक्रूर नन्दगोप के पास पहुँचे। इधर नन्दगोप का सारा क्षेत्र उनकी स्त्री, प्रजाजन, गोपजन और गोपियाँ श्रीकृष्ण के वीरोचित कार्यों और

उनके अनुपम सौन्दर्य से इतने प्रभावित और प्रेमासक्त थे कि अक्रूर की बात सुनकर उनको घोर मानसिक पीड़ा हुई। वे श्रीकृष्ण को अपना देश छोड़कर जाने की स्वीकृति देने के लिए कदापि तैयार न थे। अक्रूर के प्रस्ताव से समस्त गोकुल में कुहराम मच गया। किन्तु श्रीकृष्ण ने अनेक भांति से स्वजनों को समझा बुझा कर शान्त किया और अपने भाई बलराम को लेकर अक्रूर के साथ मथुरा चल दिये। कुछ अन्य गोप भी उनके साथ मथुरा आये दोनों भाइयों ने रात्रि को अक्रूर के घर विश्राम किया और प्रातः कुतूहलवश अपने साथियों सहित नगर का भ्रमण करने निकल पड़े। नगर निवासी दोनों भाइयों के अद्भुत सौन्दर्य और शौर्य से अत्यन्त प्रभावित हुए और चारों ओर उनका सत्कार होने लगा। मार्ग में उनकी कुब्जा दासी से भेंट हुई जो कंस के यहाँ चन्दन लेपन के लिए आया करती थी। कंस के धोबी ने दोनों भाइयों और उनके साथी गोपों का तिरस्कार किया परिणामतः गोपों ने धोबी के सारे कपड़े लूट लिये और अपने आप को उन राजकीय सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित किया। इसके उपरान्त वे कुब्जा के चन्दन से चर्चित होकर नगर का भ्रमण करने लगे।

कंस ने द्वार पर एक मदोन्मत्त हाथी खड़ा कर रखा था। उसकी योजना उस हाथी के द्वारा उन दोनों भाइयों का वध कराने की थी। परन्तु बात की बात में दोनों भाइयों ने उस हाथी के दाँत उखाड़ कर फेंक दिये जिससे भयङ्कर चीत्कार करके उस हाथी ने अपने प्राण छोड़ दिये। फिर कंस के दो मल्लों ने जिनके नाम मुष्टिक और चाणूर थे कृष्ण और बलराम को चुनौती दी लेकिन उनकी भी कुवलिया पीड हाथी की सी गति हो गई। इस पर कंस उत्तेजित हो अपने सैनिकों को आज्ञा देने वाला ही था कि श्रीकृष्ण ने उसको मंच से गिरा कर भूमि पर डाल दिया और उस पर ऐसा मार्मिक प्रहार किया कि उसके प्राण पखेरू उड़ गये।

कंस के बध के बाद मथुरावासियों ने श्रीकृष्ण से राजकाज सम्हालने को कहा परन्तु श्रीकृष्ण ने कंस के स्वेच्छाचारी शासन का अन्त करके स्वयं राजा बनना स्वीकार न किया और अन्धक-वृष्णियों के संघीय राज्य की पुनः स्थापना कर दी। उन्होंने कंस के पिता उग्रसेन को ही राज प्रमुख नियुक्त किया।

कंस की दो पत्नियाँ थीं। वे दोनों मगधराज जरासंध की बेटियाँ थीं। कंस के निधन के बाद उसकी दोनों विधवा पत्नियों ने अपने पिता के घर जाकर अपनी विपत्ति का विवरण उसको सुनाया। स्वभावतः जरासन्ध इससे बहुत कुपित हुआ और वह कृष्ण को अपना घोर शत्रु समझने लगा। वह उस

काल मे भारत में चक्रवर्ती शासन स्थापित करने के स्वप्न देख रहा था। वह विजयोल्लास में उन्मत्त था; उसने कई प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। अपने स्वप्न को साकार करने में उसे श्रीकृष्ण और उनका मथ बाधक प्रतीत हुआ। अपने जामाता के वध का बदला लेने तथा अपने साम्राज्यवाद के मार्ग से एक महान् कंटक को दूर करने के अभिप्राय से उसने विशाल सेनाओ के साथ मथुरा पर कई बार आक्रमण किया परन्तु प्रत्येक बार उसे विफल होकर वापिस लौटना पडा। सत्रहवी बार उसने कालयवन की सेनाओं सहित मथुरा पर आक्रमण करने की योजना बनाई। आने वाले इस महायुद्ध की सूचना जब अन्धक-वृष्णि संघ के लोगों को मिली तब संघ के कुछ नेताओ ने कहा कि जरासंध के आक्रमणो की समस्या श्रीकृष्ण से जरासध की व्यक्तिगत शत्रुता के कारण है अर्थात् श्रीकृष्ण के कारण सघ को जरासंध से टक्कर लेनी पड रही है। श्रीकृष्ण ने इस अपवाद पर बड़ा नीतिज्ञतापूर्ण कदम उठाया। उन्होने सजातीयों को सम्बोधित करते हुए कहा कि जिन ज्ञातियों की वजह से जरासंध के आक्रमण होते हैं उन्हे मथुरा छोड देनी चाहिए। श्रीकृष्ण की यह राय बहुत लोगो को पसन्द आई और थोडे से कुकुर महा-भोजियों के अतिरिक्त समस्त अन्धक-वृष्णि सघ के प्रमुख लोग श्रीकृष्ण के साथ मथुरा का परित्याग करने को उद्यत हो गये। इस योजना को इतिहास मे महाभिनिष्क्रमण कहते हैं। पुनर्वास के लिए द्वारिकापुरी उपयुक्त समझी गई। एक तो वह स्थान व्यापारिक दृष्टि से उपयुक्त था दूसरे दूर होने के कारण जरासध की पहुँच के बाहर था। मथुरा से बहिर्गमन में श्रीकृष्ण और उनके साथियों का विशाल समूह जरासध की सेनाओं से तो बच निकला परन्तु कालयवन तो उसी मार्ग की ओर से मथुरा पर बढता आ रहा था, उससे मुठभेड अवश्यम्भावी थी। श्रीकृष्ण कालयवन की सेना से लड़ते जाते थे और द्वारिका की ओर बढते जाते थे। मार्ग मे उन्होंने बड़ी नीतिज्ञता से कालयवन की मुचुकुन्द जी से मुठभेड करा दी जिसके परिणाम स्वरूप कालयवन मारा गया और उसकी सेना तितर बितर हो गई। श्रीकृष्ण अपने साथियो सहित द्वारिका पहुँच गये।

इधर जरासंध ने आक्रमण कर मथुरा पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। वहाँ जो कुकुर भोजवशीय यादव थे उन्होने जरासध से सन्धि कर ली। श्रीकृष्ण के द्वारिकापुरी पहुँचने पर वहाँ बडी उन्नति हुई। द्वारिकापुरी के माध्यम से देश के व्यापार का बडा विस्तार हुआ और विदेशो से व्यावसायिक सम्पर्क बहुत बढ गये। इस कारण द्वारिकापुरी धनधान्य से पूर्ण बडी वैभवशालिनी नगरी हो गई। श्रीकृष्ण के तत्वावधान में द्वारकापुरी मे एक

सुदृढ यादव गणराज्य की स्थापना हो गई। जिसके वैभव और शक्ति सम्पन्नता की ख्याति सारे देश मे फैल गई।

कुरुवंश (हस्तिनापुर)

श्रीकृष्ण के समय मे हस्तिनापुर मे कुरुवंश का राज्य था। हस्तिनापुर के राजा पाण्डु के अकाल काल-कवलित हो जाने से वहाँ के राज-काज का भार उनके अन्धे बडे भाई धृतराष्ट्र के कधो पर आ पडा। पाण्डु के पाँच पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव थे तथा धृतराष्ट्र के दुर्योधन दुःशासन आदि अनेक पुत्र थे। धृतराष्ट्र के पुत्र अपने सामर्थ्यहीन पिताके राज्य मे उद्दण्ड हो गये थे। वे पाण्डवो को फूटी आँख से भी न देख सकते थे। यद्यपि मृतराजा पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण युधिष्ठिर हस्तिनापुर के राज्य के उत्तराधिकारी थे धृतराष्ट्र के पुत्र उनका यह अधिकार मानने को तैयार न थे। यद्यपि राज्य के वृद्धजन और सम्मान्य नेता जिनमे भीष्म, द्रोण आदि सम्मिलित थे, चाहते थे कि पाण्डवो के साथ न्याय हो तथापि दुर्योधन की कुचालो और उसके साथियो की कुत्सित मन्त्रणाओ के आगे वे अपने आपको असहाय अवस्था मे पाते थे। पाण्डवो को उनका न्यायपूर्वक भाग दिलाने मे वे असमर्थ हुए। इस पर भी दुर्योधन ने अपने मामा शकुनि के माध्यम से द्यूत क्रीडा द्वारा पाण्डवो का सर्वस्व हरण कर लिया और बारह वर्ष तक वनवास मे रहने को बाध्य किया। श्रीकृष्ण, जिनके कि पाण्डवगण भूआ के लड़के थे, ने भी धृतराष्ट्र और उनके राज्य के प्रधान महारथियों को बहुत समझाया बुझाया, उन्होने इस कार्य के सम्पादन मे दौत्य कर्म भी किया परन्तु दुर्योधन की हठधर्मी के आगे उनको भी सफलता न मिली।

श्रीकृष्ण का मिशन विफल होने के उपरान्त समस्या का हल युद्ध के अतिरिक्त और कुछ न था। यद्यपि यह मामला दो राजगृहो का पारिवारिक झगडा था तथापि इसके फलस्वरूप ऐसी आग फैली कि उसकी चिनगारियो से देश का कोई कोना न बचा। समस्त देश के अनेक भू-भागों तथा सीमान्त के भी राजागण दोनो पक्षो मे से किसी एक न एक की तरफ होकर युद्ध क्षेत्र मे आ डटे। श्रीकृष्ण पाण्डवो की ओर रहे। अंधकवृष्णि सघ के कुछ नेता कौरवों की ओर रहे। यद्यपि पाण्डवो की ओर तुलनात्मक दृष्टि से सैन्य बल कौरवों की अपेक्षा कम था तथापि श्रीकृष्ण का साथ होने के कारण उनका पक्ष प्रबल हो गया। इस गृहकलह के फलस्वरूप जो महायुद्ध हुआ वह अठारह दिन तक चलता रहा और उसका परिणाम बडा भयङ्कर हुआ। उस समय सामरिक ज्ञान एव अस्त्र-शस्त्रों की विद्या बहुत उन्नत अवस्था मे थी। अनेक नये आविष्कार हो चुके थे। सेनाएँ बड़े धुरन्धर युद्ध-शास्त्रियो द्वारा संचालित

थी। युद्ध में अनेक राजागण अगणित सेनाओं सहित खेत रहे। भारत के अनेक महान् योद्धा और सेनापति इस युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए। कौरव हारे ही नही समूल नष्ट हो गए। पान्डव जीते तो सही परन्तु उनके समस्त बन्धु-बान्धव युद्ध में ही स्वर्ग सिधार गये। इस युद्ध में इतना विनाश हुआ कि एक तरह से सारी सभ्यता ही नष्ट हो गई। इस युद्ध के बाद भारत अवनति के गहरे गर्त मे जा गिरा जिसमें से वह शताब्दियो तक भी बाहर निकलने मे समर्थ न हुआ।

श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को गीता ज्ञान महाभारत युद्ध की महान् उपलब्धि है। गीता का सारांश यही है कि आत्मा अजर-अमर है और मनुष्य को कर्म करना चाहिए। परमात्मा मे सब कुछ निवेदन कर सत्कर्म में प्रवृत्त रहना चाहिये।

महाभारत के युद्ध का यादवो पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। यादवगण कृतवर्मा के नेतृत्व में कौरवो की ओर से लड़े थे। महाभारत में अनेक यादव वीरश्रेष्ठ रण के मैदान मे वीरगति को प्राप्त हुए। उनकी सेना भी बहुत कुछ नष्ट हो गई। अब यादवों मे स्त्रियाँ और बच्चे अधिक और पुरुष कम रह गये। महाभारत के बाद का काल यादवो के ह्रास का समय है। जो कुछ यादव बचे प्रमादी हो गये। एक बार प्रभास क्षेत्र में जहाँ यादवगण आमोद-प्रमोद के लिए जाया करते थे वे मदिरा पीकर आपस मे लड़ने लगे। लडते-लडते उनमे इतना भयङ्कर युद्ध हुआ कि सर्वनाश का दृश्य ही उपस्थित हो गया। इस भयानक नर-संहार को देखकर बलराम जी को इतना क्षोभ हुआ कि वे समुद्र यात्रा को चले गये और वहाँ से फिर न लौटे। श्रीकृष्ण दारुक सारथी सहित द्वारका वापिस आये और दारुक को सब वृत्तान्त कहकर अर्जुन को लिवा लाने के लिए भेजा। उनका अभिप्राय यह था कि जो कुछ स्त्री बच्चे और वृद्ध बचे हैं उनको अर्जुन यहाँ आकर लिवा ले जाय। तदुपरान्त श्रीकृष्ण स्वयं देहोत्सर्ग क्षेत्र मे जरा नामक व्याध के तीर से परमधाम को पहुँचे। अर्जुन के द्वारका आने तक वसुदेव उग्रसेन आदि अनेक वृद्धजनो ने भी शरीर त्याग दिया। अर्जुन जब आया तो उसे महान् कोलाहल करते हुए स्त्रियाँ, बच्चे और वृद्ध जन ही मिले। वह उन सब को लेकर चला परन्तु मार्ग मे ही आभीरो ने सब धन सम्पत्ति और कुछ स्त्रियो को भी लूट लिया। जैसे तैसे शेष स्त्रियो को वहाँ से लाकर अर्जुन ने उनको श्रीकण्ठ (पूर्वी पंजाब) प्रदेश मे बसा दिया। श्रीकृष्ण के पौत्र वज्रनाभ को उसने अपने पौत्र परीक्षित के सुपुर्द किया। इसके बाद परीक्षित को राजसिंहासन पर बैठाकर पाण्डवगण हिमालय पर अपनी जीवन लीला समाप्त करने चले गये।

उत्तर महाभारत काल

(१५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक)

महाभारत से गौतम बुद्ध तक

✓महाभारत काल मे राजनीतिक दृष्टि से सत्ता केन्द्रित थी। हस्तिनापुर के सम्राट का सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अधिकार था। अन्य राजागण भी अनेक प्रदेशो पर राज्य करते थे परन्तु माण्डलिक राजा लोग सार्वभौम सम्राट को कर देते तथा उसकी वश्यता स्वीकार करते थे। भारत-सम्राट का उपनिवेशो पर भी अधिकार था। बहुत से अन्य देशो के राजा भी सार्वभौम सम्राट को उस सहायता के उपलक्ष मे कर आदि देते थे जो उन्हे आपत्ति काल मे भारत सम्राट से लेनी पडती थी।

महाभारत कालीन सभ्यता बहुत उच्चकोटि की थी। भारत के इतिहास मे कभी जय कभी पराजय, कभी सुख कभी दु.ख, कभी शान्ति कभी अराजकता रही है। जिस प्रकार इस देश के इतिहास मे उतार-चढाव आये हैं उस प्रकार विश्व के किसी अन्य देश के इतिहास मे नही। कुछ भौतिक मामलो मे महाभारत कालीन भारत की सभ्यता इतनी ऊँची थी जितनी कि यूरोप मे १८ वी सदी के अन्त तक भी न हो पाई थी। इस सभ्यता का उत्कर्ष युद्ध सचालन, शस्त्र-अस्त्र उपकरण आदि साज-सज्जा, आवागमन, यातायात, वाणिज्य-व्यवसाय, नाविक सेवा आदि के कौशल मे परिलक्षित होता है। नारायण अस्त्र, अग्निवाण, रुधिर वर्षा, व्यूह-रचना, उत्तम सैन्य प्रबन्ध आदि सेना सम्बन्धी विशेषताएँ थी।

हुआ वह माता की आज्ञा पालन का महान् आदर्श है। द्यूतक्रीडा राजाओं में हुआ करती थी परन्तु पाण्डवों के प्रति उसकी भीषणता दुर्योधन और शकुनि की गुप्त मन्त्रणा का दुष्परिणाम थी। राक्षस विवाह तथा नियोग विशेष परिस्थितियों मे ही सम्पन्न हुए थे। नैतिक दृष्टि से उपरोक्त दोष उस समय भी उतने ही घृणित समझे जाते थे जितने आजकल अथवा किसी भी अन्य काल मे।

युधिष्ठिर के बाद भारत का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। बहुत से राजवंश छोटे-छोटे प्रदेशों पर राज्य करने लगे। सार्वभौम सत्ता का अन्त हो गया और अनेक छोटे-छोटे राज्यो का उदय हुआ। महाभारत के विनाश से भारत को जो आघात पहुँचा उसका प्रभाव भारत पर सदियो तक रहा। कुछ पाश्चात्य इतिहास लेखकों ने महाभारत के युद्ध के बाद से लेकर विक्रम पूर्व चौथी-पाँचवी सदी तक किन्ही ऐतिहासिक घटनाओं अथवा राज्यों का उल्लेख ही नही किया है। वे इस काल के इतिहास को अन्धकार पूर्ण बतलाते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। पुराणों के सूक्ष्म अध्ययन से इस काल के राजवंशों का क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध होता है। महाभारत काल से लेकर गौतम बुद्ध के समय तक हम मगध, अयोध्या और हस्तिनापुर के राजाओ की क्रमबद्ध वंशावलियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, तीनों वंशावलियों में संख्या की निकट समानता उनकी प्रामाणिकता की द्योतक है। अनेक पुराणो मे वंशावलियों के लगभग एक से वर्णन उनकी प्रामाणिकता के प्रति सन्देहो का निवारण करते हैं।

महाभारत युद्ध के मध्य और उसके उपरान्त मगध के राजाओं की सूची इस प्रकार है।

(१) जरासन्ध, (२) सहदेव, (३) सोमापि, (४) श्रुतश्रवा, (५) अयुतायु, (६) निरमित्र, (७) सुकृत, (८) बृहत्कर्मा, (६) सेनाजित, (१०) श्रुतञ्जय, (११) नृप, (१२) शुचि, (१३) क्षेम, (१४) भुवन, (१५) धर्मनेत्र, (१६) नृपति, (१७) सुव्रत, (१८) दृढसेन, (१६) सुमति, (२०) सुचल, (२१) सुनेत्र (२२) सत्यजित, (२३) वीरजित (२४) अरिञ्जय, (२५) प्रद्योत।

महाभारत के युद्ध के मध्य तथा उसके उपरान्त अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं का क्रम इस प्रकार था—

(१) बृहद्वल, (२) बृहद्रण, (३) उरक्रिय, (४) वत्सवृद्ध, (५) प्रतिव्योम, (६) भानु, (७) दिवाकर, (८) सहदेव, (६) वीर, (१०) बृहदश्व, (११) भानुमान, (१२) प्रतीकाश्व, (१३) सुप्रतीक, (१४) मरुदेव,

(१५) सुनक्षत्र, (१६) पुष्कर, (१७) अन्तरिक्ष, (१८) सुतपा, (१९) अमित्रजित् (२०) बृहद्राज, (२१) बर्हि, (२२) कृतञ्जय, (२३) रणञ्जय, (२४) शाक्य, (२५) शुद्धोधन, (२६) बुद्ध।

महाभारत के युद्ध के मध्य और उसके उपरान्त युधिष्ठिर की वंश-परम्परा मे नीचे लिखे राजाओ का उल्लेख मिलता है—

(१) अर्जुन, (२) अभिमन्यु, (३) परीक्षित (४) जन्मेजय, (५) शतानीक, (६) अश्वमेध, (७) सहस्त्रानीक, (८) अधिसीम कृष्ण, (९) नेमिचक्र, (१०) उग्र, (११) चित्ररथ, (१२) शुचिरथ, (१३) वृष्णिमान्, (१४) सुषेण, (१५) सुचक्षु, (१६) सुखीनर, (१७) परिप्लव, (१८) सुनय, (१९) मेधावी, (२०) नृपञ्जय, (२१) दूर्व, (२२) तिमि, (२३) बृहद्रथ, (२४) सुदास, (२५) शतानीक द्वितीय, (२६) उदयन।

महाभारत के युद्ध से गौतम बुद्ध तक उपरोक्त तीनो वंशावलियों मे परम्परागत राजाओ की लगभग एक सी संख्या है। यह समानता उनकी प्रामाणिकता की द्योतक है।

ब्राह्मणकाल

१५०० ई० पूर्व से ५०० ई० पू० तक

महाभारत के बाद ब्राह्मण उपनिषद् काल का समारंभ समझना चाहिये। इस काल की सामान्य दशा का दिग्दर्शन इस काल मे निर्मित साहित्य से होता है। यह काल महाभारत के युद्ध से गौतम बुद्ध तक समझा जाना चाहिये।

ब्राह्मण ग्रन्थ वैदिक साहित्य के अंग हैं। इनकी रचना वेदो से बहुत समय बाद हुई थी। ये वेदो की अनेक कठिन ऋचाओ का अर्थ समझाने हेतु लिखे गये थे।

ब्राह्मण ग्रन्थो के अध्ययन से पता चलता है कि इन्द्र के उपासक आर्यो और अहुरमज्दा के उपासक ईरानियो में निरन्तर झगडे होते थे, वे असुर को अहुर, पंच को पंज, मातर को मादर, भ्रातर को बरादर, सप्त को हफ्त, सप्त सिन्धु को हफ्त हिन्दु, सोम को होम, सहस्र को हजार कहते थे। इनका स्वर ठीक न होने के कारण इनको 'असुर' शब्द के नाम से सम्बोधित किया जाता था तथा इनसे घृणा की जाती थी। शत-पथ-ब्राह्मण मे तो यहाँ तक लिखा है कि असुरो की पराजय अशुद्ध उच्चारण के कारण ही हुई थी।

ते असुरा आत्त वचसो हे अलवोहे अलव इति वदन्त पराबभूवुः। तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेत्। असुर्याहि एषा वाक्।

ईरानी लोग इन्द्रादिक देवताओं की उपासना के विरुद्ध थे। वे अग्नि की ही उपासना करते थे तथा वे उसको पशु आदि की बलि से अपवित्र हुआ मानते थे।

आर्यों और प्राचीन ईरानियों के युद्ध को ब्राह्मणों में क्रमशः देवताओं और असुरों के ऊपर घटा कर लिखा गया है। डाक्टर अविनाशचन्द्र दास अपने अंग्रेजी ग्रन्थ 'ऋगवैदिक इण्डिया' (Rig-Vedic India) में लिखते हैं :—

'ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाषा कल्पित है। उसमें सांसारिक युद्धों का वर्णन देवासुर-संग्राम के कल्पित रूप में किया गया है। यद्यपि हम निःसन्देह कहीं-कहीं मर्त्यलोक सम्बन्धी विषयों के वर्णन की भी झलक देखते हैं।'

ऐतरेय-ब्राह्मण में देवताओं और असुरों के युद्ध के विषय में एक बड़ी मनोरंजक कथा है। असुरों ने देवताओं को भूलोक, अन्तरिक्ष और द्युलोक में प्रवेश न करने देने का विचार किया और इस विचार को कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने तीन भित्तियाँ [१] लौह, [२] रजत, [३] स्वर्ण की बनायी। परन्तु देवताओं ने 'उपसद' नाम के यज्ञ द्वारा उनकी एक न चलने दी और तीन दिन की याज्ञिक क्रिया समाप्त होते ही असुरों को तीनों लोकों से निकलना पड़ा।[1]

इस कथा से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन ईरानी लोग बड़े समृद्धिशाली एवं धनैश्वर्य में आर्यों से बढ़े हुए थे। इसके विपरीत आर्यों ने अपनी आध्यात्मिक उन्नति ही की थी।

ऐतरेय-ब्राह्मण में लिखा है—'इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप तथा वृत्र का वध किया। उसने यतियों का भी वध किया और उनको जंगली श्वानों से कटाने के लिए छोड़ दिया। उसने अरुर्मघों का भी हनन किया और बृहस्पति को परास्त किया।'[2]

तैत्तिरीय-ब्राह्मण में लिखा है—'त्वष्टा ने वृत्र नामक ब्राह्मण को उत्पन्न किया, जिसको इन्द्र ने मार डाला। उसने त्वष्टा के पुत्र विश्व रूप का भी वध किया और असुरों के, जिन्होंने यतियों का वेष धारण कर लिया था, टुकड़े-टुकड़े कर उसने 'अरुर्मघ' नामक असुरों का भी, जिन्होंने ब्राह्मणों का वेष धारण कर लिया था, हनन किया।' यह कथा हमको दिव्यलोक से मर्त्यलोक में ले आती है—देवताओं और असुरों से ब्राह्मणों, यतियों और अरुर्मघों के पास पहुँचा देती है। इससे स्पष्ट है कि इन ग्रन्थों के रचयिताओं

१. ऐतरेय-ब्राह्मण, १-२३।
२. " ७-२८।

का ध्यान सासारिक विषयों की ओर ही था, उन्होने आर्यों की शाखाओं के परस्पर युद्ध को ही कल्पित देवासुर सग्राम का रूप दे दिया था।

ऐतरेय-ब्राह्मण की भूमिका मे एक स्थल पर डाक्टर मार्टिन हॉग कहते हैं—

'ब्राह्मणों और पारसियो (प्राचीन ईरानियो) के पूर्वज भाई-बन्धु की तरह हिल-मिल कर रहते थे। यह दशा देवताओं और असुरो (जिनका ब्राह्मणो मे बहुत उल्लेख है और जो क्रमशः हिन्दुओ और ईरानियो के ही कल्पित नाम हैं) के सग्राम के पूर्व थी।'

जाति :

अपोनप्त्रीय सूत्र के जन्मदाता महात्मा कवष ऐलूष की कथा, जिसका वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण मे आया है, तत्कालीन वर्ण व्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है। उसका उल्लेख इस प्रकार है—

'ऋषयो व सरस्वत्या सत्रमासत, ते कवषमैलूषं सोमदनयन्, दस्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथ नो मध्ये दीक्षिष्ट इति त बहिर्धन्व. उदवहन् अत्रैन पिपासा हन्तु सरस्वत्या उदक मा पादति। स बहिर्धन्व उदूहलः पिपासया वित्तएतदपोनप्त्रीयमपश्यत् प्रदेवत्रा .... सरस्वती समन्त पर्यधावत्। ते वा ऋषयोऽब्रुवन् विदुर्वो इमं देवा उपेम ह्वयामहा इति तथेति समुपहूय एतदपोनप्त्रीयम कुर्वत।'

ऋषियों ने कवष को दासपुत्र एवं अब्राह्मण होने के कारण यज्ञ में सम्मिलित नही किया था, उन्होने उसको सरस्वती नदी के तीर से दूर मरुभूमि मे भगा दिया। ऋषियो ने मनमे विचार किया कि बालुका प्रदेश मे तृषा से निश्चित ही कवष का प्राणान्त हो जायगा। परन्तु कवष बडे विद्वान थे,[1] उन्होंने शीघ्र ही प्रदेवत्रा ......(ऋगवेद, १०, ३०, १) मन्त्र से सरस्वती का आवाहन कर लिया। जब ऋषियो को विदित हुआ कि कवष तो देवताओं के कृपापात्र है, तो वे अपनी क्षुद्रता पर अत्यन्त लज्जित हुए और कवष के प्रति निन्द्य व्यवहार करने के कारण मन ही मन अपनी भर्त्सना करने लगे। वे सब एकत्रित होकर महात्मा कवष के समीप पहुँचे और अति विनीत भाव से उनकी अभ्यर्थना करके उन्हें ऋषि की उपाधि दी।[1] कवष तो बहुत पहले ही इस उपाधि के योग्य थे ऋषियों ने ही मिथ्याभिमानवश उसमे उन्हे वचित रखा था।

---

१. 'नमस्तेऽस्तु ऋषे मा नो हिंसीः त्वं वै नः श्रेष्ठोऽसि'

(कौषीतकी-ब्राह्मण १२, ३)

उपर्युक्त कथा से ब्राह्मण-काल की वर्ण-व्यवस्था का सम्यक् पता चलता है। यह प्रत्यक्ष ही है कि उस काल में योग्य पुरुष को उसकी योग्यता के कारण परमोच्च पद मिल सकता था एवं उसकी गणना सर्वोत्कृष्ट उत्तम वर्ण में हो सकती थी। समाज उस काल तक जाति-पाँति के असख्य विभागों में छिन्न-भिन्न एवं विभाजित नही हुआ था। एक वर्ण से दूसरे वर्ण में मनुष्य सुगमता से प्रविष्ट हो सकता था।

इसी प्रकार दूसरा दृष्टान्त ऐतरेय-ब्राह्मण के निर्माता महिदास ऐतरेय का है। उनकी उत्पत्ति द्विजाति से इतरवर्ण में हुई थी। ऐतरेय भी एक महापुरुष हो गये हैं। देवताओं की कृपा से उनको सम्पूर्ण 'ब्राह्मण' और 'आरण्यक' का आविर्भाव हो गया था। अपने सदाचरण, धर्म और प्रगाढ पाडित्य के कारण ही वे देवताओ के कृपापात्र हुए। यह कथा सायण-कृत ब्राह्मणो की भूमिका में ही पायी जाती है, अन्य किसी ग्रन्थ मे नही।

विवाह प्रथा

एक पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता था, परन्तु स्त्री एक से अधिक पुरुष के साथ विवाह नही कर सकती थी।

"तस्मादेकस्य वह्वः इव जाया भवन्ति, नैकस्यै वहृयः पतयः"

(ऐतरेय ब्राह्मण ११, १२)

यदिह वापि वह्वः इव जायाः पतिर्वावातासां मिथुनम्।

स्मृतियो ने इन्ही पदो का उद्धरण बहुविवाह के समर्थन में किया है। परन्तु उस समय वहु विवाह राजा-महाराजाओ और श्रीमानो में ही प्रचलित था। जन-साधारण में तो एक विवाह की ही प्रथा प्रचलित थी। राजाओं की पत्नियाँ तीन प्रकार की होती थी—प्रथम श्रेणी की पत्नी को महिषी, द्वितीय को वावाता और तृतीय को परिवृक्ति कहते थे।

कौटुम्बिक जीवन

कुटुम्ब मे स्त्री का स्थान उच्च एवं सम्मानास्पद होता था। यद्यपि वह अपने पति की आज्ञाकारिणी एवं इच्छानुवर्तिनी होती थी, तथापि उसका पति उससे सम्मान-सहित व्यवहार करता था। उसको अपने पति के साथ यज्ञ करने का अधिकार था। निपुत्री विधवा अपने पति की उत्तराधिकारिणी होती थी।

स्त्रियो को स्वयम्बर का अधिकार प्राप्त था। आर्य स्त्रियाँ गार्हस्थ्य एवं सामाजिक जीवन मे बड़ा महत्वपूर्ण भाग लेती थी। उनको न केवल

उच्चकोटि की आधिभौतिक और आध्यात्मिक शिक्षा दी जाती थी, वरन् पुरुषों के साथ शारीरिक व्यायाम आदि की भी शिक्षा दी जाती थी।

श्वसुर के सामने पुत्र वधू के लज्जा भाव प्रदर्शित करने की प्रथा ब्राह्मण काल से आज तक उसी दशा मे चली आती है—

"तद् यथैवादः स्नुषा श्वसुराल्लज्जमाना निलीयमाना एत ऐवमेव सा सेना भज्यमाना निलीयमानेत।" (ऐतरेय-ब्राह्मण)

श्वसुर की उपस्थिति मे पुत्रवधू के लज्जित हो जाने के कारण ही सेना भाग खडी हुई।

अपनी सहोदरा भगिनी अपनी भार्या की आश्रित-सी होती थी। उसकी दशा भार्या के सम्मुख परमुखापेक्षी की सी थी—

'तस्मात् समानोदया स्वसा अन्योदयार्यं जायाया अनुजीविनोजीवति,' (ऐतरेय-ब्राह्मण)

उस काल में भी स्त्री ही गृह की स्वामिनी होती थी और विधवा भगिनी उसकी आश्रिता की भाँति। आजकल के कौटुम्बिक जीवन मे भी यही दशा विद्यमान है।

राज्य शासन

इन्द्र और नहुष की कथा से ज्ञात होता है कि वैदिक काल मे जन-नियुक्त राजतन्त्र (Elective Monarchy) प्रचलित था। कोई पुरुष अपने किसी विशेष गण के कारण ही किसी यूथ विशेष का नायक होता है। राजा जनता द्वारा निर्धारित गुणो से युक्त होने पर जनता द्वारा ही निर्वाचित होता है। यथा-मनुष्यो मे से जो सौ अश्वमेध यज्ञ सफलता पूर्वक कर लेता था, उसी को इन्द्रासन प्राप्त करने का अधिकार मिल जाता था। निम्नलिखित उद्धरण से भी यही सिद्ध होता है कि उस काल में जन नियुक्त राज-तन्त्र था।

"देवताओ और असुरो मे परस्पर युद्ध हुआ, उन्होने प्राचीदिशि मे युद्ध किया, यहाँ असुरो ने देवताओ को पराजित किया। पुनः दक्षिण दिशा मे भी युद्ध हुआ असुरो ने देवो को परास्त किया। पुनः उत्तर मे भी देवगण ही परास्त हुए। देवताओ ने कहा—'हमारा कोई राजा नही है, इसी कारण हमको असुर परास्त कर देते हैं। उन्होने सर्व सम्मति से सोम को अपना राजा निर्वाचित किया और सोम के नेतृत्व में उन्होने सब दिशाओ मे विजय प्राप्त की [1]।"

---

१. ऐतरेय-ब्राह्मण १, १४

ब्राह्मण काल के प्रमुख राजागण—

सम्राट परीक्षित कुरु राज्य का अधिपति था। उसने मद्रदेश की राजकुमारी से विवाह किया था। परीक्षित की मृत्यु सर्प के डसे जाने से हुई थी।

परीक्षित का पुत्र जनमेजय बड़ा प्रतापी हुआ है। कुरुवंश में यह राजा सबसे महान् था। इसकी यशः कीर्ति पुराणों, ब्राह्मणों और महाभारत ग्रन्थ में अत्यन्त विशद रूप से एक सी ही वर्णित है। जनमेजय ने दो अश्वमेध यज्ञ किये। एक यज्ञ के पुरोहित तुर कावषेय नामक ऋषि थे और दूसरे के के इन्द्रोत शौनक नामक ऋषि। जनमेजय के बाद शतानीक कुरु राज्य का स्वामी बना। उसने भी अश्वमेध यज्ञ किया। उसके बाद उसका पुत्र अश्व-मेधदत्त कुरु राज्य के सिंहासन पर बैठा।

इस काल मे विदेह में एक महान् राजा हुआ जिसको वैदिक साहित्य मे उसके वंशज जनक के नाम से ही पुकारा गया है। महाभारत से पता चलता है कि उसका व्यक्तिगत नाम उग्रसैन था। शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् मे भी उसका उग्रपुत्र के नाम से उल्लेख हुआ है। राजा जनक स्वय परम विद्वान् था 'और विद्वानों का आश्रयदाता और आदरकर्ता था। उसकी सभा मे कई विद्वान् और विदुषियां थी जिनमें विदग्ध शाकल्य, उद्दालक अरुणि, श्वेतकेतु आरुणेय, याज्ञवल्क्य वाजसनेय और गार्गी वाचक्नवी के नाम उल्लेख-नीय हैं। राजा जनक के सम्बन्ध मे अनेक रोचक कथाएं इस काल के साहित्य मे उपलब्ध हैं। बृहदारण्यक उपनिषद में एक कथा का वर्णन इस प्रकार है।

राजा जनक ने एक बार एक यज्ञ किया जिसमें कुरु और पांचाल जन-पदो के अनेक ब्राह्मण सम्मिलित हुए। उस यज्ञ मे राजा जनक ने ब्राह्मणों को प्रभूत दक्षिणा दी। उसने एक सहस्र गाये इकट्ठी की और प्रत्येक गाय के सींग से दस सुवर्ण मुद्रा बाँधकर घोषणा की कि आगन्तुक ब्राह्मणों मे जो सबसे बडा ब्रह्मवेत्ता हो वह इन गायो को ले जाय। इस घोषणा को सुनकर याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य सामश्रवा से कहा कि इन गायों को ले चलो। इस पर ब्राह्मणो मे रोष छा गया और जनक के पुरोहित अश्वल ने याज्ञवल्क्य से कहा "क्या तुम अपने को हम सबसे बडा ब्रह्मवेत्ता मानते हो ?" याज्ञवल्क्य ने कहा, "हम प्रत्येक ब्रह्मवेत्ता को नमस्कार करते हैं परन्तु इन गायो को ले जाने की हमारी इच्छा है। अब इनको ले जाने का हमारा अधिकार है या नहीं यह आप लोग देख लीजिये।" इसके बाद आगन्तुक सभी ब्राह्मणों में से एक एक ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किये जिन सबका समाधान उन्होंने सम्यक् विधि मे

उच्चकोटि की आधिभौतिक और आध्यात्मिक शिक्षा दी जाती थी, वरन् पुरुषों के साथ शारीरिक व्यायाम आदि की भी शिक्षा दी जाती थी।

श्वसुर के सामने पुत्र वधू के लज्जा भाव प्रदर्शित करने की प्रथा ब्राह्मण काल से आज तक उसी दशा में चली आती है—

"तद् यथैवादः स्नुषा श्वसुराल्लज्जमाना निलीयमाना एत ऐवमेव सा सेना भज्यमाना निलीयमानैत।" (ऐतरेय-ब्राह्मण)

श्वसुर की उपस्थिति में पुत्रवधू के लज्जित हो जाने के कारण ही सेना भाग खड़ी हुई।

अपनी सहोदरा भगिनी अपनी भार्या की आश्रित-सी होती थी। उसकी दशा भार्या के सम्मुख परमुखापेक्षी की सी थी—

'तस्मात् समानोदया स्वसा अन्योदयार्यं जायाया अनुजीविनीजीवति,' (ऐतरेय-ब्राह्मण)

उस काल में भी स्त्री ही गृह की स्वामिनी होती थी और विधवा भगिनी उसकी आश्रिता की भाँति। आजकल के कौटुम्बिक जीवन में भी यही दशा विद्यमान है।

राज्य शासन

इन्द्र और नहुष की कथा से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में जन-नियुक्त राजतन्त्र (Elective Monarchy) प्रचलित था। कोई पुरुष अपने किसी विशेष गुण के कारण ही किसी यूथ विशेष का नायक होता है। राजा जनता द्वारा निर्धारित गुणों से युक्त होने पर जनता द्वारा ही निर्वाचित होता है। यथा-मनुष्यों में से जो सौ अश्वमेध यज्ञ सफलता पूर्वक कर लेता था, उसी को इन्द्रासन प्राप्त करने का अधिकार मिल जाता था। निम्नलिखित उद्धरण से भी यही सिद्ध होता है कि उस काल में जन नियुक्त राज-तन्त्र था।

"देवताओं और असुरों में परस्पर युद्ध हुआ, उन्होंने प्राचीदिशि में युद्ध किया, यहाँ असुरों ने देवताओं को पराजित किया। पुन. दक्षिण दिशा में भी युद्ध हुआ असुरों ने देवों को परास्त किया। पुन. उत्तर में भी देवगण ही परास्त हुए। देवताओं ने कहा—'हमारा कोई राजा नहीं है, इसी कारण हमको असुर परास्त कर देते हैं। उन्होंने सर्व सम्मति से सोम को अपना राजा निर्वाचित किया और सोम के नेतृत्व में उन्होंने सब दिशाओं में विजय प्राप्त की[1]।"

---

१. ऐतरेय-ब्राह्मण १, १४

ब्राह्मण काल के प्रमुख राजागण—

सम्राट परीक्षित कुरु राज्य का अधिपति था। उसने मद्रदेश की राजकुमारी से विवाह किया था। परीक्षित की मृत्यु सर्प के डसे जाने से हुई थी।

परीक्षित का पुत्र जनमेजय बड़ा प्रतापी हुआ है। कुरुवंश मे यह राजा सबसे महान् था। इसकी यशः कीर्ति पुराणो, ब्राह्मणों और महाभारत ग्रन्थ में अत्यन्त विशद रूप से एक सी ही वर्णित है। जनमेजय ने दो अश्वमेध यज्ञ किये। एक यज्ञ के पुरोहित तुर कावषेय नामक ऋषि थे और दूसरे के के इन्द्रोत शौनक नामक ऋषि। जनमेजय के बाद शतानीक कुरु राज्य का स्वामी बना। उसने भी अश्वमेध यज्ञ किया। उसके बाद उसका पुत्र अश्व-मेधदत्त कुरु राज्य के सिंहासन पर बैठा।

इस काल मे विदेह में एक महान् राजा हुआ जिसको वैदिक साहित्य मे उसके वंशज जनक के नाम से ही पुकारा गया है। महाभारत से पता चलता है कि उसका व्यक्तिगत नाम उग्रसैन था। शतपथ ब्राह्मण और वृहदारण्यक उपनिषद् मे भी उसका उग्रपुत्र के नाम से उल्लेख हुआ है। राजा जनक स्वय परम विद्वान् था और विद्वानो का आश्रयदाता और आदरकर्ता था। उसकी सभा मे कई विद्वान् और विदुषियाँ थी जिनमें विदग्ध शाकल्य, उद्दालक अरुणि, श्वेतकेतु आरुणेय, याज्ञवल्क्य वाजसनेय और गार्गी बाचक्नवी के नाम उल्लेख-नीय हैं। राजा जनक के सम्बन्ध में अनेक रोचक कथाएं इस काल के साहित्य मे उपलब्ध हैं। वृहदारण्यक उपनिषद मे एक कथा का वर्णन इस प्रकार है।

राजा जनक ने एक बार एक यज्ञ किया जिसमे कुरु और पांचाल जन-पदों के अनेक ब्राह्मण सम्मिलित हुए। उस यज्ञ में राजा जनक ने ब्राह्मणो को प्रभूत दक्षिणा दी। उसने एक सहस्त्र गायें इकठ्ठी की और प्रत्येक गाय के सींग से दस सुवर्ण मुद्रा बांधकर घोषणा की कि आगन्तुक ब्राह्मणों में जो सबसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता हो वह इन गायो को ले जाय। इस घोषणा को सुनकर याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य सामश्रवा से कहा कि इन गायो को ले चलो। इस पर ब्राह्मणो मे रोष छा गया और जनक के पुरोहित अश्वल ने याज्ञवल्क्य से कहा "क्या तुम अपने को हम सबसे बडा ब्रह्मवेत्ता मानते हो ?" याज्ञवल्क्य ने कहा, "हम प्रत्येक ब्रह्मवेत्ता को नमस्कार करते हैं परन्तु इन गायो को ले जाने की हमारी इच्छा है। अब इनको ले जाने का हमारा अधिकार है या नहीं यह आप लोग देख लीजिये।" इसके बाद आगन्तुक सभी ब्राह्मणो में से एक एक ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किये जिन सबका समाधान उन्होंने सम्यक् विधि से

उच्चकोटि की आधिभौतिक और आध्यात्मिक शिक्षा दी जाती थी, वरन् पुरुषों के साथ शारीरिक व्यायाम आदि की भी शिक्षा दी जाती थी।

श्वसुर के सामने पुत्र वधू के लज्जा भाव प्रदर्शित करने की प्रथा ब्राह्मण काल से आज तक उसी दशा में चली आती है—

"तद् यथैवादः स्नुषा श्वसुराल्लज्जमाना निलीयमाना एत ऐवमेव सा सेना मज्यमाना निलीयमानैत।" (ऐतरेय-ब्राह्मण)

श्वसुर की उपस्थिति में पुत्रवधू के लज्जित हो जाने के कारण ही सेना भाग खड़ी हुई।

अपनी सहोदरा भगिनी अपनी भार्या की आश्रित-सी होती थी। उसकी दशा भार्या के सम्मुख परमुखापेक्षी की सी थी—

'तस्मात् समानोदर्या स्वसा अन्योदर्यायै जायायै अनुजीविनीजीवति,' (ऐतरेय-ब्राह्मण)

उस काल में भी स्त्री ही गृह की स्वामिनी होती थी और विधवा भगिनी उसकी आश्रिता की भाँति। आजकल के कौटुम्बिक जीवन में भी यही दशा विद्यमान है।

राज्य शासन

इन्द्र और नहुष की कथा से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में जन-नियुक्त राजतन्त्र (*Elective Monarchy*) प्रचलित था। कोई पुरुष अपने किसी विशेष गुण के कारण ही किसी यूथ विशेष का नायक होता है। राजा जनता द्वारा निर्धारित गुणों से युक्त होने पर जनता द्वारा ही निर्वाचित होता है। यथा-मनुष्यों में से जो सौ अश्वमेध यज्ञ सफलता पूर्वक कर लेता था, उसी को इन्द्रासन प्राप्त करने का अधिकार मिल जाता था। निम्नलिखित उद्धरण में भी यही सिद्ध होता है कि उस काल में जन नियुक्त राज-तन्त्र था।

"देवताओं और असुरों में परस्पर युद्ध हुआ, उन्होंने प्राचीदिशि में युद्ध किया, यहाँ असुरों ने देवताओं को पराजित किया। पुनः दक्षिण दिशा में भी युद्ध हुआ असुरों ने देवों को परास्त किया। पुन. उत्तर में भी देवगण ही परास्त हुए। देवताओं ने कहा—'हमारा कोई राजा नहीं है, इसी कारण हमको असुर परास्त कर देते हैं। उन्होंने सर्व सम्मति से सोम को अपना राजा निर्वाचित किया और सोम के नेतृत्व में उन्होंने सब दिशाओं में विजय प्राप्त की '[1]।"

---

१. ऐतरेय-ब्राह्मण १, १४

ब्राह्मण काल के प्रमुख राजागण—

सम्राट परीक्षित कुरु राज्य का अधिपति था। उसने मद्रदेश की राजकुमारी से विवाह किया था। परीक्षित की मृत्यु सर्प के डसे जाने से हुई थी।

परीक्षित का पुत्र जनमेजय बड़ा प्रतापी हुआ है। कुरुवंश में यह राजा सबसे महान् था। इसकी यशः कीर्ति पुराणों, ब्राह्मणों और महाभारत ग्रन्थ में अत्यन्त विशद रूप से एक सी ही वर्णित है। जनमेजय ने दो अश्वमेध यज्ञ किये। एक यज्ञ के पुरोहित तुर कावषेय नामक ऋषि थे और दूसरे के के इन्द्रोत शौनक नामक ऋषि। जनमेजय के बाद शतानीक कुरु राज्य का स्वामी बना। उसने भी अश्वमेध यज्ञ किया। उसके बाद उसका पुत्र अश्वमेधदत्त कुरु राज्य के सिंहासन पर बैठा।

इस काल में विदेह मे एक महान् राजा हुआ जिसको वैदिक साहित्य में उसके वंशज जनक के नाम से ही पुकारा गया है। महाभारत से पता चलता है कि उसका व्यक्तिगत नाम उग्रसैन था। शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् मे भी उसका उग्रपुत्र के नाम से उल्लेख हुआ है। राजा जनक स्वय परम विद्वान् था और विद्वानों का आश्रयदाता और आदरकर्ता था। उसकी सभा मे कई विद्वान् और विदुषियाँ थी जिनमे विदग्ध शाकल्य, उद्दालक अरुणि, श्वेतकेतु आरुणेय, याज्ञवल्क्य वाजसनेय और गार्गी वाचक्नवी के नाम उल्लेखनीय हैं। राजा जनक के सम्बन्ध में अनेक रोचक कथाऐं इस काल के साहित्य मे उपलब्ध हैं। बृहदारण्यक उपनिषद में एक कथा का वर्णन इस प्रकार है।

राजा जनक ने एक बार एक यज्ञ किया जिसमें कुरु और पाचाल जनपदो के अनेक ब्राह्मण सम्मिलित हुए। उस यज्ञ मे राजा जनक ने ब्राह्मणो को प्रभूत दक्षिणा दी। उसने एक सहस्त्र गायें इकट्ठी की और प्रत्येक गाय के सीग से दस सुवर्ण मुद्रा बाँधकर घोषणा की कि आगन्तुक ब्राह्मणों मे जो सबसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता हो वह इन गायो को ले जाय। इस घोषणा को सुनकर याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य सामश्रवा से कहा कि इन गायो को ले चलो। इस पर ब्राह्मणो मे रोष छा गया और जनक के पुरोहित अश्वल ने याज्ञवल्क्य से कहा "क्या तुम अपने को हम सबसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता मानते हो ?" याज्ञवल्क्य ने कहा, "हम प्रत्येक ब्रह्मवेत्ता को नमस्कार करते हैं परन्तु इन गायो को ले जाने की हमारी इच्छा है। अब इनको ले जाने का हमारा अधिकार है या नही यह आप लोग देख लीजिये।" इसके बाद आगन्तुक सभी ब्राह्मणों में से एक एक ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किये जिन सबका समाधान उन्होने सम्यक् विधि से

किया। जब विदुषी गार्गी की बारी आई तो वे बोली, हे ब्राह्मणो ! मैं ऋषि याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न पूछूंगी। यदि ये इनका उत्तर दे देंगे तो मैं समझूंगी कि इनसे बढ़कर कोई नही अन्यथा ये नत मस्तक होगे।" याज्ञवल्क्य जी ने विदुषी गार्गी से प्रश्न करने को कहा।

गार्गी ने कहा, "ऋषिवर, स्वर्ग के ऊपर, पृथ्वी के नीचे और दोनो के बीच मे जो कुछ है तथा जो भी भूत, भविष्य तथा वर्तमान मे स्थित था, है या होगा वह सब किससे ओत प्रोत है।" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि यह सब आकाश मे ओतप्रोत है। गार्गी ने फिर पूछा, "आकाश किसमे व्याप्त है ?" याज्ञवल्क्य ने कहा, "हे विदुषी, आकाश जिसमे व्याप्त है वह स्वय अविनाशी ब्रह्म है।" गार्गी ने याज्ञवल्क्य को प्रणाम किया और सब ब्राह्मणो को सम्बोधित करते हुए कहा, "इन ब्रह्मवेत्ता महानुभाव को कोई पराजित न कर सकेगा।"

जनक के समकालीन कई अन्य राजागण हुए हैं। केकय का राजा अश्वपति बडा प्रतापी था। ऐसा प्रतीत होता है कि अश्व पति भी केकय के राजाओ के गोत्र का नाम है क्योकि सैकड़ो वर्ष पूर्व राजा दशरथ के श्वसुर केकय नरेश का नाम भी अश्वपति था। छादोग्य उपनिषद मे लिखा है कि राजा अश्वपति के राज्य मे अपढ, चोर, शराबी और व्यभिचारी लोगो का अभाव था।

राजा जनक के समकालीन पाचाल का राजा प्रवाहण जैवलि था। वह बडा विद्याप्रेमी था। उपनिषदो मे उसके सम्बन्ध मे अनेक महत्वपूर्ण कथाऐ हैं। काशी का प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु भी राजा जनक का समकालीन था। यह राजा भी प्रसिद्ध विद्यानुरागी था।

कुरु राज्य मे अश्वमेधदत्त के बाद अधिसीम कृष्ण सिंहासन पर बैठा। उसके राज्य मे सूतो द्वारा रक्षित राजाओ की वंशावलियो का पुराणो के रूप मे सपादन हुआ। अधिसीम कृष्ण के राज्यकाल मे पुराणो के अनुसार दृषद्वती नदी के किनारे नैमिषारण्य मे एक दीर्घकालीन सत्र सपन्न किया गया।

अधिसीम कृष्ण के समकालीन राजाओ के नाम पुराणो मे मिलते हैं। उस समय कोशल मे दिवाकर और मगध मे सेनाजित् नाम का राजा था। अधिसीम कृष्ण के बाद उसका पुत्र निचक्षु हुआ। इसके राज्य मे कुरु राज्य पर अनेक दैवी आपदाऐं आईं। टिड्डियो के दल ने फसलो का नाश कर दिया। गंगाजी मे ऐसी भयङ्कर बाढ़ आई कि उसमे सारा हस्तिनापुर ही बह गया। लाचार होकर निचक्षु ने कुरु राज्य को छोडकर वत्स राज्य में प्रवेश किया और कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया।

निचक्षु के बाद लगभग १५ पीढ़ियो का इतिहास अज्ञात है। पुराणो मे वत्स कोशल और मगध के राजाओ की वंशावलियाँ तो उपलब्ध हो जाती हैं। यह शान्ति का काल था। इस काल मे एक दो घटनाओ को छोड़कर कोई विशेष उल्लेखनीय घटनायें घटित न हुईं। विदेह का अन्तिम राजा कराल जनक था जो एक ब्राह्मण-कन्या से बलात्कार करने के कारण राज्यच्युत हुआ। वैशाली राज्य भी जिसमे पहिले राजाओं का ही शासन था इस काल मे लिच्छवि क्षत्रियो के गणराज्य मे परिवर्तित हो गया। कराल जनक के बाद विदेह राज्य में भी गण-राज्य स्थापित हो गया। ये परिवर्तन ब्राह्मणकाल में ही हुए। ब्राह्मणकाल की समाप्ति ६०० ई० पू० मे लगभग समझी जानी चाहिये।

ब्राह्मण काल में आर्यो की सभ्यता का सब दिशाओ में उन्नयन हुआ। तीन जातियों में वैवाहिक सम्बन्ध अब भी प्रचलित थे। वैश्यो मे व्यवसाय के अनुसार अलग-अलग वर्ग बनने लग गये थे। कुछ व्यवसाय निम्न स्तर के समझे जाते थे, उनकी जातियाँ अलग बन गईं। आर्यों और शूद्रो मे वैवाहिक सम्बन्ध वर्जित था अतः ऐसे वैवाहिक सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तान को समाज मे गर्हित स्थान प्राप्त होता था। कुछ आर्य लोग दूर सीमावर्ती मगध आदि प्रदेशों मे चले गये थे वे आर्यों की सस्कृति से पृथक् हो गये थे अत. व्रात्य कहलाने लगे। वे प्राकृत भाषा बोलते थे ऐतरेय ब्राह्मण मे अन्ध्र, शबर, पुलिन्द, पुण्ड्र आदि अनार्य जातियो का उल्लेख है।

शिक्षा—आर्य विद्यार्थी उपनयन संस्कार के बाद आचार्य के पास विद्या-अध्ययन के लिए जाता था। आचार्य के यहाँ उसकी स्थिति अन्तेवासी अथवा ब्रह्मचारी की होती थी। आचार्य के आश्रम मे अनुशासन कड़ा होता था। विद्यार्थी को सयम नियम से रहना पड़ता था, उसे भिक्षा माँग कर लाना तथा गुरु के लिए समिधा एकत्र करना पडता था। छान्दोग्य उपनिषद में उन विद्याओ की सूची है जो कि गुरु के द्वारा पढाई जाती थी। कुछ मुख्य विद्याओ के के नाम इस प्रकार हैं, इतिहास, पुराण, वेदो के अर्थ विधायक ग्रन्थ (वेदाग), राशिविद्या (गणित) ब्रह्मविद्या (वेदान्त) देव विद्या (देवो के विषयक विद्या) क्षत्र विद्या (धनुर्वेद) नक्षत्र विद्या (ज्योतिष) तर्क शास्त्र, नीति शास्त्र, सर्पविद्या, गान्धर्व अथवा सगीत शास्त्र। विद्याध्ययन की समाप्ति पर आचार्यानुशासन की विधि सम्पन्न होती थी। इसका विवरण तैत्तिरीय उपनिषद में है। मातृदेवो भव (माता को देवतुल्य समझना चाहिये) पितृ देवोभव (पिता को देवतुल्य समझना चाहिये) आचार्य देवोभव (आचार्य को देवतुल्य समझो) आदि आदेश

विद्यार्थी को गुरु द्वारा दिये जाते थे। आचार्य शिष्य को धर्म पालन का आदेश करता हुआ कहता था कि जो बातें अच्छी हैं उन्ही का अनुकरण करो।

आर्थिक दशा—समाज कृषि प्रधान था। शतपथ ब्राह्मण मे कर्षण (जोतना) वपन (बोना) लवन (काटना) मर्दन (मोड़ना) चार कृषि कर्मों का उल्लेख है। व्यापारी लोग श्रेष्ठी कहलाते थे। देश मे व्यापार से खूब समृद्धि थी। व्यापार समुद्र द्वारा भी होता था। शिल्प और कलाओं की उन्नति थी।

राजनीतिक व्यवस्था—इस काल मे राजा अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए यज्ञ सपन्न करते थे। राजसूय, वाजपेय और अश्वमेध प्रधान यज्ञ थे। पदाधिकारी रत्नी कहलाते थे।

वाजपेय यज्ञ का मुख्य अग रथो की दौड थी। इस दौड मे राजा का रथ सबसे आगे रखा जाता था। इसके बाद राजा का अभिषेक होता था और वह शक्तिवर्द्धक सोमपान करता था। अश्वमेध यज्ञ में सबसे पहिले सेना सहित घोड़े को छोडा जाता था। घोडा सब जगह जाता, यदि किसी राजा को विरोध करना होता तो वह युद्ध करता या अन्यथा वह घोडा विसर्जित करने वाले राजा का आधिपत्य स्वीकार कर लेता था। यज्ञ के बाद अभिषेक होता था। विजयी राजा का भी अभिषेक होता था और पुनरभिषेक कहलाता था। ऐन्दुमहाभिषेक उस राजा का होता था जिसकी सेनाएँ दूर-दूर तक विजय प्राप्त करती थीं। पूर्वी प्रदेश में राजा को सम्राट, पश्चिमी प्रदेश मे स्वराट्, उत्तरीय प्रदेश मे विराट और दक्षिण मे भोज कहते थे। चारो दिशाओ का जीतने वाला एकराट्, या सार्वभौम कहलाता था।

दरबार के पदाधिकारियो को रत्नी कहते थे महिषी, राजन्य, ब्रह्मा (पुरोहित) सूत (भाट) सेनानी (सेनापति) ग्रामणी (ग्राम का मुखिया) सग्रहीता (कोषाध्यक्ष) भागदुध (कर इक्ट्ठा करने वाला) अक्षावाप (पासों का अध्यक्ष) क्षत्ता (कचुकी) आदि रत्नी कहलाते थे। पुरोहित के अतिरिक्त सभी अधिकारी विशवर्ग मे से होते थे। ग्रामणी भी वैश्य ही होता था।

धार्मिक अवस्था—ब्राह्मणकाल मे त्रिमूर्ति ब्रह्मा विष्णु और महेश की महत्ता बढ गई थी। त्रिमूर्ति की कल्पना का विकास बहुत कुछ इसी काल में हुआ। यज्ञ का महत्व बहुत बढ गया था ऋचाएें बोलने वाला होता, सामगान करने वाला उदगाता, यजुस् का अध्यक्ष अध्वर्यु और यज्ञ का अध्यक्ष ब्रह्मा कहलाता था। बड़े यज्ञों मे १६ तक ऋत्विक् होते थे। जो यज्ञ दीर्घ काल तक चलते थे उन्हे सत्र कहते थे। यज्ञ करते समय छोटे छोटे ब्यौरे बड़ी सावधानी से

रखे जाते थे। अन्यथा भयंकर व्यवधान एवं संकट उपस्थित हो जाने की सम्भावना रहती थी।

ब्राह्मणोत्तर काल का साहित्य

आर्य लोगों में प्रबुद्ध जन संस्कृत में ही बोलते थे। वैदिक संस्कृत के बाद लौकिक संस्कृत का प्रादुर्भाव हुआ। साधारण जनता में प्रयोग की जाने वाली भाषा का नाम प्राकृत था। प्राकृत भाषाओं में सर्वाधिक लोकप्रियता पाली भाषा को प्राप्त हुई। पाली संस्कृत के बहुत निकट है अतः उसको संस्कृत का सरल रूप कह सकते हैं।

ब्राह्मणोत्तर काल मे संस्कृत मे ही दो प्रकार की शैलियो का विकास हुआ। (१) सूत्र शैली (२) काव्य शैली। सूत्र शैली का आविर्भाव कण्ठस्थ करने की सुविधा के कारण हुआ। सूत्र लेखकों को संक्षिप्तता का बहुत ध्यान रखना पड़ता था और वे कम से कम शब्दो में अधिक से अधिक भावो को व्यक्त करना चाहते थे। किम्वदन्ती प्रचलित है कि कोई कोई सूत्रकार तो अपने सूत्र मे एक शब्द बचाकर इतने आनन्द का अनुभव करता था जैसा कि वह अपने परिवार में एक पुत्र के जन्मोपलक्ष मे करता।

सूत्र साहित्य को सामान्यतया वेदाग कहा जाता है। सूत्रों का निर्माण वेदो का अध्ययन सुगमता से किये जाने के लिए हुआ समझा जाता है।

वेदाङ्ग छः प्रकार के हैं, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष।

शिक्षा को प्रातिशाख्य भी कहते हैं। वेद की प्रत्येक शाखा के लिए मन्त्रों के उच्चारण की सभी विधियो की शिक्षा दी गई है। पद पाठ को संहिता पाठ मे परिवर्तित करने के नियमो को ही शिक्षा की संज्ञा दी गई है। सन्धि के नियमो के अनुसार प्रत्येक मन्त्र के संहिता पाठ स्थिर किये गये हैं।

निरुक्त अर्थात् शब्दो की व्युत्पत्ति इस पर यास्क द्वारा विरचित निरुक्त शब्द व्युत्पत्ति ज्ञान के लिए अपूर्व ग्रन्थ है।

व्याकरण पर अनेक ग्रन्थो का निर्माण हुआ था। परन्तु पाणिनि के पूर्व लिखित ग्रन्थ अप्राप्य हैं। पाणिनि ने जिस व्याकरण ग्रन्थ की रचना की उसका नाम अष्टाध्यायी है उसके आठ अध्याय है। व्याकरण शास्त्र पर यह ग्रन्थ अद्वितीय है। यह ग्रन्थ इतना पूर्णाङ्ग है कि इसकी रचना से पहले के ग्रन्थों का अभाव खटकता नही है। पाणिनी और यास्क ई० पू० छठी शताब्दी मे हुए थे।

छन्द पर सबसे प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण ग्रन्थ पिंगल का छन्द सूत्र है इसमे वैदिक और सस्कृत छन्दों के निर्माण की विधियाँ हैं।

ज्योतिष विद्या का प्रादुर्भाव ऋग्वेद काल से ही हो गया था। यास्क और पाणिनि के साक्ष्य से यह विदित होता है कि इस काल मे ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान की अतिशय वृद्धि हुई।

कल्प अर्थात् कर्म काण्ड पर रचे हुए सूत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं श्रुति पर आधारित यज्ञो आदि का विवरण प्रस्तुत करने वाले सूत्रो को श्रौत, गृहस्थ के सस्कारो की विधियाँ बताने वाले सूत्रो को गृह्य और सामाजिक नियमो का निर्धारण करने वाले सूत्रों को धर्मसूत्र कहते हैं। बौधायन, आपस्तम्ब और हिरण्य केशी के सूत्र पूर्ण कल्प का निर्देश करते हैं। शाखायन, आश्वलायन और मानव सूत्रो में केवल श्रौत और गृह्य विधियाँ ही हैं। गोभिल और पारस्कर के केवल गृह्य सूत्र हैं। गौतम और वसिष्ठ ने धर्म सूत्रो पर ही लिखा है।

वेदागो के अतिरिक्त भारतीय दर्शनो का निर्माण भी सूत्र शैली मे हुआ था। कणाद के वैशेषिक सूत्र, गौतम के न्याय सूत्र जैमिनि के मीमासा सूत्र और बादरायण के वेदान्त सूत्र प्रसिद्ध हैं। वेदागो और दर्शनो का निर्माण ब्राह्मणोत्तर काल मे हुआ था।

सूत्र साहित्य मे भारत की सामाजिक दशा का अच्छा दिग्दर्शन प्राप्त होता है। सूत्रकाल मे वर्ण-व्यवस्था एक प्रकार से निश्चित सी हो गई। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीन वर्ण पृथक् पृथक् माने जाने लगे और वैश्य से क्षत्रिय और क्षत्रिय से ब्राह्मण ऊँचा समझा जाने लगा। ऋग्वेद कालीन सरलता अब लुप्त होती जा रही थी। यद्यपि तीनो वर्णो की संज्ञा आर्य ही थी और तीनो ही द्विजाति के अन्दर गिने जाते थे तीनो के लिए पृथक् पृथक् विधियाँ निर्धारित हुई। उदाहरण के लिए उपनयन यद्यपि तीनो वर्णो के लिए समान रूप से अनिवार्य था इसके लिए तीनो वर्णो मे अवस्था की अर्हता पृथक् पृथक् थी। तीनो के लिए मेखला, दण्ड और वस्त्रो के रग भिन्न भिन्न स्थिर किये गये थे।

तीनो वर्णो के लोगो के लिए कर्म भी भिन्न भिन्न थे। ब्राह्मण का कर्म अध्यापन (पढाना) याजन (यज्ञ कराना) और प्रति ग्रह (दान लेना) आदि थे। क्षत्रिय का कर्म प्रजापालन और शासन थे। वैश्य के कर्म कृषि, गो रक्षा और वाणिज्य थे। तीनो वर्णों के अन्दर वैवाहिक सम्बन्ध इस काल मे भी प्रचलित थे।

शूद्र जाति के लोग सेवा कार्य अथवा शिल्प मे लगे व्यक्ति होते थे। पाणिनि के रजक (धोबी) तन्तुवाय (जुलाहा) तक्षा (बढई) अयस्कर (लुहार) आदि की शूद्र जाति मे गणना थी। ऋग्वेद कालीन आर्यों की दासों से न बनती थी कारण वे अन्य धर्मावलम्बी थे। परन्तु शनैः शनैः जैसे जैसे शूद्र जाति के लोग आर्य सभ्यता के रंग मे रंग गये आर्य जाति के लोगों का द्रोह उनके प्रति कम होता गया।

यद्यपि दोनो महाकाव्य रामायण और महाभारत उत्तर वैदिक काल की घटनाओ पर आश्रित है तथापि इनकी रचना ब्राह्मणोत्तर काल में हुई थी। इसी कारण से इनमें वर्णित सामाजिक और धार्मिक अवस्था पर ब्राह्मणोत्तर काल की स्थिति का असदिग्ध प्रभाव पड़ा है। बहुत से विद्वानों का मत है कि दोनों महाकाव्यों की रचना थोडी आगे पीछे ही हुई थी। बहुत से विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि रामायण की रचना ई० पू० छठी शती और महाभारत की ई० पू० पाँचवी शती मे हुई थी। वर्णित घटनाएँ लोकगीतों के रूप मे प्रचलित थी। उन्ही गीतों के संग्रह पर आधारित क्रमबद्ध वर्णन इन महाकाव्यो मे है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि रामायण में वर्णित घटनाक्रम महाभारत के बाद का है। वे महाभारत कालीन सभ्यता को रामायण कालीन सभ्यता से अपेक्षाकृत प्राचीन मानते है उन्होने अपने कथन की पुष्टि मे अनेक तर्क प्रस्तुत किये है परन्तु प्राप्त प्रमाणो के आधार पर यह मत नितान्त अमान्य है।

पुराणों में वर्णित वशावलियो का साक्ष्य असदिग्ध रूप से घोषित कर रहा है कि रामायण कालीन राजागण महाभारत कालीन राजागण से कम से कम ३० पीढी पूर्व हुए थे। रामायण में महाभारत कालीन किसी घटना का कतई उल्लेख नही है जब कि महाभारत मे रामोपाख्यान तथा रामायण के रचयिता बाल्मीकि का भी उल्लेख है।

अनेक ऐतिहासिक शोधकर्ताओ का मत है कि मूल रामायण में अयोध्या, अरण्य, किष्किधा, सुन्दर और युद्ध नामक पाँच काण्ड ही थे। बालकाण्ड तथा उत्तर काण्ड बाद मे जोड़े गये।

अपने प्राचीन भारत के इतिहास में श्री पुरुषोत्तम लाल भार्गव बड़े रोचक शब्दो मे उन तथ्यों का उल्लेख करते है जो उपरोक्त दोनो काण्डो की रचना को परवर्ती सिद्ध करते हैं। वे लिखते हैं, "पहली बात तो यह है कि रामायण के प्रथम काण्ड में रामायण की कथा की जो दो सूचियाँ हैं उनमे

से एक मे बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड की कथा का कोई निर्देश नही है जब कि दूसरी मे है जो अवश्य बाद मे बनी है। दूसरी बात यह है कि मूल भाग के मानव नायक राम इन दो काण्डो मे विष्णु के अवतार हो गये हैं। तीसरी बात यह है कि इन्ही दो काण्डो मे बाल्मीकि राम के समकालीन दिखाये गये हैं और भगवान् तथा महर्षि उपाधियो से विभूषित किये गये हैं। चौथी बात यह है कि इन्ही दो काण्डो मे रामकथा से असम्बद्ध पुराणो की शैली मे रची हुई अनेक कथाएं मिलती हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से भी ये दो काण्ड अन्य काण्डो की अपेक्षा हीन हैं और इनमें विष्णु का ही अधिक महत्व है जब कि अन्य काण्डो में इन्द्र और वरुण की महत्ता दिखाई देती है। उत्तर काण्ड के परवर्ती होने का तो सबसे बडा और असदिग्ध प्रमाण यह है कि युद्ध काण्ड के अन्त मे स्पष्ट शब्दो मे रामायण का उपसहार कर दिया गया है। मूल पांच काण्डों मे भी कुछ सर्ग तथा श्लोक प्रक्षिप्त हैं।"

वास्तव मे देखा जाय तो पुराणो के सूक्ष्म अध्ययन से भी इस दृष्टिकोण को पुष्टि मिलती है। वायु, ब्रह्माण्ड और विष्णु पुराणो मे अन्य राजाओ के वृत्तान्तो के साथ राम का भी वर्णन आया है परन्तु कही किसी पुराण मे उत्तरकाण्ड मे वर्णित सीता बनवास का कोई उल्लेख नही है। महाभारत मे दिये हुए रामोपाख्यान मे भी सीता बनवास का जिक्र नही आया है। भास के प्राचीनतम नाटकों मे भी जहाँ रामकथा का रोचक वर्णन है सीता बनवास का कोई सदर्भ दृष्टि गोचर नही होता है।

श्री पुरुषोत्तमलाल भार्गव ने अपनी पुस्तक मे रामायण के रचयिता बाल्मीकि के लिए जो उद्‌गार प्रकट किये हैं वे अपने आप मे उस महान् कृतिकार के कृतित्व पर बडा उत्तम प्रकाश डालते हैं और वे इस प्रकार हैं।

'बाल्मीकि लौकिक सस्कृत काव्य के पिता और उसमे प्रयुक्त होने वाले अनुष्टुप् श्लोक के स्रष्टा थे। रामायण उनकी एक अनुपम देन है। इसकी भाषा की सुबोधता, अलकारो की स्वाभाविकता, वर्णनों की हृदय ग्राहिता, भावो की गम्भीरता और विचारो की उच्चता ने इसको भारत के ही नही ससार भर के महाकाव्यों मे उच्च स्थान प्रदान किया है। बाल्मीकि ने राम को अपना चरित नायक चुनकर ही अपनी प्रतिभा का परिचय नही दिया बल्कि अपनी समर्थ लेखनी द्वारा उनका तथा सीता, लक्ष्मण, भरत, हनुमान आदि पात्रो का सजीव चित्रण करके अथर्व वेद के एक मन्त्र मे उल्लिखित पारिवारिक सद्‌भावना के आदर्श को साकार कर दिया। भारतीयो के जीवन में रामायण का अतुल प्रभाव रहा है और रहेगा।"

महाभारत दूसरा संस्कृत महाकाव्य है। इस महाकाव्य में १८ पर्व है तथा हरिवंश नामक एक परिशिष्ट है। यह एक कवि के द्वारा एक समय मे नही रचा गया अपितु इसकी रचना एक सुदीर्घ काल तक होती रही। आरम्भ मे इसमें केवल ८८०० श्लोक थे, धीरे-धीरे उनकी संख्या २४००० हुई और अन्त मे वे एक लाख हो गये। आरम्भ में यह मौखिक गीतों के रूप मे ही था। भारतीय अनुश्रुतियो के आधार पर इसकी रचना ईसा पूर्व १५०० वर्ष के लगभग महाभारत के युद्ध के बाद ही महर्षि व्यास द्वारा की गई।

महाभारत के नाम से तो प्रगट है कि इसकी रचना का उद्देश्य कौरव पाण्डवो के युद्ध का वर्णन है परन्तु वास्तव मे यह निरा वीर काव्य न होकर समस्त भारतीय आदर्शो, परम्पराओ, दर्शन चिन्तन का विश्वकोश ही हो गया। इसमे धर्म, दर्शन राजनीति आदि का विवेचन इतने प्रचुर परिमाण मे मिलता है कि इसको भारतीय धर्म शास्त्र की संज्ञा ही दी जाने लगी। इसमे अनेको उपाख्यान ऐसे हैं जो हिन्दू आदर्शों की प्रतिष्ठापना मे निरन्तर सहायक रहे हैं। इसमे हिन्दुओ मे प्रचलित समस्त धार्मिक और दार्शनिक विचारो का प्रतिपादन करने वाला साहित्य है। महाभारत के दार्शनिक अशो मे श्रीमद् भगवतगीता सर्वश्रेष्ठ है। महाभारत मे अनेक रोचक उपाख्यान जिनमे शकुन्तलोपाख्यान, नलोपाख्यान, सावित्री उपाख्यान, शिवि उपाख्यान प्रमुख है विद्यमान हैं।

उत्तर महाभारत काल के गणराज्य

जिन लोगों ने प्राचीन भारत के इतिहास का अध्ययन नही किया है वे बडी सरलता से कह देते हैं कि हिन्दू शासन मे तो एक तन्त्र शासन का विधान है अथवा हिन्दुओ मे तो राजाओ के शासन करने की पद्धति है। उनका कहना है कि प्रजातन्त्रीय शासन-पद्धति का उद्गम स्थान पाश्चात्य देश ही हैं। हिन्दुओं के प्राचीन इतिहास से यह सिद्ध होता है कि विश्व के इतिहास मे भारत के प्रजातन्त्रीय गणराज्य सबसे पुराने हैं। यह सम्भव है कि अन्य देशो मे प्रजातन्त्रीय प्रणाली का विकास भारतीय गणराज्यो की शासन पद्धति के आधार पर ही हुआ हो।

महाभारत-काल के विषय मे विद्वानो के अनेक मत है। विषय विवाद ग्रस्त होते हुए भी कुछ इतिहासकार महाभारत काल को ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व मानते है पौराणिक आधार महाभारत काल को ईसा से लगभग १५०० वर्ष पूर्व का स्थिर करते हैं। महाभारत काल से पहिले का इतिहास तो उपलब्ध होता है परन्तु महाभारत काल से प्राग्बौद्ध काल का इतिहास

तिमिर के गर्त मे है। इस स्थिति का कारण महाभारत मे हुई एक प्रकार की प्रलय है। महाभारत संग्राम मे एक बार सम्पूर्ण संस्कृति का नाश हो गया था, असख्य योद्धाओं, वीरो, राजाओ, और सैनिको के रणक्षेत्र मे जूझने के कारण अनेक राज्य अस्त हो गये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि विनाश इतना भयकर हो गया कि पुनर्निर्माण के कार्य मे सैकडो वर्ष लग गये।

जैसा कि पहले कह आये हैं वेदो का काल महाभारत काल से पहले का है। वेदों मे 'सभा' और 'समिति' का उल्लेख है। अथर्ववेद मे 'सभा' और 'समिति' को प्रजापति की पुत्रियाँ कहा है। राजा इनसे अनुग्रह की कामना करता है ऐसा अथर्व वेद मे उल्लेख है। ऋग्वेद में एक प्रार्थना समिति की शान्ति, सहयोग और एकता विषयक है। वेदो मे समितियो मे वैमनस्य, कलह और विवाद का उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक काल मे भी समितियो में उग्र मतभेद हुआ करते थे। अथर्व वेद मे समिति द्वारा जन कल्याण के कार्यों का किया जाना ही नही अपितु सन्धि, विग्रह, समर आदि करने के अधिकारो का लेख मिलता है।

निस्सदेह प्राचीन काल मे भी राजा को बहुत अधिकार थे, वह शक्तिशाली होता था परन्तु निरकुश कदापि नही। वह समाज के धर्म और आदर्शों के अनुसार ही राज्य कर सकता था। उसके अतिरिक्त जनता की समिति को बहुत अधिकार था जो सब महत्वपूर्ण विषयो के निर्णय मे अपना योगदान करती थी। राजा को समिति के अनुकूल चलना पडता था। वैदिक काल मे शासन अधिकाशतः प्रजासत्तात्मक होता था, उसके नेता वे बुद्धिमान और त्यागमूर्ति ब्राह्मण होते थे जो जनता की श्रद्धाभिभूत सद्भावना के प्रतिनिधि हुआ करते थे। इस प्रकार की जनतन्त्र शासन व्यवस्था वेद सम्मत होने के कारण सबको मान्य थी।

प्राचीन भारत के गणराज्य महाभारत काल मे भी थे। अन्धक वृष्णि जातियो के राज्य मे प्रजातन्त्र शासन था। महाभारत का एक सदर्भ भीष्म द्वारा कहे हुए श्रीकृष्ण-नारद सम्वाद द्वारा अधक-वृष्णि सघ राज्य का बडा उत्तम एव निश्चित चित्र प्रस्तुत करता है श्रीकृष्ण ने नारद से कहा, 'मेरी स्थिति कहने को तो ऐश्वर्यमयी है परन्तु वह दासता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। यद्यपि आधी शक्ति मेरे हाथ में हैं मुझे दूसरो के निरन्तर कटु वाक्य सुनने पडते हैं। दुर्वचन निरन्तर मेरे हृदय को प्रज्वलित करते रहते हैं। हे देवर्षि!' यद्यपि मेरा भाई सकर्षण बलवान् है, गद और प्रद्युम्न रूपवान् और कोमल हैं तथापि मैं अपने को अकेला अनुभव करता हूँ। हे नारद! अन्य

अन्धक वृष्णि बलवान् और भाग्यवान् हैं। वे दुर्जय है और उनमें राजनीतिक शक्ति पूर्ण रूप से अवस्थित है। ये अन्धक वृष्णि जिसके साथ हो जांय उसके पास सब कुछ है और ये जिसके विरुद्ध हो जांय उसके पास कुछ भी नही ऐसा समझना चाहिए। आहुक और अक्रूर अति बलशाली हैं। ये जिनके पक्ष मे हो वह निरापद नही। ये जिसके विरुद्ध हो जांय उसके लिए अधिक आपत्ति वाली दूसरी बात नही। मेरे लिए यह निर्णय करना कठिन है कि मैं किसके साथ रहूँ। मेरे और ज्ञातियों दोनों के हित की दृष्टि से मुझे बताइये कि मेरा कर्तव्य क्या है। आप मेरे मित्र है और ज्ञानवान् हैं, अतः आपसे अपने चित्त की बात कही है।"

नारद ने कहा, "हे कृष्ण ! गणराज्य में दो प्रकार की कठिनाई होती है (१) बाहरी (२) आन्तरिक। पहली बाधा दूसरो द्वारा उत्पन्न की जाती है और दूसरी अपने ही मनुष्यो द्वारा। तुम्हें अपने लोक ही व्यथित कर रहे हैं। अतः हे कृष्ण, तुम्हे एक अस्त्र का प्रयोग करना है जिससे कि जाति के लोग दुर्वचन बोलना बन्द कर दें। वह शस्त्र यह है। दूसरे के गुणों को स्वीकार कर उसका यथोचित सत्कार करना, सहन शक्ति, क्षमा, धैर्य आदि गुणो को धारण करते हुए आवश्यकतानुसार दान करते रहना जो ज्ञातिजन कटु और तिरस्कार पूर्ण वचन बोलने के अभ्यस्त है उनके प्रति सहनशील होते हुए तुम उनके हृदय, वाणी और चित्त को शान्त करने का प्रयास करो। प्रजातन्त्र (सघ) राज्यों का नाश पारस्परिक भेद व वैमनस्य से होता है। हे केशव, तुम सघ के प्रधान हो, तुम्हारी प्रधानता मे सघ नष्ट न हो जाय ऐसा यत्न करो। हे प्रभो ! तुम वर्तमान और भविष्य नीति के तथा षाड्गुण्य के प्रयोग में निष्णात हो। राजनीति का कोई अग ऐसा नही जो तुम्हे ज्ञात न हो। अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर और भोज जातियो के लोग तथा शासक सब तुम्हारे ऊपर आश्रित हैं।"

महाभारत की यह घटना अन्धक-वृष्णि गणराज्य का बड़ा सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अन्धक, वृष्णि, कुकुर और भोज गणराज्य थे। इनका एक संघ बना हुआ था जिसमे दो दल थे। इन दलो में तीव्र मतभेद था और सभाओ में शासकों पर कटु आक्षेप किये जाते थे। इस सघ के दो मुख्य अथवा निर्वाचित प्रधान थे। महाभारत काल के मुख्यो के नाम श्रीकृष्ण और उग्रसेन थे। सघ की सभा में आहुक और अक्रूर नामी लोकप्रिय नेताओ का बोलबाला था। महाभारत का यह वर्णन बिल्कुल स्पष्ट और विशद है। इस पर किसी तरह की टिप्पणी की आवश्यकता नही।

महाभारत में उपरोक्त गणराज्य के अतिरिक्त और भी प्रजातन्त्र राज्यों का उल्लेख है, मालव क्षुद्रक, आन्ध्रक आदि। इन गणराज्यों का वर्णन सन्दर्भ रूप से कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा मैगस्थनीज की पुस्तक मे भी किया गया है। ये गणराज्य बहुत प्राचीन प्रतीत होते हैं। महाभारत मे क्षुद्रक-मालव का सम्मिलित प्रयोग हुआ है अतः ऐसा प्रतीत होता है कि क्षुद्रक-मालव भी सयुक्त गणराज्य था। इनके अतिरिक्त महाभारत काल मे किरात, दरद, ओदुम्बर, पारक, वाह्लीक, शिवि, त्रिगर्त, यौधेय, अम्बष्ठ, पौण्ड्र, बङ्ग आदि भी प्रजातन्त्र गणराज्यो पर राजा का शासन नही था, श्रेणी का शासन था। अतः इन राज्यो की महाभारत मे 'श्रेणिमन्तः' नाम से सज्ञा की है। महाभारत काल मे इनके अतिरिक्त अनेको राजा भी राज्य करते थे।

महाभारत काल मे इन प्रजातन्त्रो का साम्राज्यवादी शक्तियो से कोई सघर्ष न हुआ हो ऐसी बात नही है। सम्राट जरासन्ध का इतिहास इन गण-राज्यो के साथ महान् सघर्ष का इतिहास है। जरासन्ध मगध का शक्तिशाली सम्राट था। उसकी राजधानी गिरिव्रज थी। जरासघ अपने साम्राज्य के विस्तार की नीति मे विश्वास रखता तथा इसके लिए निरन्तर प्रयत्नशील भी रहता था। उसकी विस्तारवादी महत्वाकाक्षा मे गणराज्य प्रमुख रूप से बाधक थे। गणराज्यो की प्रजा जाति और कुल के गौरव की रक्षार्थ प्राणोत्सर्ग करने मे न झिझकती थी। ये लोग परतन्त्र होने की अपेक्षा युद्ध मे मृत्यु का वरण करना अधिक गौरवपूर्ण समझते थे। जाति की मर्यादा इनके लिए सर्वोपरि थी। उनका सगठन उन्हे या तो विकट युद्ध करने के लिए प्रेरित करता था या सामूहिक रूप से स्थान त्याग कर दूसरे प्रदेश के लिए बहिर्गमन करना।

सम्राट जरासन्ध ने अन्धक वृष्णियों के मथुरा स्थित प्रसिद्ध गणराज्य पर १८ बार आक्रमण किया। १७ बार तो इस गणराज्य ने प्रबल शत्रु का मुकाबिला किया परन्तु अठाहरवी बार मागधी सेनाओ ने जिनमे चेदि के राजा शिशुपाल, करुष के राजा वक्र, अङ्ग के राजा कर्ण आदि की सेनाएँ भी सम्मिलित थी अन्धक वृष्णि गणराज्य को परास्त कर दिया और अन्धक वृष्णि लोग सामूहिक रूप से अपनी राजधानी मथुरा को त्याग कर पश्चिम मे द्वारिका पुरी मे जाकर बस गये। जरासन्ध ने अपनी सेनाऐं वहाँ भी भेजी परन्तु वहाँ उनकी दाल न गली। अन्धक वृष्णि के अतिरिक्त अठारह और गणराज्य ऐसे हैं जिनमे जरासन्ध ने युद्ध किया। शूरसेन, भद्रकार, बोध, शाल्व पटच्चर, सुस्थल, मुकुन्द, कुलिन्द, कुन्ति, शाल्वायन आदि गणराज्यों को जरासन्ध से हार माननी पड़ी। बहुत से गणराज्य तो इनमे से जरासन्ध ने अपने राज्य

मे मिला लिए और कुछ अन्धक वृष्णियो की भांति पश्चिम प्रदेश को बहिर्गमन करने को बाध्य हुए।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है महाभारत काल से प्राग्बौद्ध काल तक का इतिहास अंधकारमय है इस काल के गणराज्यो का विशेष इतिहास भी इसी कारण से उपलब्ध नही है। इस बीच के काल के इतिहास का तारतम्य हमें महाभारत कालीन गणराज्यो के तथा बौद्धकालीन गणराज्यो के इतिहास से ही स्थिर करना होगा।

बौद्ध ग्रन्थो मे जिन सोलह राज्यो का उल्लेख है उनके नाम पाली भाषा में निम्नलिखित रूप से दिये गये हैं। (१) अङ्ग (२) मगध (३) कासी (४) कोसल (५) वज्जी (६) मल्ल (७) चेतीवंसा (८) कुरु (९) पाञ्चाल (१०) मच्छा (११) सूरसेन (१२) अस्सक (१३) अवन्ती (१४) गन्धार और (१५) कम्बोज। बौद्ध ग्रन्थो मे दस प्रजातन्त्रो का भी उल्लेख हैं। ये गणराज्य थे। इन गणराज्यों का उनकी राजधानी सहित इस प्रकार विवरण उपलब्ध होता है। इनका नामकरण पाली भाषा मे हैं।

गण	राजधानी	गण	राजधानी
साकिय	कपिलवस्थु	मल्ल	पावा
बुलि	अल्ल पप्प	मल्ल	कुसीनारा
भग्ग	सुसुभार	मोरिय	पिप्पलवन
कोलिय	रामगाम	विदेह	मिथिला

गणराज्यों मे सथागार होते थे जहाँ लोग एकत्रित होकर शासन पर विचार और निर्णय लिया करते थे। राजा या मुखिया का निर्वाचन विशेष रीतियों से हुआ करता था। उपराज और सेनापति का पद उन व्यक्तियो को दिया जाता था जो राजा की सहायता के लिए नियुक्त किये जाते थे। महल्लक नाम का पदाधिकारी प्रतिनिधि का काम करता था। कुलो और जातियों को भी राजनीतिक अधिकार थे। अट्ठकथा के अनुसार आठ न्यायाधीश हुआ करते थे जिनके द्वारा विभिन्न प्रकार के अपराधों और मुकदमो का निर्णय किया जाता था। वे थे विनिच्चय महामत्त, वोहारिक, सूत्रधार, अट्ठकुल, सेनापति, उपराज और राजा। बहुधा दो या इनसे अधिक गण मिलकर संघ का निर्माण कर लेते और संयुक्त शासन स्थापित कर शत्रु का सामना करने की दिशा में अपनी स्थिति दृढ बना लेते थे।

प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ दीघ निकाय महापरिनिब्बान सुत्त मे लिखा है कि गौतम बुद्ध ने संघो को सम्बोधित कर उपदेश दिया। वह उपदेश इस प्रकार है,

उसने ब्रह्मदत्त का बध करके समस्त अगमहाजनपद को अपने राज्य में मिला लिया। इससे उसकी राज्य शक्ति में बहुत वृद्धि हो गई।

विम्बिसार के समय में मगध की राजधानी गिरिव्रज थी। यह नगर गगा नदी के उत्तर में स्थित था। यह नगर वज्जियों के निरन्तर आक्रमणों के कारण एक प्रकार से असुरक्षित सा था। सुरक्षा के निमित्त गिरिव्रज के उत्तर मे विम्बिसार ने एक नये नगर की स्थापना की जिसका नाम राजगृह था। वज्जियो के आक्रमणो का सफलता पूर्वक सामना करने के अभिप्राय से इस नगर को एक दुर्ग के रूप मे बनाया गया था। विम्बिसार का उद्देश्य सफल हुआ और वज्जियो के आक्रमण विफल हुए वज्जिसघ तथा मगध मे सधि स्थिर रखने के लिए वज्जि राजकुमारी चेलना का विवाह विम्बिसार के साथ कर दिया गया।

विम्बिसार वडा शक्तिशाली राजा था। बौद्ध ग्रन्थ महावग्ग तथा अन्य बौद्ध साहित्य मे उसकी शक्तिशालिता का उल्लेख करते हुए लिखा हुआ है कि ८०,००० ग्राम उसकी अधीनता मे थे जिसके ग्रामिक उसकी सभा मे एकत्रित हुआ करते थे। उसके राज्य का विस्तार भी इसी साहित्य मे ३०० योजन बताया गया है। इसी साहित्य मे विम्बिसार के वैभव और उसकी ५०० रानियो का भी उल्लेख है। सम्भव है इस सख्या मे कुछ अतिशयोक्ति हो। उसके पुत्र भी अनेक थे जिनमें अजातशत्रु, दर्शक, अभय, शीलवन्त और विमल प्रमुख थे।

विम्बिसार महात्मा बुद्ध का समकालीन था। महात्माबुद्ध अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हुए मगध आये थे और उन्होने विम्बिसार से भेंट की थी। विम्बिसार बुद्ध का बहुत सम्मान करता था। विम्बिसार १५ वर्ष की अवस्था में राजसिहासन पर बैठा था और उसने ६७ वर्ष की आयु पाई इस प्रकार उसने ५२ वर्ष राज्य किया। वास्तव मे विम्बिसार ने २८ वर्ष तो स्वय राज-कार्य सम्हाला और पिछले २४ वर्षों मे उसके बड़े पुत्र दर्शक ने अपने पिता के जीवन-काल में ही राज्य-कार्य का सचालन किया। विम्बिसार की हत्या उसके पुत्र अजातशत्रु ने राज्य-सत्ता हथियाने के अभिप्राय से की थी।

यद्यपि विम्बिसार ने अपने जीवन-काल मे ही अजातशत्रु को अगमहाजनपद का और दर्शक को मगध का शासक नियुक्त कर दिया था ऐसा प्रतीत होता है अजातशत्रु इससे सन्तुष्ट न था। वह न केवल अपने भाई दर्शक को मगध के शासनसूत्र से अपदस्थ करना चाहता था अपितु विम्बिसार के स्थान पर अपने आपको ही सम्राट घोषित करने को आतुर था। अजातशत्रु द्वारा

अपने पिता की हत्या किये जाने के सम्बन्ध में ऐतिहासिक अनुश्रुति में कई किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं। उनमें से एक इस प्रकार है। देवदत्त की कुटिल मन्त्रणा से अजातशत्रु छुरा लेकर अपने पिता को मारने के लिए अन्तःपुर में घुसा और वहाँ अमात्यों द्वारा पकड़ा गया। सेवकों के द्वारा पूछे जाने पर उसने स्वीकार किया कि वह सम्राट का घात करने जा रहा था। अमात्य उसे सम्राट के पास ले गये और उन्होंने सम्राट को सब विवरण सुना दिया। सम्राट ने केवल खजाना अपने पास रख कर शेष समस्त राजकाज उसको सुपुर्द कर उसकी सत्ता लोलुपता शान्त करने का प्रयत्न किया। परन्तु अजातशत्रु इससे भी सन्तुष्ट न हुआ और उसने थोड़े ही दिनों में बिम्बिसार को बन्दीगृह में डाल दिया। कुछ काल उपरान्त बन्दीगृह में उसका भोजन भी बन्द कर दिया गया जिससे भूख प्यास से पीड़ित होकर उसके प्राण पखेरू उड़ गये।

एक और किम्वदन्ती इस प्रकार है। एक बार अजातशत्रु के पुत्र की अंगुली मे बड़ी पीड़ा हुई, उस पीड़ा से वह विह्वल हो गया था। अजातशत्रु ने उसकी पीड़ा शान्त करने के उद्देश्य से उसकी अंगुली को चूस लिया जिससे फोड़ा फूट गया और बालक को शान्ति मिली। उसकी माता वैदेही वहाँ उपस्थित थी उसने कहा कि ठीक इसी प्रकार बचपन में तुम्हारे पिता ने तुम्हारी पीड़ा शान्ति की थी। अजातशत्रु को यह सुनकर चेतना हुई और अपने पिता पर किये गये अत्याचार के प्रति उसको बड़ी घृणा और वेदना हुई। वह अनेक अन्य व्यक्तियों के साथ बन्दीगृह की ओर यह देखने को कि उसका पिता यदि जीवित हो तो उसे मुक्त करके उससे क्षमा मांगे दौड़ा। परन्तु बिम्बिसार जो बन्दीगृह में अत्यन्त निर्बल हो गया था बाहर हो रहे कोलाहल को यह समझ कर कि अजातशत्रु ने उसे व्यथा पहुँचाने की यह कोई नई योजना बनाई है चेतनाहीन होकर भूमि पर गिर पड़ा और उसी दशा में उसकी मृत्यु हो गई।

इस प्रकार अंग महाजनपद के विजेता और श्रेणिबल के नेता परम प्रतापी सम्राट बिम्बिसार का अन्त हुआ। अपने उद्दण्ड और महत्वाकांक्षी भाई के भय से अजातशत्रु के सब भाईयों ने भिक्षु वृत्ति ग्रहण कर ली। उसका बड़ा भाई दर्शक भी जिसने बिम्बिसार के जीवन काल मे २४ वर्ष मगध का योग्यतापूर्वक शासन किया था भिक्षु बन गया।

पिता की मृत्यु के बाद अजातशत्रु को बड़ा भीषण पश्चात्ताप हुआ। राजगृह मे वह दुःखी रहता था और उसका मन राजकाज मे न लगता था इस कारण उसने राजगृह को छोड़कर चम्पा मे अपनी राजधानी बनाई।

अजातशत्रु का सर्वप्रथम कोशल के साथ सघर्ष हुआ। कोशलराज प्रसेनजित् बिम्बिसार के श्वसुर थे अपने जामाता का बुरा हाल किये जाने और पुत्री के उसके दुःख मे प्राण विसर्जन करने से प्रसेनजित् क्षुब्ध था। उसने न केवल काशीराज्य पर पुनः अधिकार कर लिया था वह अजातशत्रु को युद्ध मे नीचा दिखाना चाहता था। उसने युद्धनीतिज्ञो की राय मे शकट व्यूह की रचना की और अपने से कई गुनी ताकत वाले राजा अजातशत्रु को न केवल परास्त किया अपितु उसको बन्दी भी बना लिया। परन्तु वह वृद्ध था, उसे अपनी ढलती अवस्था और मगध की राज्य शक्ति का भान था। वह इस निरतर सघर्ष से बचना चाहता था। इन विचारो से प्रेरित होकर उसने अजातशत्रु से सन्धि कर ली और अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह उसके साथ कर दिया। काशी का राज्य भी पूर्ववत् दहेज मे दे दिया गया।

कोशल से इस प्रकार निवृत्त होकर अजातशत्रु ने वज्जि सघ पर आक्रमण करने का विचार किया। इस सम्बन्ध मे बौद्ध जातको मे बड़े मनोरजक वृत्तान्त मिलते हैं। कहते हैं अजातशत्रु ने वज्जि सघ पर आक्रमण करने की अनुमति माँगने के लिये ब्राह्मण वर्षकार को गौतम बुद्ध के पास भेजा। महात्मा बुद्ध ने वज्जिसघ के उत्तम गुणो का वर्णन किया। वर्षकार ने इससे यह निष्कर्ष निकाला कि वज्जिसघ का पतन भेद नीति से हो सकता है अन्य प्रकार से नही। उसने अपना यही प्रतिवेदन अजातशत्रु के समक्ष रखा। पारस्परिक कलह उत्पन्न करने और घूस के प्रयोग के द्वारा वज्जिसघ पर विजय प्राप्त करने की योजना बनाई गई। वर्षकार का नाटकीय ढग से कृत्रिम निर्वासन किया गया। उसने वज्जिसघ मे प्रवेश किया और वह बहुत शीघ्र वज्जियो का विश्वास-भाजन बन गया। उसने वज्जियो का विश्वास प्राप्त करने मे यहाँ तक सफलता पाई कि वह सघ का मुख्य न्यायाधीश बना दिया गया। इस पद पर रहकर उसने वज्जियो मे फूट फैला दी और जब वे पारस्परिक कलह के कारण विभक्त हो गये तो चुपके से अजातशत्रु को आक्रमण करने का निमन्त्रण दे दिया। जब अजातशत्रु ने आक्रमण किया तब लिच्छवियो मे आपसी वैमनस्य से इतनी शत्रुता हो गई थी कि कोई एक दूसरे की सहायता को न पहुँचा और अजातशत्रु ने निष्कंटक होकर उन पर विजय प्राप्त कर ली।

जैन सूत्रो के आधार पर अजातशत्रु को वैशाली के आक्रमण के उपरान्त घोर युद्ध करना पडा था। जिसमे वज्जियो के साथ काशी और मल्ल-सघ ने भी उसका सामना किया था। जैन अनुश्रुति के अनुसार इस युद्ध के परिणाम स्वरूप वैशाली के साथ साथ काशी और मल्लसघ भी मगध साम्राज्य

में सम्मिलित कर लिए गए। इस विजय से अजातशत्रु की शक्ति मे बड़ी वृद्धि हो गयी थी।

अजातशत्रु ने ३२ वर्ष राज्य किया। वह ४८८ ई० पू० गद्दी पर बैठा था और ४५६ ई० पू० मे उसके शासन का अन्त हो गया। गौतम बुद्ध का निर्वाण ४८० ई० पू० में उसी के राज्यकाल में हुआ था।

राजा उदायी भद्र—इसने अपने पिता अजातशत्रु का वध करके राजसिंहासन प्राप्त किया था। इन राजाओ द्वारा पिता का वध करके राज्य प्राप्त करने की प्रथा आर्य परम्पराओ और आदर्शों के सर्वथा प्रतिकूल थी। इसी कारण ये राजा लोग 'नय वर्जित' कहलाते थे। चाणक्य ने अपने अर्थ शास्त्र में लिखा है कि राजपुत्र अपने पिता की हत्या करके भी राजसत्ता हथियाने की बात सोचते थे। उनकी गतिविधियो की जानकारी अथवा उन पर नियत्रण रखने के हेतु चाणक्य ने गुप्तचरों का अपने अर्थ-शास्त्र मे विधान किया है।

उदायी ने राजगृह की जगह पाटलिपुत्र 'पटना' को अपने साम्राज्य की राजधानी बनाया। वज्जि महाजनपद को काबू मे रखने के लिये और मगध राज्य का सुचारु रूप से संचालन करने की दृष्टि से राज गृह दूर पड़ता था। इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किसी समीपवर्ती स्थान की आवश्यकता थी। पाटलिपुत्र इस दृष्टि से बहुत उपयुक्त था।

उदायी बड़ा महत्वाकांक्षी और निरकुश था। सब पड़ोसी राज्य उससे भयभीत थे। वे सोचते थे कि जब तक उदायी जीवित है किसी की सुरक्षा का कोई ठिकाना नही। उन्होने मिलकर मन्त्रणा बनाई। अवन्ति और वत्स तो उस समय एक कुल द्वारा शासित थे ही। जैन अनुश्रुति मे इस मन्त्रणा की चर्चा इस प्रकार है। उदायी ने पडौस के किसी राज्य पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में राजा की मृत्यु हो गई और उसका राज्य उदायी ने अपने साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया। उस राजा का पुत्र अवन्तिराज की शरण मे गया। अवन्तिराज ने उसे शरण मे तो ले लिया परन्तु युद्ध मे उदायी को हराना टेढ़ी खीर था इसलिये एक उपाय सोचा गया। उदायी जैन साधुओ का बड़ा आदर करता था। राजप्रासाद मे प्रवेश के लिये उनको कोई रोक टोक न थी। वह राजकुमार साधु का वेश बनाकर महल मे जाने आने वाले साधुओ मे से एक का शिष्य हो गया और अब वह बिना किसी रोक टोक के भीतर आने जाने लगा। एक दिन अवसर पाकर उसने सोते हुए राजा का सिर धड़ मे अलग कर दिया और इस प्रकार पितृघाती राजा उदायी का अन्त हुआ।

उसके बाद अनिरुद्ध और मुण्ड नामक दो राजा क्रमशः सिंहासनारूढ हुए। इन दोनो ने कुल मिलाकर आठ वर्ष राज्य किया। इनके राज्य की कोई महत्वपूर्ण घटना ज्ञात नही है। बौद्ध और जैन साहित्य के अनुसार बार्ह्दद्रथ-वश के बाद आने वाला वंश हर्यङ्क वश था और उसका सस्थापक बिम्बिसार था। कुछ ऐतिहासिक शिशुनाग को हर्यङ्क वश का सस्थापक बतलाते हैं जो भ्रामक है कारण शिशुनाग तो कई पीढ़ियो बाद हुआ था। कुछ ऐतिहासिको के अनुसार हर्यङ्कवंश के राजाओं का तिथिक्रम इस प्रकार है, इस तिथिक्रम मे हमारे ऊपर यथा स्थान दिये हुए तिथिक्रम से कुछ भिन्नता है परन्तु वह नगण्य है।

क्षेमवर्मा	५६६—५४६ ई० पू०
क्षेमजित (भट्टिय)	५४६—५२२ ई० पू०
बिम्बिसार	५२२—४६४ ई० पू०
अजातशत्रु	४६४—४६८ ई० पू०
दर्शक	४६८—४४५ ई० पू०
उदायी	४४५—४१२ ई० पू०
नन्दिवर्द्धन	४१२—४१० ई० पू०
महानन्दी	४१०—४०७ ई० पू०

उपरोक्त तिथिक्रम के अनुसार मगध में हर्यङ्क वंश की स्थापना क्षेमवर्मा ने की। यद्यपि उसने बीस वर्ष राज्य किया तथापि उसके राज्य की किसी उल्लेखनीय घटना का पता नही चलता। उसका उत्तराधिकारी क्षेमजित् था जिसको बौद्ध ग्रन्थो में भट्टिय के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसी नरेश ने महावश के अनुसार अपने पुत्र बिम्बिसार का १५ वर्ष की आयु मे राज्याभिषेक किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टिय ने राज्य प्राप्त करते ही उसे अपने अल्पवयस्क पुत्र को हस्तान्तरित कर दिया था और उसके राज्य के २४ वर्ष यदि बिम्बिसार के राज्य के २८ वर्षों मे जोड़ दिये जाँय तो बिम्बिसार का राज्य ५२ वर्ष हो जाता है जो कि ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर ठीक प्रतीत होता है।

बिम्बिसार के समकालीन राजागण—

कोशल—कोशल में राजा प्रसेनजित् का शासन था। यह भी कहा जाता है कि कपिलवस्तु के शाक्यों, रामग्राम के कोलियों और केसपुत्त के के कालामो का एक सघ था जिसके राजा प्रसेनजित् गण मुख्य थे। प्रसेनजित् की अवस्था गौतम बुद्ध के ही बराबर थी। वे बुद्ध का बहुत आदर करते थे।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है प्रसेनजित् की बहन कोशला देवी बिम्बिसार से और उनकी पुत्री वाजिरा बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु से ब्याही थी।

एक बार प्रसेनजित् अपनी राजधानी से कहीं गये हुए थे तब उनकी अनुपस्थिति में उनके मन्त्री दीर्घ चारायण ने उनके पुत्र विडूभ अथवा विरुद्धक को राजा घोषित कर दिया। प्रसेनजित् अपने जामाता अजातशत्रु से सहायता लेने गये परन्तु वहाँ राज्य द्वार पर पहुँचते पहुँचते उनकी मृत्यु होगई। अजातशत्रु ने उनका राजकीय विधि से दाहसंस्कार करा दिया।

विरुद्धक को पुराणों में क्षुद्रक भी कहा है। विरुद्धक के विषय में कहा जाता है कि वह एक निम्न कुल की स्त्री से उत्पन्न प्रसेनजित् का पुत्र था। प्रसेनजित् की इच्छा शाक्य कुल की राजकुमारी से विवाह करने की थी परन्तु शाक्यों ने विशाभ खतिया नाम की एक दासी को राजकुमारी बताकर प्रसेनजित् को वधू रूप में देदी थी, विरुद्धक उसी से उत्पन्न था। शाक्य लोग इस कारण विरुद्धक का एक दौहित्र की नाईं सम्मान न करते थे। विरुद्धक इस अपमान के कारण उनसे बदला लेने की सोचता रहता था। राज्याधिकार प्राप्त करते ही उसने शाक्यों पर चढ़ाई कर दी। शाक्यों की पराजय हुई। कुछ शाक्य भागकर हिमालय के निकट पिप्पलीवन नामक स्थान में बस गये और उस स्थान पर मोरों की अधिकता होने के कारण वे लोग मोरिय कहलाने लगे। अन्य क्षत्रियों की तरह पिप्पलवन के मोरिय लोगों ने भी बुद्ध के अवशेष का भाग लिया था।

अजातशत्रु के काल में वत्स में शतानीक का पुत्र उदयन राज्य करता था। उदयन बड़ा कला-प्रेमी और प्रतापी राजा था। उसकी वीरता और प्रेम सम्बन्धी कथाएँ पाली और संस्कृत साहित्य में प्रचुर रूप से विद्यमान हैं। अवन्ती के राजा प्रद्योत की उदयन से शत्रुता थी। प्रद्योत उसको नीचा दिखाना चाहता था। उदयन को हाथियों के शिकार का बड़ा शौक था। एक बार प्रद्योत के सैनिकों ने एक काष्ठ के हाथी का आवरण चढ़ा कर उदयन को धोखे से पकड़ लिया। वे उसे बन्दी बनाकर प्रद्योत के पास ले गये। प्रद्योत ने उसे कारागार में डाल दिया। वहाँ दैवात् उदयन का जो स्वयं एक सुन्दर पुरुष था प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता से प्रेम हो गया। अपने मन्त्री यौगन्धरायण की कुशलता से उदयन बन्दीगृह से निकल कर वासवदत्ता के साथ अपने राज्य में पहुँच गया। उस समय वत्स की राजधानी कौशाम्बी थी। सम्भवतः प्रयाग से तीस मील दूर स्थित कोसम गाँव ही भूतपूर्व कौशाम्बी नगरी था। भगवान् बुद्ध ने कौशाम्बी की अनेक यात्राएँ की थी। पहले

उदयन बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट न था परन्तु बाद मे पिण्डोल भारद्वाज नामी भिक्षु के प्रयासो से उसकी बौद्ध धर्म की रुचि हो गई।

उदयन के पुत्र का नाम बोधिकुमार था। वह उदयन की अनुमति से भर्गों की राजधानी सुंसमार गिरि में उदयन के प्रतिनिधि रूप मे रहता था। वहाँ उसने एक अति विशाल राजप्रासाद निर्माण कराया था।

जैसा कि ऊपर भी लिखा जा चुका है अजातशत्रु के बाद उसका पुत्र उदायी मगध राज्य के सिंहासन पर बैठा। परन्तु भास का नाटक स्वप्नवासवदत्ता एक दूसरा ही साक्ष्य प्रस्तुत करता है। भास के इस नाटक के अनुसार अजातशत्रु के उत्तराधिकारी के रूप मे दर्शक नाम का राजा हुआ जिसने २४ वर्ष तक राज्य किया। दर्शक की बहन पद्मावती अत्यन्त सुन्दरी थी। उदयन के मन्त्री यौगन्धरायण का विचार था कि वत्स की राजनीतिक शक्ति को सुदृढ बनाने के लिए उसका मगध से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होना आवश्यक था। एतदर्थ उसने पद्मावती का विवाह उदयन के साथ कराने की योजना बनाई। उदयन का वासवदत्ता से अपार प्रेम था अतः वह किसी दूसरे विवाह की कल्पना भी न कर सकता था। यौगन्धरायण ने अवसर पाते ही यह खबर फैलवा दी कि वह और वासवदत्ता दैवयोग से लावाणक नामक ग्राम मे अग्निकाण्ड के परिणाम स्वरूप जल कर मर गये। उदयन ने वासवदत्ता को मृत समझ कर पद्मावती से विवाह कर लिया। विवाहोपरान्त यौगन्धरायण और वासवदत्ता पुनः उदयन से आ मिले।

इस प्रकार मगध से मैत्री सम्बन्ध हो जाने से मगध और वत्स की सम्मिलित सैन्यशक्ति द्वारा वत्स के शत्रु आरुणि की पूर्ण पराजय हो गई। आरुणि ने एक विशाल सेना लेकर वत्स पर आक्रमण कर दिया था।

उदयन के बाद उसका पुत्र बोधिकुमार वहीनर वत्स के राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। यह राजा अपने विरुद नर वाहनदत्त के नाम से प्रसिद्ध है। पुराणों के अनुसार नरवाहनदत्त के बाद इस वंश के तीन राजाओं ने और वत्स का राज्य किया परन्तु कथा सरित्सागर मे लिखा है कि अवन्ती के राजा पालक ने वत्स को जीत कर अवन्ती मे सम्मिलित कर लिया। इन दोनों परस्पर विरोधी सूत्रों से यह निष्कर्ष सम्भव है कि पालक ने वत्स का कुछ भाग ले लिया हो और शेष भाग पर नर वाहन दत्त के तीन वंशजों ने राज्य किया हो।

अवन्ती का राज्य

अवन्ती में पहले हैहय वंशी क्षत्रिय राज्य करते थे। बिम्बिसार के राज्य-काल के अन्तिम दौर में अवन्ती मे एक नये राजवंश का उदय हुआ। इस वंश का पहला राजा प्रद्योत था जो सम्भवतः ५०५ ई० पू० में अवन्ती के राज्य सिंहासन पर बैठा। इस वंश मे प्रद्योत, पालक, विशाखयूप, आर्यक और अवन्तिवर्द्धन नामक पाँच राजा हुए। पालक के बाद अवन्ति के दो भाग हो गये प्रतीत होते हैं कारण विशाखयूप और आर्यक का एक ही काल मे अवन्ति के राजा होने का उल्लेख है। कल्किपुराण के अनुसार विशाखयूप ने पालक के बाद माहिष्मती पर राज्य किया मृच्छ कटिक के अनुसार पालक के बाद आर्यक उज्जयिनी के राज्य सिंहासन पर बैठा। अतः कालक्रम के आधार पर तो इस वंश के चार राजाओं अर्थात् प्रद्योत, पालक, आर्यक और अवन्तिवर्द्धन का ही उल्लेख मिलता है। पुराणो के अनुसार इन चारों राजाओ ने ६८ वर्ष राज्य किया इससे सिद्ध होता है कि इस वंश का मूलोच्छेद करने वाला शिशुनाग ४०७ ई० पू० राज्य सिंहासन पर बैठा होगा।

बिम्बिसार की भाँति प्रद्योत भी बडा महत्वाकांक्षी था। प्रद्योत के पास एक विशाल सेना थी जिसके कारण वह महासेन कहलाता था। अपने स्वभाव की उग्रता के कारण उसको चण्ड प्रद्योत भी कहते हैं। पुराणों मे उसे प्रणतसामन्त लिखा है जिसका तात्पर्य है कि आस पास के सामन्तगण उसके वशवर्ती थे। प्रद्योत की बिम्बिसार से प्रगाढ मैत्री थी। एक बार जब वह पाण्डु रोग से ग्रस्त हुआ तो उसके मित्र सम्राट बिम्बिसार ने जीवक नाम के आयुर्वेदाचार्य को उसकी चिकित्सार्थ भेजा था।

प्रद्योत के उपरान्त पालक अवन्ती का राजा हुआ। उसके अत्याचारी शासन से पीड़ित जनता ने विद्रोह कर दिया जिसके परिणामस्वरूप पालक मारा गया। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है पालक के बाद अवन्ती राज्य दो भागो में बँट गया। एक भाग पर पालक के पुत्र विशाख यूप का अधिकार हो गया और दूसरे भाग पर आर्यक का। आर्यक पालक के बड़े भाई गोपाल का पुत्र था। पुराणो के अनुसार पालक ने २४ वर्ष राज्य किया अतः आर्यक लगभग ४५८ ई० पू० गद्दी पर बैठा होगा।

हर्यङ्कवंशी मुण्ड के बाद नागदासक मगध का राजा बना। उसका प्रधान अमात्य शिशुनाग था। नागदासक के अमात्य ने राज्य पर अपनी धाक जमा रक्खी थी। राजा तो नाम मात्र का था। सत्ता वस्तुतः अमात्य शिशुनाग के हाथ में थी। शिशुनाग ने भी बार्हद्रथवंशीय राजा रिपुंजय के अमात्य

पुलिक की परम्परा का अनुसरण किया। बौद्ध साहित्य में शिशुनाग की गतिविधियों को साधुसम्मत बताया गया है। नागदासक को अपदस्थ करके प्रजाजनों और मन्त्रियों ने शिशुनाग का विधिवत् अभिषेक किया था। शिशुनाग बड़ा शूरवीर, प्रतापी और महत्वाकांक्षी था।

शैशुनाग और नन्द वंश

४०७ ई० पू० से ३१७ ई० पू० तक

हर्यङ्क वंश के पश्चात् मगध मे शिशुनाग और नन्द वंशो का साम्राज्य स्थापित हुआ। पुराणो मे शिशुनाग का राज्य काल ४० वर्ष लिखा है। शिशुनाग और नन्दवशो का वर्णन सिहली कथानको मे भी मिलता है। परन्तु पुराणो और सिहली विवरणो के तुलनात्मक अध्ययन से पौराणिक साक्ष्य अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिशुनाग का राज्य काल पुराणो मे भूल से १४ वर्ष के बजाय ४० वर्ष अंकित कर दिया गया है। पुराणो के अनुसार शिशुनाग और नन्दवशो की सूची इस प्रकार निश्चित होती है।

शिशुनाग	१४ वर्ष
काकवर्ण अथवा कालाशोक	३६ वर्ष
महापद्म नद	२८ वर्ष
नवनन्द	१२ वर्ष
	कुल ९० वर्ष

शिशुनाग

शिशुनाग सम्भवतः हर्यङ्क वंशी अन्तिम राजा के राज्यकाल मे काशी का शासक था। हर्यङ्क वश का पतन होते देख उसने अपने पुत्र को तो अपने स्थान पर वाराणसी का शासक नियुक्त किया और स्वय उसने मगध पर कब्जा करके गिरिव्रज को मगध की राजधानी बनाया। सामरिक दृष्टि से गिरिव्रज सदैव मगध की राजधानी होने योग्य था। हर्यङ्क वश के पतन मे शिशुनाग का निश्चय ही प्रमुख हाथ था। अवन्ति का मगध में विलय—शिशुनाग के शासन काल मे मगध साम्राज्य की वृद्धि हुई। इसके शासन की सबसे बड़ी विजय अवन्ति महाजनपद का पराजित होकर मगध साम्राज्य मे सम्मिलित हो जाना है। पुनिक के पुत्र प्रद्योत ने अवन्ति मे जिस वंश की स्थापना की थी उसका अब अन्त हो रहा था। प्रद्योत बड़ा प्रतापी था पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार 'चड' उसकी उपाधि थी। उसने अजातशत्रु के शासनकाल में मगध पर आक्रमण

करने की योजना बनाई थी जिसके कारण अजातशत्रु को राजगृह की किलेबन्दी करने को बाध्य होना पडा। प्रद्योत की मृत्यु के उपरान्त राज्यसिंहासन के लिए संघर्ष होने लगा। उसके उत्तराधिकारी भीरु और निर्बल थे, उनमें प्रद्योत की सी वीरता का पूर्ण अभाव था। शिशुनाग ने अवन्ति के अन्तिम राजा अवन्ति वर्द्धन को युद्ध में परास्त किया। अवन्ति वर्द्धन की रणक्षेत्र में ही मृत्यु हो गई और राज्य मगध साम्राज्य में मिला दिया गया।

शिशुनाग एक महान् विजेता था। सबसे पहिले उसने अवन्ति के राजा प्रद्योतवंशी अवन्तिवर्द्धन को परास्त कर अवन्ति को मगध मे मिला लिया। वत्स और कोशल देश के अन्तिम राजा जो क्रमशः क्षेमक और सुमित्र थे शिशुनाग के हाथों पराजित हुए और उनकी इस पराजय के परिणामस्वरूप वत्स और कोशल प्रदेश भी मगध में मिला लिये गये। इन तीनो प्रदेशो का मगध में विलय शिशुनाग ने सम्भवतः अपने राज्य के प्रथम वर्ष मे ही कर लिया। शिशुनाग ने सर्वप्रथम मगध को साम्राज्य का रूप दिया। निश्चय ही वह एक योग्य और महान् शासक था।

काकवर्ण

इसको कालाशोक भी कहते हैं। सम्भवतः उसके ये नाम उसके काले वर्ण के कारण हो, वास्तव में उसका नाम अशोक था। इसने पाटलिपुत्र को ही अपनी राजधानी बनाया। यह भी एक सफल शासक समझा जाना चाहिये। इसके शासन काल में बौद्धो की द्वितीय सभा ३८४ ई० पू० में वैशाली नगर मे हुई थी जिसके सभापति यशाचार्य थे। इसमें भिक्षुओ के नवीन आचारो पर विचार हुआ और उस सभा के निर्णयो के परिणाम स्वरूप नवीन विचार वाले महासंघिक और पुरानी पद्धति वाले स्थविर कहलाने लगे। कालाशोक के शासनकाल के दसवें वर्ष में बुद्ध के परिनिर्वाण को १०० वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इसने ३६ वर्ष राज्य किया।

काकवर्ण के समय में राजनीतिक दाँव-पेच शुरू हो गये थे। उसके विरुद्ध एक दल उठ खड़ा हुआ था जिसका नायक महापद्मनन्द था। महापद्मनन्द हर्यंक्ष वंशी राजा महानन्दी का शूद्रा से उत्पन्न पुत्र था अतः वह शैशुनाग वंशियों को राज्य के अपहरणकर्ता के रूप मे मानता था और अपने आपको राज्य का वास्तविक अधिकारी समझता था। उसके इस विचार से भी काफी लोग सहमत थे और यही कारण था कि उसने अवसर पाते ही नगर के बाहर कालाशोक पर तलवार से वार किया और उसे मौत के घाट उतार दिया। अपनी मृत्यु पर्यन्त कालाशोक ने ३६ वर्ष राज्य किया था।

महापद्म ने पहिले तो काकवर्ण के दस राजकुमारो के नाम पर राज्य किया परन्तु फिर शीघ्र उन दसो राजकुमारों की हत्या करके वह स्वयं मगध के राज्य का स्वामी बन बैठा। इस प्रकार शिशुनाग वंश ५० वर्ष राज्य करके अस्त हो गया।

नन्द वंश

महापद्म नन्द ३५७ ई० पू० मगध के सिंहासन पर बैठा। जैन और ग्रीक लेखको के अनुसार महापद्मनन्द नापित पुत्र था। उसकी माता तो शूद्रा थी ही परन्तु उसके नापित होने में सन्देह है। ग्रीक और जैन लेखकों का दृष्टिकोण किम्वदन्तियो पर आधारित है। पुराणो मे उसको बिम्बिसार वंशी महानन्दी का शूद्रा से उत्पन्न पुत्र लिखा है। नापित लोभी को भी कहते हैं। महापद्म बडा लोभी था अत. नापित पुत्र की सज्ञा दी गई हो तो कोई आश्चर्य नही है। मत्स्य पुराण मे लिखा है कि महापद्म की मृत्यु उसके जीवन के ८८ वे वर्ष मे हुई और वायु पुराण मे लिखा है कि उसने २८ वर्ष राज्य किया। अपने पिता की मृत्यु के समय वह दस वर्ष का रहा होगा और ६० वर्ष की अवस्था मे वह मगध पर अधिकार कर पाया होगा।

महापद्म के विजयाभियानो का विस्तृत विवरण तो उपलब्ध नही है परन्तु ग्रीक लेखको के अनुसार नन्द वंश का गगा यमुना के दुआब पर भी शासन था और हाथीगुम्फा के एक अभिलेख के अनुसार महापद्म ने कलिङ्ग मे नहर निकलवाई थी तथा वहाँ से जिन मूर्ति विजयोपहार में प्राप्त की थी।

महापद्मनन्द को पुराणो मे सर्वक्षत्रान्तक कहा है। पुराणो के अनुसार भारत के अनेक प्रसिद्ध क्षत्रिय राजवंश महापद्म के समय मे विलीन हो गये थे और उनके राज्यो का मगध साम्राज्य मे विलय हो चुका था। सम्भवतः मैथिल, काशी, वीतिहोत्र, हैहय, पौरव और ऐक्ष्वाकव वंश तो पहिले ही समाप्त हो चुके थे। पचाल, शूरसेन, कलिंग और अश्मक के राजवंशो का महापद्म ने उन्मूलन कर दिया। ग्रीक लेखको के अनुसार सिकन्दर के आक्रमण के समय समस्त गगाघाटी पर नन्द साम्राज्य का आधिपत्य था। महापद्मनन्द के विजय अभियानो ने उसे पजाब के पूर्व के समस्त उत्तरी भारत का जो दक्षिण में अश्मक और कलिङ्ग तक फैला हुआ था अधिपति बना दिया।

पुराणो मे महापद्मनन्द को एक महान् साम्राज्य का स्वामी, एकच्छत्र और एकराट् आदि उपाधियो से विभूषित किया है। उसका महापद्म नाम उसकी अपार समृद्धि के कारण रक्खा गया। कथा सरित्सागर मे लिखा है कि महापद्मनन्द बड़ा समृद्धिशाली था, उसके पास ९९ करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ थी।

उसने एक विशाल सेना तैयार की थी जिसमें ग्रीक लेखकों के अनुसार बीस हजार अश्वारोही, दो लाख पैदल, दो हजार रथ और तीन हजार हाथी थे।

महापद्मनन्द की गणना भारत के महान् सम्राटों में है। उसने बिम्बिसार, अजातशत्रु और शिशुनाग की परम्परा में महान् कार्य किये और अपने राज्य का विस्तार किया। उसकी विशाल सेना के कारण पुराणों में उसको उग्रसेन भी कहा है।

एक सुदीर्घ शासन के बाद महापद्म की मृत्यु ३२६ ई० पू० में हुई। उसकी मृत्यु के बाद उसके सुकल्प आदि आठ पुत्र राजा हुए। उन्होंने कुल बारह वर्ष राज्य किया। ये लोग निरंकुश होकर विलासिता में आकण्ठ मग्न हो गये जिसके कारण राज्य की प्रजा इनसे अत्यन्त असंतुष्ट हो गई। उनकी अयोग्यता के कारण महापद्म द्वारा निर्मित विशाल साम्राज्य का विघटन शुरू हो गया। परन्तु नन्दों की वैयक्तिक अयोग्यता के होते हुए भी राज्य की सैन्य शक्ति कम न हुई और पूर्ववत् ही सुदृढ रही। सिकन्दर का आक्रमण नवनन्दो के राज्यकाल में ही हुआ था। नन्दो की विशाल सैन्य शक्ति से टक्कर लेने का सिकन्दर के सेनानियों को साहस न हुआ और वे उत्तरी भारत मे ही उछल कूद मचाकर भारत से कूच कर गये।

नन्दों के पतन का मुख्य कारण उनके प्रति जनता में असन्तोष की भावना थी। नन्दों ने पुराने धार्मिक और सामाजिक नियमों का उल्लंघन किया इससे विप्रवर्ग उनसे असन्तुष्ट था। क्षत्रिय राजवंशों का उच्छेद किया गया इसलिये क्षत्रिय वर्ग भी नन्दो से खुश न था। नन्दो की सैनिक नीति उग्र और आर्थिक नीति लोभ पर आधारित थी, अतः जनसाधारण में भावना उनके प्रतिकूल रही और यही उनके पतन का प्रधान कारण बनी। उनकी दूषित नीतियों ने उनके अनेक शत्रु उत्पन्न कर दिये। शत्रुओं ने नन्दों को पराजित कर मृत्यु के मुँह में ढकेल दिया और इस प्रकार नंदवंश का दुःखद अन्त हो गया।

शिशुनाग नन्दकाल में भारत की दशा—

बौद्ध जातकों से तत्कालीन सामाजिक अवस्था का परिज्ञान होता है। जातकों मे ऐसी कथाएँ हैं जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाया गया है। जाति प्रथा उस समय कठोर न हुई थी। उनमे आपस में वैवाहिक सम्बन्ध भी हो जाते थे। क्षत्रियो को राजन्य कहते थे। राजन्य, ब्राह्मण और सेट्ठी ही आपस मे मित्रता करते, एक ही अध्यापक के पास अपने पुत्रों को भेजते, एक साथ भोजन करते तथा वैवाहिक सम्बन्ध करते दिखाये गये हैं।

चाण्डाल लोग नगर के बाहर रहते थे। उनके मलिन और हीन संस्कारों के कारण वे जनसमूह से अलहदा ही रक्खे जाते थे। स्त्रियों की दशा बहुत उन्नत न थी। भगवान बुद्ध ने स्त्रियों के संघ मे प्रवेश पर निषेध लगाया था जो उन्होंने अपने शिष्य आनन्द के कहने पर कुछ शिथिल कर दिया था।

बौद्ध साहित्य में अथवा जातकों में भारत की आर्थिक दशा का भी अच्छा बोध होता है। उस समय भी भारत की जनता कृषि प्रधान थी। कृषि ही लोगों का मुख्य व्यवसाय था। तीस से एक हजार कुलों तक के ग्राम हुआ करते थे। घर पास पास होते थे और उनके चारों ओर एक दीवार होती थी जिसे ग्राम द्वार कहते थे। दीवार के बाहर खेत होते थे। खेत प्रायः छोटे-छोटे होते थे। कृषक ही खेतों के स्वामी होते थे। वे अपना काम चलाने को भृत्यों को सवेतन रखते थे। वेतन स्वरूप भृत्यों को मुद्रा और भोजन दिया जाता था। उपज का छठे से बारहवें भाग तक राज्य को कर के रूप मे दिया जाता था। यद्यपि मुख्य पैदावार चावल (धान्य) थी सात अन्य अनाजों के नामों का भी उल्लेख मिलता है। फल फूल और शाक भाजी आदि भी उगाये जाते थे। ग्राम के खेतों की सीमा पर चारागाह होते थे जहाँ ग्राम के पशुओं को दिन मे गोपालक चराकर सन्ध्या समय पशुओं के विभिन्न स्वामियों को लौटा देते थे।

ग्रामों के प्रबन्ध की भी सुन्दर व्यवस्था थी। कृषकों का मुखिया ग्राम भोजक कहलाता था। ग्राम सभा ग्राम के कल्याण और उन्नति पर विचार करती थी तथा उसके निमित्त योजना बनाती थी। सभागारों, विश्राम गृहों, जलाशयों और सड़कों आदि का निर्माण ग्राम सभा के प्रस्तावों के अनुसार होता था। श्रम कार्य मे प्रत्येक ग्रामवासी योगदान करना अपना गौरव समझता था, यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी अपनी शक्ति के अनुसार सार्वजनिक निर्माण के कार्य मे योग देती थीं।

ग्रामों से उच्चतर श्रेणी कस्बों की होती थी जिन्हे उस काल मे निगम कहते थे। नगरों का भी बौद्ध जातकों मे प्रचुर उल्लेख है। मगध की राजधानी राजगृह, अंग की राजधानी चम्पा, काशी की राजधानी वाराणसी, वत्स की राजधानी कौशाम्बी और कोशल के मुख्य नगर सावत्थी (श्रावस्ती) और साकेत के नाम विशेष रूप से आये हैं। साकेत या तो अयोध्या के पास कोई और नगर था अथवा अयोध्या का दूसरा नाम ही साकेत था। एक और प्रसिद्ध नगर तक्षशिला का भी उल्लेख है जो कि समस्त उत्तर भारत की विद्या का केन्द्र था और जिसमें पाणिनि जैसे वैयाकरण और जीवक जैसे वैद्य ने

शिक्षा पाई थी। तक्षशिला गान्धार की राजधानी थी। अन्य प्रसिद्ध नगरों के नाम विभिन्न गणराज्यों की राजधानियो के रूप मे थे। मद्र की राजधानी शाकल, शूरसेन की मथुरा, मल्लो की कुशीनगर विदेहों की मिथिला और लिच्छवियो की वैशाली आदि नगरो की गणना भी उच्चकोटि के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक केन्द्रो के रूप में की जाती थी।

नगरो में मकानों में जीनो और खम्भों में पत्थर और अधिक्तर ईंट लकड़ी का प्रयोग होता था। चिनाई मे बढिया चूने का उपयोग होता था। जातकों मे सतमंजिले प्रासादों का उल्लेख है। राजाओं के भवन भव्य होते थे। पलस्तर पर चित्र बहुतायत से बनाये जाते थे। नगरों के पास ही उपवन होते थे जैसे साकेत का अंजन वन, श्रावस्ती का जेत वन और राजगृह का वेणु वन।

शोध सूत्र—

हर्यङ्क वश और शिशुनाग वंश के राजाओं तथा उनके राज्यकाल के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियां इतिहास ग्रन्थों में पाई जाती हैं। एक-एक व्यक्ति के मिलते-जुलते कई-कई नामों ने यह भ्रान्तियां उत्पन्न कर दी हैं। मगध राज्य के अन्तिम बार्हद्रथ राजा को किसी इतिहासकार ने रिपुंजय लिखा है तो किसी ने अरिंजय यद्यपि शब्दार्थ दोनों का एक ही है। प्राचीन इतिहास काव्यगत होने के कारण बहुधा एक ही नाम का प्रयोग अनेक शब्दार्थों में किया गया है। इसी प्रकार बिम्बिसार के पिता को भट्टिय, क्षेमजित् और क्षत्रौजा तीन नाम दिये गये हैं। भट्टिय के पिता को एक स्थान पर क्षेत्रवर्मा लिखा है तो दूसरे स्थान पर क्षेत्रधर्म लिखा है। नन्दिवर्द्धन और महानन्दी इन दो नामों ने तो हर्यङ्क, शिशुनाग और नन्दवंशी राजाओं के नामो और राज्यकाल सम्बन्धी इतनी गड़बड़ पैदा कर दी है जिसका वर्णन करना कठिन है। इसी प्रकार दर्शक को किसी इतिहासकार ने अजातशत्रु का बडा भाई और किसी ने उसका पुत्र बता दिया है। शिशुनाग को नन्दिवर्द्धन, उसके पुत्र काकवर्ण को महानन्दी कहा गया है। अनेक इतिहासकारों ने महापद्मनन्द को महानन्दी कहा है।

हमने दर्शक को बिम्बिसार का बडा पुत्र माना है। दर्शक ने बिम्बिसार के जीवनकाल में ही २४ वर्ष तक राज-काज का संचालन किया था। बिम्बिसार के २८ वर्ष और दर्शक के २४ वर्ष मिलाकर बिम्बिसार के राज्य के ५२ वर्ष हो जाते हैं। बिम्बिसार को १५ वर्ष की अवस्था में राज्य-पद प्राप्त हुआ और ६७ वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु हुई अर्थात् उनका

राज्यकाल ५२ वर्ष रहा। कुछ इतिहासकारों ने दर्शक को अजातशत्रु का पुत्र माना है जब कि उसका पुत्र उदायी था। महापद्मनन्द हर्यङ्कवंशी राजा महानन्दी का शूद्रा से उत्पन्न पुत्र था। महानन्दी हर्यङ्कवश का अन्तिम राजा था। कुछ इतिहास ग्रन्थों मे हर्यङ्कवश के अन्तिम राजा का नाम नागदासक बताया है। इसी नागदासक को अपदस्थ करके प्रजाजनो और मन्त्रियों ने शिशुनाग का विधिवत् अभिषेक किया था।

सक्षेप मे हमने हर्यङ्कवश के राजाओ और उनके राज्यकाल का तिथि-क्रम इस प्रकार निश्चित किया है—

(१) क्षेत्रवर्मा	५०६—४८६	वि० पू०
(२) क्षेमजित् (भट्टिय)	४८६—४६५	,,
(३) बिम्बिसार	४६५—४३७	,,
(४) अजातशत्रु	४३७—४१२	,,
(५) दर्शक	४१२—३८८	,,
(६) उदायी	३८८—३५५	,,
(७) नन्दिवर्द्धन	३५५—३५३	,,
(८) महानन्दी	३५३—३५०	,,

हर्यङ्कवश के उपरान्त शिशुनाग और नन्दवशो का तिथिक्रम ३५० वि. पू. से २६० वि. पू. इस प्रकार है—

(१) शिशुनाग	३५० से ३३६	वि. पू
(२) काकवर्ण अथवा कालाशोक	३३६ से ३००	,,
(३) महापद्मनन्द	३०० से २७२	,,
(४) नवनन्द	२७२ से २६०	,,

एक इतिहास ग्रथ में हमने इन राजवंशो का राज्यक्रम इस प्रकार देखा है—

(१) शिशुनाग	६०३—५६३	वि. पू.
(२) काकवर्ण	५६३—५२७	,,
(३) क्षेत्रधर्म	५२७—४६१	,,
(४) क्षत्रोजा	४६१—४६७	,,
(५) बिम्बिसार	४६७—४३६	,,
(६) अजातशत्रु	४३६—४१२	,,
(७) दर्शक	४१२—३८८	,,
(८) उदय	३८८—३५५	,,

(९) महानन्द ३५५—२६७ वि. पू.
(१०) सुमाली आदि २६७—२५० ,,
(११) चन्द्रगुप्त मौर्य २५०—२३१ ,,

इस क्रम से विदित होता है कि शिशुनाग वंश का उदय हर्यङ्क वंश से भी पहले हुआ जो कि हास्यास्पद है। इस क्रम में दर्शक को अजातशत्रु का पुत्र दर्शाया गया है जो पुनः एक असम्भव घटना है। विम्बिसार के पिता क्षत्रौजा दिखाये गये हैं जो कि क्षेत्रजित् का ही दूसरा नाम है। क्रम में नवाँ व्यक्ति महानन्द और कोई नही महापद्मनन्द है परन्तु इसका राज्यकाल ७८ वर्ष तक दिखाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यकाल के स्थान पर महापद्मनन्द की पूरी अवस्था का काल ही लिख दिया गया है।

भारत पर यूनानी आक्रमण

सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण क्यो किया ? इसे जानने के लिए हमें तत्कालीन पश्चिमी इतिहास पर दृष्टिपात करना होगा। असीरिया के साम्राज्य ने आर्यों का दक्षिण की ओर बढ़ाव रोक दिया था वे उत्तर और पूर्व की ओर बस गये थे। उत्तर की ओर बसने वाले आर्य मेदी (Medes) और पूर्व की ओर बसने वाले ईरानी कहलाये। मेदियो ने चाल्डियनो की सहायता से असीरिया के साम्राज्य को उखाड़ फेंका और वे आरम्भ मे ईरानियो से अधिक शक्तिशाली थे।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे मेदियों और ईरानियो में दो महान व्यक्ति हुए (१) जोरास्टर, (२) कुरु (Cyrus)। जोरास्टर मेदी था। उसने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसका आशय था कि यथार्थता द्वैत है, भलाई और बुराई का संघर्ष है, मित्रस् के साथ अहुरमज्दा का अहुरियन् से संघर्ष है। जोरास्टर ने अपना धर्म मेदियो में फैलाया परन्तु उन्होने और विशेषतया राजा और उसके सामन्तों ने उसकी ओर ध्यान न दिया। अतः जोरास्टर मेदियो मे अपने धर्म की अधिक सफलता न देख कर ईरान चला गया था। उसे ईरानियों से अपने मत के विषय में यह जानना था कि वे उसे कहाँ तक पसन्द करते हैं। ईरान मे कुरु बड़ा विवेकशील और महत्वाकांक्षी शासक था। वह ईरानियों और मेदियो को मिला कर एक ऐसा सुदृढ राष्ट्र बनाना चाहता था जिसका कोई मुकाबिला न कर सके। मेदियो और ईरानियों में बहुत सी बातें सामान्य थी। उसने जोरास्टर द्वारा प्रतिपादित धर्म को मेदियो और ईरानियो के मिलाने का एक महान साधन समझा।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे विश्वभर में धार्मिक सुधारणा की लहर दौड गई। भारत मे महात्मा बुद्ध एक नये धर्म की स्थापना कर रहे थे। यहूदियो ने जहोवा को विश्व का देवता मानने का प्रचार किया। थेल्स ने एशिया माइनर मे पाश्चात्य दर्शन का उद्घाटन किया। चीन के सबसे बडे धार्मिक नेता और दार्शनिक के रूप में लाओत्से और कनफ्यूसियस इसी काल मे हुए। ईरान में जोरास्टर ने उस धर्म की स्थापना की जो बहुत काल तक रहा और आज तक भारत के पारसियो मे विद्यमान है।

अब ईरानियो (आर्यों) मे साम्राज्य-स्थापना की महत्वाकांक्षा का उदय हुआ। कुरु ने बहुत शीघ्र मेदियो और ईरानियो को मिला कर एक राष्ट्र कायम किया। फिर उसने समीपवर्ती लीडिया के राज्य पर चढाई करके उसे अपने राज्य मे मिला लिया। लीडिया का राजा ससार का सबसे बडा धनी राजा समझा जाता था। इसके बाद कुरु ने अपनी नजर बैबिलोनियां की ओर उठाई। बैबिलोनियां का साम्राज्य उस समय बडा शक्तिशाली था। वहाँ का तत्कालीन शासक साहित्यिक और सास्कृतिक दृष्टि से तो महान था परन्तु उसमे अपने साम्राज्य को कायम रखने की राजनीतिक क्षमता न थी। फलतः कुरु शीघ्र ही बैबीलोनियां के साम्राज्य का भी स्वामी हो गया। अब कुरु की अधीनता में एक महान साम्राज्य हो गया।

इस महान साम्राज्य का आधिपत्य प्राप्त करके ईरानियो को उसे अब सभ्य और सुसस्कृत बनाना था। बैबीलोनियां की सभ्यता और सस्कृति उनको विरासत मे मिली थी। सम्राट कुरु ने अपने साम्राज्य का विस्तार भारत की ओर भी करना चाहा। उसने ५५० ई० पूर्व के लगभग मकरान के मार्ग से भारत पर आक्रमण कर दिया। सिन्ध के राज्यों की ओर से उसे कड़े प्रतिरोध का सामना करना पडा जिसके परिणाम स्वरूप उसे वापिस लौटने को बाध्य होना पड़ा। दूसरी बार उसने पुनः काबुलघाटी के मार्ग से आक्रमण किया तथा कपिशा नगरी को नष्ट करके अश्वको और पक्थो के गणतन्त्रो को पराजित किया। यूनानी इतिहासकार स्ट्रैबो के अनुसार अश्वक और पक्थ गणराज्य सम्राट कुरु के करदाता थे। ऐसा प्रतीत होता है कि क्षुद्रक गण भी सम्राट कुरु के अधीन हो गये थे।

सम्राट कुरु के बाद उसके पुत्र काम्बुजी ने मिश्र पर आक्रमण कर उसे अपने साम्राज्य मे मिला लिया था। इस वश के सम्राट डेरियस या दारयवहु के समय मे ईरानी साम्राज्य उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच गया था। दारयवहु के राज्यकाल मे भारतवर्ष पर भी ईरानी आक्रमण हुआ। गधार

कम्बोज, पश्चिमी पंजाब और पूरे सिन्ध पर ईरानियों का आधिपत्य हो गया। भारत में जीने हुए ये प्रदेश सम्राट दारयवहु के इक्कीस प्रान्तों में से एक प्रान्त के अन्तर्गत थे। जिस प्रकार ईरानी साम्राज्य के २१ प्रान्तों में प्रत्येक एक क्षत्रप द्वारा शासित होता था उसी प्रकार भारतीय प्रदेश भी एक प्रान्त के अन्तर्गत एक क्षत्रप के अधीन था। ईरानी साम्राज्य का भारतीय प्रान्त उसके अन्य सब प्रान्तो की अपेक्षा अधिक समृद्ध था। प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार हीरोडोटस के अनुसार इस प्रान्त से दस लाख सुवर्ण मुद्रा के लगभग वार्षिक कर ईरान के राज्यकोप को प्राप्त होता था। इससे प्रतीत होता है कि उस समय ये प्रदेश बड़े समृद्धिशाली थे।

दारयवहु (डेरियस) के राज्य की उत्तरी सीमाओ पर सीथियनों के बराबर आक्रमण होते रहते थे। वह इन दलो से बड़ा परेशान था। उसके जासूसो ने खबर दी कि इन दलों का उत्पत्ति स्थान कास्पियन सागर का निकटवर्ती प्रदेश है। डेरियस ने सोचा कि इन आक्रामकों का दमन उनके घर पर ही किया जाय। परन्तु अपने इस प्रयास में उसे यूनानियों से संघर्ष मे आना पडा। वस्तुत: यूनानियो की उत्पत्ति भी भारतीय आर्यवंशो से हुई थी। अर्थात् वे भी आर्य जाति के ही थे।

यूनानियों का भी एक तन्त्र था। उनके देवी देवता भी थे। वे बौद्धों की तरह दुःख और निर्वाण की चिन्ताओं मे ग्रसित न थे। वे जीवन की वास्तविकता और यथार्थता की ओर उन्मुख थे। इनके कई सभ्य और समुन्नत राष्ट्र थे परन्तु उनमें अधिकांश गणराज्य (नगर–राष्ट्र) थे। यूनानी लोग नगरों मे रहना पसन्द करते थे। उनमें व्यक्ति को विचारों की स्वतन्त्रता थी। सुकरात, प्लेटो, अरस्तू (एरिस्टॉटिल) आदि उनके दार्शनिक नेता थे। पैथागोरस भी जो पुनर्जन्म के भारतीय सिद्धान्त को मानता था यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक था।

यूनानी लोग संगीत और खेलों के प्रेमी थे। जगद्विख्यात ओलम्पिक खेलो की स्थापना ईसा पूर्व ८ वी शताब्दी में ही हो गई थी। यूनानियो के ऐथेन्स और स्पार्टा दो महत्वपूर्ण नगर थे। ऐथैन्स मे गणतन्त्र और स्पार्टा में राज्यतन्त्र का विकास हुआ। ऐथैन्स की प्रजातन्त्र-पद्धति आधुनिक बहुत सी पाश्चात्य प्रजातन्त्र पद्धतियो की जननी है। आधुनिक पाश्चात्य गणतन्त्रात्मक पद्धतियों ने अत्यन्त प्राचीन यूनानी प्रजातन्त्र पद्धति से प्रेरणायें ली हैं।

डेरियस की सेनाओं ने जब योरपीय प्रदेशो की सीमाओं पर अपना पग रखा तो यूनानियों ने इसे अपनी प्रभुसत्ता को चुनौती समझा और प्रतिरोध

करने का निर्णय लिया। परन्तु डेरियस ने उनके विरोध की उपेक्षा की और अपनी सेनाओं को आगे बढ़ने का आदेश दिया। उसकी सेनाएँ डैन्यूब पार करके सीथियनों से भिड़ने के लिए आगे बढ़ी। परन्तु सीथियनों ने उसकी सेनाओं से कहीं भी मैदानी लड़ाई नहीं लड़ी। वे छुटपुट युद्ध करते, लूटमार और हत्याएँ करके जंगलों में भाग जाते। आक्रमण करके वे ऐसे स्थानों में जाकर छिप जाते जहाँ ईरानी पहुँच ही न सकते। निदान डेरियस ने उनका पीछा छोड़ दिया और यूनानियों से भिड़ने के लिये कुछ सेनाएं मैसिडोनियाँ और थ्रेस में छोड़ दी। उसने यूनानी बेड़े से टक्कर लेने के लिए फिनीशियनों का एक समुद्री बेडा भी तैयार किया। भिड़न्त हुई परन्तु यूनानियों ने फिनी-शियन बेड़े को तबाह कर दिया। फलतः डेरियस को अपनी सेनाएँ वापिस बुलानी पड़ी। इस अभियान में उसको काफी क्षति उठानी पडी। यूनानी कुशल नाविक थे, राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत यूनानी नाविकों ने चाँदी के टुकड़ों के लिए लडाई में उतरने वाले फिनीशियन नाविकों पर बड़ी शानदार विजय प्राप्त की।

इस घटना के उपरान्त डेरियस ने इस प्रयास को छोड दिया और अपने विशाल साम्राज्य की व्यवस्था की ओर ध्यान दिया। उस समय उसका साम्राज्य डैन्यूब से इन्डस और लीबिया से मध्य एशिया तक फैला हुआ था और पाश्चात्य ऐतिहासिकों के मतानुसार उसका यह साम्राज्य उस समय से पूर्व इतिहास गत सभी साम्राज्यों से बड़ा था। डेरियस एक महान् सेनापति संगठन कर्ता और विद्वानों का आश्रयदाता था।

डेरियस के पुत्र एवं उत्तराधिकारी क्षहयार्ष ने यूनानियों से युद्ध जारी रखने का निश्चय किया। वह उनको सदा के लिए दमन कर देना चाहता था। एतदर्थ उसने एक विशाल सेना जिसमे उसके विशाल साम्राज्य के प्रत्येक भाग से आये हुए सैनिकों ने भाग लिया, तैयार की। फिनीशियन लोग संसार के सबसे अच्छे नाविक समझे जाते थे, उनका एक सुदृढ़ समुद्री बेडा भी बनाया गया। भारतवर्ष से हाथियों की एक टुकडी भी सेना की सहायतार्थ पहुँची।

इस विशाल सेना से पहिले तो यूनानी लोग भयातुर हुए परन्तु फिर उन्होंने साहस बटोर कर प्रतिरोध का ही निश्चय किया। सर्वप्रथम ईरानियों ने थेब्रीज ले लिया। ऐथैन्स निवासियों ने उसको छोड दिया और ईरानियों ने नगर को ध्वस्त कर उसमें आग लगादी। उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा कि विजयश्री ईरानियों के हाथ लग जायगी परन्तु भाग्य ने यूनानियों का साथ

दिया। समुद्री बेड़ों की भिड़न्त में फिनीशियनों ने फिर मुँह की खाई और एक बार फिर ईरानियों को उनकी वजह से मात खानी पड़ी। मुहानों के बन्द हो जाने से क्षहयार्ष की सेनाएँ कट गईं और उसने बड़ी कठिनता से अपनी सेनाओं को वहाँ से निकाला।

यद्यपि ईरानियों का यूनान पर यह अन्तिम प्रयास था तथापि उनके आक्रमणों ने यूनानियों के हृदयों मे बड़ी कटुता के भाव उत्पन्न कर दिये थे। उनमें प्रतिहिंसा और बदले की भावना जाग्रत हो गई थी। वहाँ के कवि, साहित्यकार और लेखकों ने अपनी कृतियों से इस अग्नि मे घी का काम किया। वे निरन्तर प्रतिशोध के लिए राष्ट्रीय भावनाओं को उभारते रहे। लेकिन बदला लेने का काम तो किसी ग्रीक द्वारा न होकर एक मैसिडोनियन द्वारा सम्पन्न होना था।

डेरियस के आक्रमण के समय मैसिडोनियाँ एक महत्वहीन राज्य था परन्तु फिलिप्स के अधीन वह एक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली राज्य बन गया। फिलिप्स एक बुद्धिमान् और महत्वाकांक्षी शासक था और ग्रीकों की तरह उसे बड़े साम्राज्य से घृणा न थी अपितु वह ग्रीकों और मैसिडोनियनों की सम्मिलित शक्ति से स्वयं एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने का पक्षपाती था। उसे ईरान की समृद्धि और शक्ति के प्रति ईर्ष्या थी। वह ग्रीकों की ईरानी साम्राज्य के प्रति प्रतिशोध की भावना का लाभ उठा कर ईरान के विरुद्ध एक सैनिक अभियान करना चाहता था। इसके लिये उसने अपनी सेना का पुनर्गठन किया और आक्रमण की नई पद्धति का आविष्कार किया जो मैसिडोनियन फैलैन्क्स के नाम से विख्यात हुई।

जब फिलिप्स ने अपने नेतृत्व में ईरान पर ग्रीकों की चढ़ाई का विचार किया तो ग्रीकों ने उसका उपहास किया। कारण ग्रीक लोग अपने को मैसिडोनियनों से अधिक सभ्य और सुसंस्कृत ही नहीं समझते थे अपितु उनको असभ्य और जंगली कहकर भी सम्बोधित करते थे। इस पर ईसापूर्व ३३८ में फिलिप्स ने ग्रीकों पर चढ़ाई कर दी और बहुत थोड़े युद्ध के बाद थेबीज और ऐथेन्स पर अधिकार कर लिया। निदान ग्रीकों ने फिलिप्स को अपना नेता मान लिया और फिलिप्स ने भी उनसे भाई चारे का बर्ताव किया और उनकी स्वतन्त्रता उनको लौटा दी।

जब फिलिप्स ईरान पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था तभी ई० पू० ३३६ में उसके ही किसी अधिकारी द्वारा उसकी हत्या करदी गई और

उसके बाद उसका पुत्र सिकन्दर जो उस समय केवल २० वर्ष का था उसका उत्तराधिकारी हुआ।

अपने बाल्यकाल से ही सिकन्दर ने अरिस्टोटिल को अपना गुरु माना। यद्यपि ये दोनो ही महान् थे तथापि दोनों की प्रवृत्तियाँ भिन्न थी। अरिस्टोटिल एक महान् दार्शनिक और वैज्ञानिक था जब कि सिकन्दर एक अत्यन्त साहसी और वीर सैनिक। अरिस्टोटिल नगर राष्ट्रों की प्रजातन्त्रीय प्रणाली का कट्टर समर्थक था जब कि सिकन्दर विश्व विजय और एक विशाल साम्राज्य की स्थापना के स्वप्न देख रहा था।

सिकन्दर महान्—ईसा पूर्व ३३६ में राज्यारोहण के उपरान्त सिकन्दर ने शीघ्र ही यूनानी थल सेना और जल सेना को पुनर्व्यवस्थित किया। ३३४ ई० पू० में उसने ईरान पर आक्रमण कर दिया। उस समय परशियन सम्राट दारयवहु (डेरियस) तृतीय ईरान का सम्राट था।

डेरियस तृतीय एक निर्बल एव विलास प्रिय सम्राट था। उसका ईसस मे सिकन्दर से युद्ध हुआ। उस युद्ध मे डेरियस अपने अन्तःपुर की स्त्रियो को भी लेकर चला था और जिस समय वह युद्ध से भागा अपनी माँ, स्त्रियो और पुत्रियों सभी को विजेताओ की दया पर छोड़ गया। वे सब की सब मैसिडो-नियनो के हाथ लगी। ईसस की लडाई के बाद सिकन्दर ने ईरान के समर्थकों की शक्ति को घटाना शुरू कर दिया और जिनसे उसे विरोध की आशङ्का थी उनको समाप्त कर देना ही उसने उचित समझा। सबसे बड़ा विरोध उसे फिनीशियनो से सहना पडा। उसने उनके दो प्रबल गढ टायर और सिडोन अपने अधिकार मे कर लिये और इसके बाद उनका प्रतिरोध शान्त हो गया।

फिनीशियनो से निपटने के बाद उसने मिश्र पर आक्रमण कर दिया। मिश्र के लोग कई पीढ़ियो से ईरान की दासता से क्षुब्ध थे। उन्होंने सिकन्दर को अपना मुक्तिदाता समझा और उसका शानदार स्वागत किया। जब वह मिश्र के देवता एमन के दर्शन करने गया तो मन्दिर के पुजारियो ने मिश्र देवता एमन और यूनानी देवता ज्यूस को एक ही बताया और उसी दिन से अपने देवता का नाम ज्यूस-एमन रख दिया। उन्होंने सिकन्दर को ज्यूस का पुत्र देवता कह कर गौरवान्वित किया। उसी समय से सिकन्दर अपने को देवता समझने लगा और उसकी अहम्मन्यता बहुत बढ गई। उसने अपने नाम से एलैक्जैन्डरिया नामक नगरी की स्थापना की।

इसके बाद ३३१ ई० पू० मे सिकन्दर का परशिया (ईरान) से अर-बेला में अन्तिम युद्ध हुआ। डेरियस फिर मैदान छोड़ कर भागा परन्तु इस

बार उसी के एक अधिकारी ने उसकी हत्या कर दी। अब समूचा ईरानी साम्राज्य सिकन्दर के चरणों पर लोट गया। ईरान की शान शौकत ने सिकन्दर के मन पर बड़ा प्रभाव डाला। वह अपनी महान् सैनिक उपलब्धियों से इतना प्रभावित न हुआ जितना कि ईरान के राजसी ठाठ के जीवन से तथा वहाँ की सुन्दरियो से। उसने रौक्साना नाम की एक बैक्ट्रियन राजकुमारी से अपना विवाह किया। उसने अपने सेनाध्यक्षों और अधीनस्थ सरदारो को भी परशियन सुन्दरियो से विवाह करने की अनुमति दे दी। परन्तु वे लोग सिकन्दर की इन बातो को अधिक पसन्द न करते थे। ईरान की विजय के बाद वे लोग अपने घरों को लौट जाना चाहते थे। सिकन्दर की महत्वाकांक्षा थी कि विश्व में विजय का डंका बजाया जाय।

सिकन्दर ने बड़ी क्रूरता से विद्रोह का दमन किया। जो लोग उसकी महत्वाकाक्षा के मार्ग में बाधक हुए उन्हे समाप्त कर दिया गया। एक झोक मे उसने अपने एक विश्वास पात्र साथी क्लीटस की जिसने कि एक बार उसकी प्राणरक्षा की थी हत्या करवादी। उसका स्वभाव क्रूर और निरंकुश हो चला था। वह समझता था कि वह कभी भूल नही कर सकता था कारण वह तो स्वयं देवता स्वरूप है। विश्व-विजय के स्वप्न देखते हुए उसने अपनी सेनाओ को भारत की ओर बढने की आज्ञा देदी।

सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत का पश्चिमोत्तर प्रदेश अनेक गणराज्यो में विभाजित था। उनमें पारस्परिक सौहार्द न था और वे सदैव संघर्षरत रहते थे। इसी कारण से सिकन्दर को सम्मिलित शक्ति का सामना नही करना पड़ा। कुछ स्वार्थी और देशद्रोही राज्यों ने सिकन्दर को भारत पर चढ़ाई करने का निमन्त्रण भी दिया था। हिन्दूकुश के उत्तर में एक राज्य का अधिपति शशिगुप्त नाम का व्यक्ति था। वह ईरानी साम्राज्य के साथ सिकन्दर से युद्ध मे लड़ा था और हार जाने पर सिकन्दर का मित्र बन गया था। शशिगुप्त ने सिकन्दर की भारतीय आक्रमण मे सहायता की। इसी प्रकार तक्षशिला के राजकुमार आम्भि ने तो पहिले से ही सिकन्दर को भारत आने का निमन्त्रण भेज रक्खा था कारण उसकी केकयराज पुरु से पुरानी शत्रुता थी और वह पुरु को नीचा दिखाना चाहता था।

परन्तु सिकन्दर भारत मे प्रवेश करके तक्षशिला का आतिथ्य तब तक स्वीकार नही कर सकता था जब तक कि वह कपिशा और तक्षशिला के बीच मे बसी हुई वीर जातियों को अपने अधीनस्थ न करले। इन जातियों ने सिकन्दर का डट कर विरोध किया। सबसे पहिले उसे अश्वको और गौरों से

युद्ध करना पड़ा। इन दोनो के पराजित होने के उपरान्त नीसा नाम की जाति के लोगो ने थोडा प्रतिरोध करके सिकन्दर की अधीनता स्वीकार करली। इसके आगे सिकन्दर को मसग राज्य के अश्वाहकों से बड़ा भीषण युद्ध करना पडा। उनमे से जब तक एक भी आदमी जीवित रहा उन्होंने आत्म समर्पण न किया। इस भीषण युद्ध में बड़ा नर सहार हुआ। इसके बाद पश्चिमी गांधार के हस्ति नामक राजा ने सिकन्दर के अभियान को एक महीने तक मार्ग मे ही रोक लिया। शशिगुप्त और राजकुमार आम्भि की सहायता से सिकन्दर ने सिंधु पार की और तक्षशिला पहुँचा। यहाँ तक के जीते हुए प्रदेश पर उसने शशिगुप्त को अपना क्षत्रप नियुक्त किया।

तक्षशिला पहुँच कर सिकन्दर ने राजकुमार आम्भि का आतिथ्य स्वीकार किया और केकयराज पुरु के पास दूत भेज कर अपनी अधीनता स्वीकार करने को कहलवाया। पुरु ने उत्तर दिया कि वह तो रणभूमि मे ही उसका स्वागत करेगा। सिकन्दर तो यह पहिले से ही जानता था। उसने अपने मित्रो की सेनाओ के साथ अपनी सेना को झेलम नदी के पश्चिमी किनारे पर लगा दिया। उधर पुरु भी अपने मित्र अभिसार के राजा की सेना के साथ अपनी सेनाऐं लेकर झेलम के पूर्वी किनारे पर आ डटा। महीनो तक दोनो ओर की सेनाऐं झेलम के दोनो किनारो पर आमने सामने पडी रहीं। किसी का एक दूसरे पर आक्रमण करने का साहस न हुआ। सर यदुनाथ सरकार ने इस युद्ध की रणनीति का बड़े रोमांचकारी शब्दो मे वर्णन किया है। सिकन्दर युद्धो मे दुःसाहस के कार्य करने का आदी हो गया था। एक दिन रात को आँधी और वर्षा के अन्धकार मे वह अपनी सेना के एक बड़े भाग को बीस मील दूर ऐसे स्थान पर ले गया जहाँ से वह शत्रु को बिना मालूम हुए सिंधु पार कर सकता था। उसी रात्रि को उसकी सेना सिंधु पार करके पुरु की सेनाओ के समीप जा डटी।

पुरु के पास हाथियो और रथों से सुसज्जित एक अपार पदाति सेना थी। उसके सैनिक धनुष-बाण से लडने मे बडे कुशल थे। परन्तु दुर्भाग्य यह हुआ कि वर्षा के कारण भूमि मे कीचड हो जाने से रथ और हाथी करीब-करीब बेकार हो गये। लम्बे धनुषों से उनको भूमि पर रख कर बाण चलाये जाते थे। कीचड के कारण धनुषों के प्रयोग मे बडी बाधा उपस्थित हुई। सिकन्दर के विशाल बल्लमधारी धनुर्धर घुडसवारों ने बड़े जोर का आक्रमण किया। दुपहर तक भारतीय सेना ने बडी वीरता से युद्ध किया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि सिकन्दर की सेनाऐं पराजित हो जांयगी। परन्तु इसी

बीच में बाणों और भालों से घायल हाथी क्रुद्ध होकर उन्मत्त हो गये, वे पीछे लौट कर अपनी सेना को ही कुचलने लगे। इस दुर्घटना से पुरु की सेना मे भगदड़ मच गई। परन्तु पुरु डेरियस की तरह मैदान छोड़ कर नही भागा और रणक्षेत्र के बीच में हाथी पर बैठा हुआ सेना का नेतृत्व करता रहा। पराजित होने पर पुरु को सिकन्दर के समीप बन्दी के रूप में खड़ा किया गया। सिकन्दर ने उससे पूछा, "तुम्हारे साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाना उचित है।" उसने उत्तर दिया, "जिस प्रकार एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है।" सिकन्दर पुरु के स्वाभिमान से बहुत प्रभावित हुआ और उसने पुरु का राज्य उसे लौटाकर उससे मित्रता कर ली। सिकन्दर के भावी सैनिक अभियानो में पुरु ने उसकी बड़ी सहायता की।

पुरु से सन्धि हो जाने के बाद सिकन्दर ने दो नये नगर बसाये। एक तो अपने अश्व बाउकेफला के नाम पर जो भारत मे ही मृत्यु को प्राप्त हुआ और दूसरा विजयदेवी के नाम से अपनी विजय के उपलक्ष मे। इसके बाद सिकन्दर को ग्लुचकायन, अद्रिज और कठ नाम की जातियों के गणराज्यो से युद्ध करना पड़ा। ग्लुचकायनों की पराजय हुई और उनके ३६ नगर सिकन्दर के आधिपत्य मे चले गये। अद्रिजों की राजधानी पिम्प्रामा पर सिकन्दर का अधिकार हो गया। सब से कठिन सामना उसे कठों से करना पड़ा। कठो ने अपनी राजधानी साकल के चारो ओर रथों का ऐसा घेरा बना लिया था जिसका भेदन सिकन्दर द्वारा सम्भव न हो सका। पुरु की सहायता से सिकन्दर ने कठों पर भी विजय प्राप्त की और उनकी राजधानी साकल का ध्वंस कर दिया।

सिकन्दर को थोडे से भारतीय क्षेत्र पर विजय तो प्राप्त हुई परन्तु उसे वह बडी मँहगी पड़ी। पश्चिमी एशिया, मिश्र, ईरान और बलख पर तो उसने बड़ी सुगमता से विजय प्राप्त की थी परन्तु भारत मे उसे एक-एक इंच पर लड़ना पडा था। अश्वकों का विरोध, एक महीने तक हस्ति द्वारा रोका जाना, पुरु का लोमहर्षक युद्ध और आखिरी बार कठो का प्रतिरोध सभी घटनायें ऐसी थी जिनसे उसके सैनिक क्षुब्ध थे और भारतीय उपलब्धि को कोई महत्व नही देते थे। वे तो वर्षों की विदेश यात्रा के बाद घर लौटना चाहते थे। उन्होने नन्द साम्राज्य की अगणित सेना और सैन्य सामग्री के वर्णन भी सुन लिये थे। सिकन्दर अब व्यास नदी के किनारे आ पहुँचा था। उसके सैनिकों ने भारत भूमि पर आगे बढने से कतई इन्कार कर दिया। सिकन्दर ने बड़ा ओजस्वी भाषण दिया, उनकी विश्व विजयिनी वीरता का उनको स्मरण

कराया, अनेकों प्रलोभन भी दिये परन्तु वे किसी प्रकार आगे बढ़ने को सहमत न हुए। सिकन्दर बड़ा क्षुब्ध हुआ, ग्लानि के मारे वह तीन दिन तक अपने शिविर से भी न निकला। सैनिकों का आगे न बढ़ने का निर्णय अन्तिम समझ उसने उनको वापिस लौटने का आदेश दे दिया।

सिकन्दर के लौटने का दूसरा कारण उसके जीते हुए प्रदेशों में विद्रोहों का होना भी था। उसके दो क्षत्रपों (१) निकेनार, (२) शशिगुप्त की हत्या कर दी गई थी। पंजाब के अन्य गणराज्य उससे लडने की तयारी भी कर रहे थे। ठंडे देश से आने वाले यूनानियों को भारतीय उष्ण वातावरण अनुकूल नही पड रहा था।

सिकन्दर को अपनी वापसी यात्रा मे अनेक गणराज्यो से टक्कर लेनी पडी। व्यास नदी के किनारे-किनारे सिकन्दर अपने मित्र पुरु के राज्य झेलम की तरफ बढा। वहाँ पहुँच कर उसने अपने जीते हुए प्रदेश की शासन-व्यवस्था की तथा नावो के एक बड़े बेडे से झेलम नदी मे दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। सब से पहिले उसे झेलम की घाटी मे नमक की खानों के प्रदेश के राजा सौभूति से टक्कर लेनी पडी। यद्यपि उस राज्य के निवासी कठों के समान साहसी, रणकुशल और सभ्य थे ऐसा प्रतीत होता है उन्होने बहुत शीघ्र आत्मसमर्पण कर दिया। वहाँ से आगे चलकर सिकन्दर झेलम और चिनाब के पास पहुँचा। वहाँ सिकन्दर को शिवि गणराज्य का सामना करना पडा। उसके पास ४०००० पैदल सेना थी परन्तु सिकन्दर की शक्ति के आगे वे अधिक समय तक न ठहर सके और बहुत शीघ्र परास्त हुए। उसके बाद सिकन्दर को अलगस्स अथवा आग्रेय गण के लोगो से सामना करना पडा। ये हिसार जिले के अन्तर्गत अग्रोदक के निवासी थे। इन्होने बडा भयङ्कर प्रतिरोध किया। जब इन्होंने देखा कि सिकन्दर को परास्त करना कठिन है तो उन्होने नगर मे आग लगा दी और अपने स्त्री बच्चो को उसमे झोंक कर आप लड़ते-लडते वीरगति को प्राप्त हुए। इतिहास मे इस प्रकार के शौर्य का उदाहरण बहुत कम ही दृष्टिगोचर होता है।

रावी के दोनो तटो पर मालवो का गणराज्य था। वे सिकन्दर का मार्ग रोकने की तयारी कर रहे थे। उनके पड़ोसी क्षुद्रको का राज्य पूर्व में व्यास तट पर था। इन राज्यो मे परस्पर संघर्ष रहता था परन्तु विदेशी आक्रान्ता के विरोध मे उन्होंने सन्धि कर ली। एक यूनानी लेखक के अनुसार मैत्री सम्बन्धो को दृढ़ करने के लिये मालवों ने अपनी समस्त अविवाहित कुमारियो का विवाह क्षुद्रक कुमारों के साथ कर दिया और क्षुद्रकों ने भी इसी

प्रकार अपनी अविवाहित लड़कियों का विवाह मालव-युवकों के साथ कर दिया। एक कुशल क्षुद्रक के नेतृत्व में दोनों जातियो का एक संघ बन गया। यद्यपि इन गणों में कोई स्थिर सेना नहीं थी तथापि इनकी जाति का प्रत्येक पुरुष योद्धा था। जब सिकन्दर के सैनिकों को ज्ञात हुआ कि इतनी लडाई लडने के बाद भी उन्हें अभी दो अत्यन्त वीर जातियों से और लड़ना है तो वे बड़े चिन्तातुर हुए और एक बार फिर सिकन्दर के प्रति विद्रोह करने को उद्यत हो गये। परन्तु सिकन्दर के यह कहने पर कि वे स्वदेश वापिस तो जा ही रहे हैं और मार्ग मे यदि शत्रु लड़ने पर ही आमादा है तो उन्हें सिवाय युद्ध के और चारा ही क्या है वे शान्त हो गये।

सिकन्दर ने यहाँ एक चाल चली। पूर्व इसके कि क्षुद्रकों की सेना मालवों की सहायता को आवे उसने मालवों पर आक्रमण कर दिया। मालव उस अचानक वार के लिये तयार न थे। उनकी बड़ी निर्दयता से हत्या की गई। फिर भी वे बड़ी वीरता से लड़े और उसी लडाई में सिकन्दर की छाती मे एक घाव हो गया जो कि आगे जाकर उसका प्राणलेवा बना। चोट लगने पर सिकन्दर बडा क्रुद्ध हुआ और उसकी सेना ने मालव जाति के स्त्री बच्चों और पुरुषो का हजारों की संख्या में बडी निर्दयता से बध कर दिया। इसी बीच में क्षुद्रकों की अपार सेना मालवो की सहायता को आ पहुँची थी। सिकन्दर मालवों से लडते-लड़ने बहुत थक गया था। उसने क्षुद्रकों से सन्धि कर लेने में ही अपना कल्याण समझा। दोनों पक्षों में सन्धि हो गई। मालवो और क्षुद्रकों के सौ प्रमुख प्रतिनिधि सिकन्दर के समीप उपस्थित हुए। सिकन्दर ने बड़ी धूमधाम से उनका स्वागत किया। उनको बैठने के लिये सोने की कुर्सियाँ डाली गयीं और उनके स्वागत में एक बडा शानदार भोज दिया गया। क्षुद्रकों और मालवों ने कहा कि आज तक हमारी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण थी पर आज हम सिकन्दर की अधीनता स्वीकार करते हैं कारण वह तो लोकोत्तर पुरुष है।

भारतीय अनुश्रुति के आधार पर डा० जायसवाल का यह कथन है कि संस्कृत के प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थों के अनुसार क्षुद्रको ने सिकन्दर को परास्त किया था। महाभाष्य में लिखा है "एकाकिभिः क्षुद्रकैः जितम्" अर्थात् अकेले क्षुद्रको द्वारा ही सिकन्दर पराजित हुआ था। जो भी हो, सिकन्दर की क्षुद्रकों से सन्धि बड़ी सम्मानपूर्ण और समानता के स्तर पर सम्पन्न हुई थी।

इसके पश्चात् दक्षिणी पश्चिमी पंजाब के अम्वष्ठ, क्षत्तृ और वसाति नाम के गणों से भी सिकन्दर की मुठभेड़ हुई। अम्वष्ठ भी मालव क्षुद्रको के

समान वीर थे। उनकी सेना में ६० हजार पैदल ६००० अश्वारोही और ५०० रथ थे। भयङ्कर युद्ध के उपरान्त अम्बष्ठ, क्षत्रु और वसाति गण भी पराजित हुए।

इसके पश्चात् सिन्ध के मुषिक और शम्भु गणराज्यो ने बड़ी सुगमता से अधीनता स्वीकार करके सन्धि कर ली। पर सिन्ध में ब्राह्मणक जनपद के लोगों से सिकन्दर को बड़ी परेशानी हुई। उन्होने न केवल स्वयं सिकन्दर का विरोध किया वरन् समस्त राज्यो मे सिकन्दर के विरुद्ध विद्रोह करा दिया। उन्होने प्रचार किया कि विदेशी यवनो की अधीनता स्वीकार करना बड़ी लज्जा की बात है और राष्ट्रीय सम्मान के विरुद्ध है। सिकन्दर उन पर बडा क्रुद्ध हुआ। उसने अधिकाश ब्राह्मणक जनपद के निवासियो का वध करा दिया और और उनके नेताओ के शवो को जनता मे आतङ्क करने के लिए बाजारो मे लटकवा दिया।

सिन्ध मे जहाँ सिन्धु नदी दो धाराओ मे विभाजित हो जाती है वहाँ पट्टल, पातन अथवा पातान प्रस्थ नगरो की स्थिति है। वहाँ की सेना का नेतृत्व दो वश क्रमानुगत राजाओ के हाथ मे था। यह नगर उस क्षेत्र मे बसे हुए थे जहाँ आजकल हैदराबाद है। यूनानी इतिहासकारो ने वहाँ की शासन विधि की तुलना ग्रीक जनपद स्पार्टा से की है। इस राज्य के निवासियो ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार न की और अपने नगर को छोड़ कर अन्यत्र चले गये।

सिकन्दर तो अपना अभियान जारी रखना चाहता था और गङ्गा के मैदानो मे उतरना चाहता था परन्तु भारतीय युद्ध के अपने कटु अनुभवो के आधार पर उसके सैनिक न माने जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। सन् ३२५ ई० पू० मे उसने सिन्धु के मुहाने पर पहुँच कर अपनी जन्मभूमि को प्रस्थान कर दिया। उसकी सेना का कुछ भाग निआर्कस के नेतृत्व मे समुद्र मार्ग से पश्चिम की ओर चला। दूसरा भाग थल मार्ग से मकरान होकर बेबीलोन की तरफ चला। ईरान पहुँच कर सिकन्दर को ईरान के राजभवनो, नगरो और ईरानी सुन्दरियो के आकर्षण ने फिर रोक लिया। उसने दो परशियन सुन्दरियो से शादी की। उसने परशिया मे ही बस जाने का निश्चय किया। वह चाहता था कि परशियन और ग्रीक लोगो का एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाया जाय और एक नया धर्म चालू किया जाय जिसका कि वह खुद मसीहा हो। परन्तु भाग्य ने कुछ और ही निर्णय किया था। वह युद्ध के घावों से घायल और रास्ते के श्रम से थका हुआ था। उसे भीषण ज्वर

आया। असंयमी तो वह था ही। ज्वर में ही वह मद्यपान करता रहा। परिणाम यह हुआ कि विश्व का वह महान विजेता ३२ वर्ष की युवावस्था में ही स्वदेश पहुँचने के पहिले ही इस संसार से चल बसा।

सिकन्दर भारत की भूमि पर १६ महीने रहा। इस कालावधि में उसे निरन्तर युद्धरत रहना पड़ा। युद्ध करते रहनेकी दृष्टि से यह समय बहुत काफी है। इतनी लम्बी अवधि में विश्व विजेता सिकन्दर भारत के केवल पश्चिमोत्तर छोर को स्पर्श कर पाया। भारत का हृदय तो उससे बिलकुल अछूता ही रहा। एक-एक गणराज्य ने उसके सैनिकों को नाकों चने चबा दिये। यदि इन गणराज्यों की सख्या का आधा भाग भी सम्मिलित शक्ति से सिकन्दर का मुकाबला करता तो परिणाम कुछ और ही होता। परन्तु सिकन्दर के भाग्य में तो अपने सैनिक अभियानों की सफलता के कारण महान कहलाना लिखा था। भारतीयो की वीरता मे तो कोई सन्देह ही नही रहा, सगठन शक्ति का अभाव और पारस्परिक कलह ने उनको पराजय का मुँह दिखाया।

सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर कोई स्थायी प्रभाव न पड़ा। उसके फलस्वरूप भारत का केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश, पश्चिमी पंजाब और सिन्ध ही प्रभावित हुए। यूनानी सत्ता यहाँ क्षत्रपीय व्यवस्था के रूप से स्थापित हुई। लेकिन सिकन्दर की मृत्यु के बाद वह फौरन ही नष्ट हो गई। सिकन्दर ने कई स्कन्धावार, उपनिवेश और नगरो की स्थापना की थी। सिकन्दर के आक्रमण से उत्तरी प्रदेश की सैनिक कमजोरी प्रकट हुई। यूनानी आक्रमण ने यह भली भाँति सिद्ध कर दिया कि कई भागो मे विभक्त देश के छोटे छोटे राज्य विदेशी शक्ति का सामना करने में असमर्थ हैं और विदेशी आक्रमण को रोकने के लिए भारतीय एकता और केन्द्रीय सुदृढ़ शासन की आवश्यकता है।

भारत और मध्यएशिया में यातायात तथा व्यापार की वृद्धि हुई। यों तो भारत और यूनान में पहिले से आवगमन था तथा समुद्री और स्थल मार्ग से व्यापारी और यात्री आते जाते रहते थे, मध्यएशिया मे यूनानी साम्राज्य स्थापित होने से इसमे और भी उन्नति हुई।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव बहुत कम पड़ा। इसका पहला कारण यह है कि सिकन्दर और उसके क्षपत्र यहाँ बहुत थोडे दिन रहे और दूसरा यह है कि भारतीय सस्कृति पहिले ही यूनानी संस्कृति से अधिक विकसित और समुन्नत थी। उसे यूनानियों को देने लिये सब कुछ था, लेने के लिये कुछ नही।

बौद्ध धर्म और उसका प्रचार

ईसा से छठी सातवी सदी पूर्व महाभारत के युद्ध के बाद भारत में एक नये आन्दोलन का समारम्भ हुआ। ये आन्दोलन भारतीय जनमानस पर तीव्र प्रतिक्रियाओ के फल स्वरूप था। ये प्रतिक्रियायें प्रचलित वैदिक धर्म और उसके विभिन्न अनुष्ठानो के प्रति थी। भारतीय इतिहास मे इस युग को बौद्ध युग कहा गया है।

इस युग मे लोग वैदिक प्रक्रियाओ को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे, याज्ञिक अनुष्ठानों के प्रति उन्हे अरुचि होने लगी थी। तर्क और बुद्धि का आश्रय लेकर लोग नये धार्मिक आन्दोलनो पर विचार करने लगे। धर्म के नये स्वरूपो का उदय हुआ और उनमे लोगो की रुचि बढ़ने लगी।

'भारत का प्राचीन इतिहास' नामक अपनी पुस्तक मे डा० सत्यकेतु विद्यालङ्कार ने इस समय की स्थिति का निम्नलिखित शब्दो में बड़ा सुन्दर दिग्दर्शन किया है। "प्राचीन आर्य ईश्वर के रूप मे एक सर्वोच्च शक्ति की पूजा किया करते थे। प्रकृति की भिन्न भिन्न शक्तियों मे ईश्वर के विभिन्न रूपों की कल्पना करके देवताओ के रूप मे उनकी उपासना करते थे। यज्ञ इन देवताओ की पूजा का क्रियात्मक रूप था। धीरे-धीरे यज्ञों का कर्म काण्ड अधिकाधिक जटिल होता गया। याज्ञिक लोग विविध विधानो और कर्म काण्ड को ही स्वर्ग व मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र साधन समझने लगे। प्राचीन काल मे यज्ञो का स्वरूप बहुत सरल था। बाद मे बहुत बडी संख्या में पशुओ की बलि अग्निकुण्ड मे दी जाने लगी। याज्ञिक अनुष्ठानो का विकृत व जटिल रूप भारत के बहुसंख्यक जनपदो मे प्रचलित था उसके विरुद्ध उग्र आन्दोलन का होना स्वाभाविक था। आर्यों मे स्वतन्त्र विचार की प्रवृत्ति विद्यमान थी और यही कारण हुआ कि ईसा से छठी सदी पूर्व मगध के गणराज्यों मे अनेकों ऐसे सुधारक उत्पन्न हुए जिन्होंने यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्म के विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन किया और धर्म का नया स्वरूप जनता के सम्मुख उपस्थित किया।"

इन महान् सुधारकों में अन्यो के अतिरिक्त बुद्ध और महावीर अग्रगण्य थे। यहां बुद्ध के जीवन वृत पर प्रकाश डालना अभीष्ट है।

बुद्ध के जन्म का नाम सिद्धार्थ था। आधुनिक नैपाल की सीमाओ के पास स्थित कपिलवस्तु नामक नगर मे उनका जन्म हुआ था। कपिलवस्तु शाक्य गणराज्य की राजधानी था जिसके कि राजा (गणमुख्य) शुद्धोधन थे।

शुद्धोधन की रानी महामाया की कोख से सिद्धार्थ का जन्म कुछ विवरणों के अनुसार ईसा पूर्व ५६६ और अन्य कुछ विविरणों के अनुसार ईसा पूर्व ६२४ में हुआ। जन्म की तिथि से सात दिन के भीतर महामाया की मृत्यु के रूप में एक दैवी दुर्घटना उपस्थित हो गई। महामाया की मृत्यु के बाद उसकी बहिन प्रजापति ने सिद्धार्थ का पालन पोषण किया। प्रजापति भी शुद्धोधन की दूसरी रानी थी।

शुद्धोधन की इच्छा थी कि युवराज को क्षात्र धर्म की उच्च शिक्षा प्राप्त हो और क्षत्रियोचित परम्पराओं मे दीक्षित होकर युवराज अपने राज्य की सीमाओं को बढ़ावे और अपने गण के गौरव को ऊंचा करे। परन्तु बाल्यकाल मे ही युवराज के मन पर जरा, वार्द्धक्य, मृत्यु जन्य मानसिक वेदनाओं के प्रति गहरी सवेदनशीलता थी। उसका हृदय विग्रह, दुर्घटना आदि से उत्पन्न क्लेशों से द्रवीभूत हो जाता था।

युवराज की परदुःख कातरता और दयार्द्रता का एक बड़ा मनोरंजक उदाहरण बौद्धसाहित्य में उपलब्ध है। एक दिन संध्या के सुहावने समय एक हंस उड़ता हुआ आया और चूंकि उसके तीर लगा हुआ था वह युवराज के सामने गिर गया। युवराज ने तीर को निकाल कर चिकित्सा कराई। उचित परिचर्या के फल स्वरूप वह हंस मृत्यु के मुख में जाने से बच गया। इसी बीच मे देवदत्त जिसने तीर मारा था आया और उसने अपने शिकार की मांग की। परन्तु युवराज ने आहत हंस को उसे देने से कतई इन्कार कर दिया। अपितु देवदत्त पर एक निरपराध पक्षी की हत्या के प्रयास करने के कारण फटकार भी पड़ी।

शुद्धोधन युवराज के कोमल स्वभाव को पसन्द न करते थे। एक पिता होते हुए उनकी यह इच्छा स्वभाविक ही थी कि उनका पुत्र क्षत्रियोचित धर्म को पालन करता हुआ एक महान् सम्राट बने और उनके कुल की कीर्ति को बढावे। बौद्ध साहित्य में लिखा है कि सिद्धार्थ के विषय मे ज्योतिषियों ने भविष्य वाणी की थी कि सिद्धार्थ को वृद्ध पुरुषो, रोगियो, मृतशरीरो को न देखने दिया गया तो यह चक्रवर्ती सम्राट होगा और यदि ऐसा हुआ तो वह सन्यासी हो जायगा। इसलिए शुद्धोधन ने सिद्धार्थ को ऐसे वातावरण मे रखा जहां दुःख का नाम न था, जहां उल्लास ही उल्लास था, जहां हर समय राग रग ही था। परन्तु सिद्धार्थ को उस वातावरण से उपराम हो गया। उसे उसने अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण समझा। वह राज प्रासादो से निकल कर प्रजा में आया और वहां उसने अपने चारों ओर जन जीवन को देखा। उसने देखा

कि जरा और मृत्यु स्त्री-पुरुष आबाल-वृद्ध सबको समान रूप से सताती है। सभी लोग रोग-ग्रसित होते, दुःख पाते और मरते हैं। वह प्रतिक्षण सोचता रहता कि पीड़ित मानवता का उद्धार कैसे हो और इस अनित्य संसार में लोग किस प्रकार सुखी हों। उसने यह भी निष्कर्ष निकाला कि इस समस्या के हल पर उसको सान्त्वना मिल सकती है और मानवता को भी। वह इसी का उपाय ढूँढने लगा और इसी चेष्टा में रत रहने लगा।

मानवता के दुःखों के कारण की खोज सिद्धार्थ की एक धुन हो गई। शुद्धोधन के परामर्शदाताओं की सलाह हुई कि यदि युवराज का विवाह कर दिया जाय तो शायद सांसारिक स्नेह बन्धनों में पड़ कर युवराज सही रास्ते पर आ जाय। दण्डपाणि की सुन्दर कन्या यशोधरा से उसका विवाह कर दिया गया। परन्तु विवाह से युवराज के मन पर वांछित परिवर्तन न हुआ। निस्सदेह विवाह होने के बाद कुछ दिन तक उसके चिन्तन में शिथिलता आ गई। उसके एक पुत्र भी हुआ। परन्तु जिस समय उसे पुत्रजन्म की खबर सुनाई गई तो वह यही कहता सुना गया कि उन बन्धनों में जिन्हें उसको तोड़ना है एक और बन्धन जुड गया।

समय यापन के साथ युवराज की उद्विग्नता बढती गयी। वह मानव दुख का कारण और उसका इलाज जानना ही चाहता था। वह समझता था इस खोज मे यदि उसके प्राण भी चले जाँय तो कोई विशेष हानि न होगी। उसे राज्य, स्त्री पुत्र किसी मे दिलचस्पी न रही और उसने अपने पिता से राजभवन छोड़ने तथा सांसारिक सुख ऐश्वर्य को त्यागने की अनुमति चाही। वह अपने मानसिक उद्वेग को शान्ति के लिए कुछ करना ही चाहता था। पिता ने उसके प्रस्ताव पर अपनी असहमति प्रकट की तथा पहरा और कडा कर दिया और नाचरङ्ग का दौर और अधिक बढ़ा दिया गया। परन्तु इस सबके होते हुए एक रात्रि को युवराज अपनी स्त्री और पुत्र को सोता छोड कर अपने विश्वस्त सारथी छदक की सहायता से कथक नामी अश्व पर बैठकर राजभवन से निकल गया। इस सम्बन्ध मे एक बड़ी रोमाञ्चकारी घटना का उल्लेख हुआ है। राजभवन से निकलने के बाद युवराज अपने पुत्र का अन्तिम चुम्बन लेने पुनः अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ परन्तु पुत्र तो यशोधरा की बाहों मे लिपट कर सो रहा था और यशोधरा की निद्रा भङ्ग न हो जाय इस भय से युवराज अपने पुत्र से आखिरी आलिङ्गन भी न कर सका और सदा के लिए राजपाट और गृहस्थ-सुख का परित्याग कर घर से निकल गया।

कपिलवस्तु की सीमा से निकलते ही गौतम ने सारथी को अश्वसहित वापिस कर दिया। उसने सारथी के हाथ पिता को सन्देश भेजा कि उसका

निर्णय अन्तिम है। उसने सारथी से यह भी अनुरोध किया कि वह उसके वृद्ध पिता को अधिकाधिक सान्त्वना दे और उसको धीरे-धीरे समझा दे कि गौतम का निर्णय अपरिवर्तनीय है। उसने अपने राजकीय वस्त्र उतार कर सन्यासी के काषाय वस्त्र धारण कर लिये। इस घटना को बौद्ध साहित्य में 'महाभिनिष्क्रमण' लिखा है।

तपस्वी का वेष धारण करने के बाद गौतम ज्ञान की खोज मे पण्डितों, विद्वानो और साधु-सन्यासियों से मिलने लगे। सबसे पहिले वे वैशाली मे आलार पण्डित से मिले। वहां उन्होने अनेक शास्त्रो का गम्भीर अध्ययन किया। परन्तु यथेष्ट पठन-पाठन के बाद भी उन्हें लगा कि वे जहां पहिले थे वहां ही अब भी हैं, वहां रह कर उन्हे अपने ध्येय-प्राप्ति के कोई लक्षण प्रतीत नही हुए। वे उस स्थान को छोड़कर मगध की राजधानी राजगृह पहुँचे, जहाँ उन्होंने रुद्रक से दर्शन शास्त्र का अध्ययन किया। परन्तु उनको शास्त्रार्थ और वाद-विवाद से शान्ति नही मिली। वे वहां से गया के पास निरञ्जना नदी के किनारे उरुवेल नामक बन मे पहुँचे। वहां उनकी पांच सन्यासियो से भेंट हुई।

उरुवेल पहुँचने के पहिले राजगृह मे एक महत्वपूर्ण घटना और हुई थी, उसका उल्लेख करना आवश्यक है। वहां पर सिद्धार्थ से भेंट करने सम्राट बिम्बिसार पहुँचे थे। सम्राट कदाचित् शुद्धोधन के अनुरोध पर गये थे। उन्होने गौतम को अपने वृद्ध पिता और स्वजनो के पास लौट जाने को कहा। परन्तु गौतम ने उनको समझाकर कहा कि उनका निश्चय अपरिवर्तनीय है, वे एक ऐसे ध्येय की प्राप्ति मे लगे हुए हैं जिसमे सफलता प्राप्त कर लेने पर सम्पूर्ण मानवता को लाभ होगा, उस लाभ अर्थात् उपलब्धि मे वृद्ध पिता, समस्त स्वजन तथा स्वयं आप भी भागीदार होंगे। सम्राट बिम्बिसार इस उत्तर से बड़े प्रसन्न हुए, उन्होने युवराज को अपना काम करते रहने की सलाह दे दी तथा उनसे यह भी कहा कि यदि उन्हें अपने लक्ष्य की सिद्धि हो जाय तो वे सम्राट को न भूलें।

उरुवेल के प्राकृतिक दृश्य गौतम को बहुत सुहावने लगे। उन्होने उस स्थान को तपस्या के हेतु उपयुक्त समझा। गौतम की जिज्ञासा देख कर वे पाँचो सन्यासी जो वास्तव में रुद्रक के शिष्य थे गौतम के साथ घोर तप करने की योजना बनाने लगे। उन सबने पास के एक ग्राम में घोर तप किया। गौतम धूप और मेह में खड़े रहते। उन्होने आत्मा के उत्थान के लिए शरीर को कष्ट दिया। वे एक ठठरी मात्र रह गये और ज्वराक्रान्त होकर मृत्यु

आसन्न हो गये। उन्हें अनुभव हुआ कि वे अपने ध्येय प्राप्ति के तनिक भी निकट नही पहुँचे हैं और अभी पथ-भ्रष्ट ही हैं। उन्होंने तप का त्याग किया और समीप एक नदी में स्नान किया। सुजाता नाम की स्त्री ने उनको भोजन दिया जिसको उन्होंने बड़े स्वाद से खाया। बौद्ध साहित्य मे सुजाता को एक महान् सन्त के रूप मे स्मरण करके सम्मानित किया गया है। गौतम को इस प्रकार एक शिष्या मिली, परन्तु उनके पाँच साथी उनमे छूट गये। उनके साथी गौतम को असफल समझ कर उनके तप-त्याग से असंतुष्ट हो गये थे।

अब गौतम के मन मे निराशा के भाव उठने लगे। वे सोचने लगे क्या जीवन की इस समस्या का कोई समाधान नही है। क्या उन्होंने अपना जीवन व्यर्थ ही नष्ट किया ? क्या उनके लिए यह उचित न था कि वे अपने पूर्वजों की तरह राज्य करके अपने कुलोचित धर्म का पालन करते ? लेकिन इन सब प्रश्नो का उन्होने एक ही उत्तर दिया और वह यह कि अब तक चाहे वे असफल रहे परन्तु अब उन्हे कपिलवस्तु लौटकर नही जाना है, उन्होंने मानव-जीवन के दुःखो को दूर करने के उपायो की खोज मे पूरे सात वर्ष व्यतीत कर दिये हैं, वे इस खोज को अपने जीवन के अन्त तक चालू रक्खेंगे और इस प्रयास में यदि उनका जीवन भी समाप्त हो जाय तो इससे कोई बड़ी क्षति नही होगी। वास्तव में गौतम अदम्य साहस और असाधारण धैर्य एवं अध्यवसाय के व्यक्ति थे। उन्होंने अपने इन महान् गुणो को यदि अपने राज्य के विस्तार हेतु लगाया होता तो वे निस्सदेह एक चक्रवर्ती सम्राट होते।

भोजन करने के उपरान्त गौतम ने एक वृक्ष के नीचे बैठ कर मनन करना आरम्भ कर दिया। उन्होने ध्यानावस्थित होकर समस्त समस्या पर विचार किया। बौद्ध साहित्य मे इस वृक्ष को बोधिवृक्ष कहते हैं और इसका एक महान् तीर्थ के सदृश आदर किया गया है। बोधगया मे एक पीपल का पेड उसी वृक्ष का अवशेष है। गौतम सारे दिन और अर्द्ध निशा तक चिन्तन करते रहे। बौद्ध साहित्य मे लिखा है कि वे सात दिन और सात रात्रि एक ही स्थान पर ध्यानमग्न अवस्था मे बैठे रहे। बौद्ध-साहित्य मे इस दशा मे सिद्धार्थ पर कामादिक विकारों के आक्रमणो का भी उल्लेख है जो कि मार (कामदेव) पराजय के साथ अर्द्ध रात्रि को समाप्त हो गये। वृक्ष के नीचे बैठकर सिद्धार्थ को जो ज्ञान प्राप्त हुआ वही ज्योति अथवा प्रकाश है जो बौद्ध धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। गौतम उसी दिन से बुद्ध हो गये और जो ज्ञान उन्हे प्राप्त हुआ उसे आर्य मार्ग व मध्य मार्ग कहते हैं।

बुद्ध के उपदेश

बुद्ध की शिक्षाएं व्यावहारिकता पर आधारित थी। वे जनता की ही भाषा में ऐसी नीति का उपदेश करते थे जो सबकी समझ में आने वाली थी। वे अपने आपको और श्रोताओ एवं भक्तों को दार्शनिक समस्याओ मे न उलझाते थे। इसका यह आशय नही कि उनके उपदेशो में दर्शन-विहीनता थी अथवा उनके विचारो का कोई दार्शनिक आधार ही न था।

गया में ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त बुद्ध काशी की ओर गये। काशी के समीप सारनाथ में उन्हे वे पाँचो सन्यासी मिले जिनको वे उरुवेल मे छोडकर चले आये थे। उन सन्यासियों ने पहिले तो बुद्ध की ओर कुछ उपेक्षा भाव बरता, परन्तु बुद्ध के तेजस्वी मुख-मण्डल को देखकर उन्हें अपनी भूल का आभास हुआ और वे बुद्ध के शिष्य बन गये। बुद्ध ने सर्वप्रथम इन्ही पाँचो शिष्यो को जो बाद मे 'पञ्च वर्गीय' कहलाये धर्मोपदेश किया। उन्होने इन शिष्यों को चार सत्योका उद्घाटन किया। इसी प्रक्रिया को बौद्ध साहित्य मे "धर्मचक्र प्रवर्त्तन" कहते हैं। वे चार सत्य इस प्रकार है।

(१) दुःख—संसार मे दु.ख ही दु.ख है। सर्वं दुःख दुःख। शोक का अस्तित्व स्वीकार कर लेना ही मुख्य बात है। संसार का प्रत्येक प्राणी जन्म, मरण, जरा और मृत्यु के दुःख से दुखी है। प्रिय के वियोग, अप्रिय के संयोग तथा इच्छाओ को तृप्ति न होने से दुःख ही दुःख होता है।

(२) समुदय—दु.ख ही ध्रुव सत्य नही है उसका कारण (समुदय) भी सत्य है। दुःख का कारण इच्छा अथवा तृष्णा है। तृष्णा सासारिक विषयो और प्रलोभनो मे मनुष्य को ग्रसित कर लेती है। यह वासना ही अहकार, ममता, राग, द्वेष, कलह और दुःख की जननी है।

(३) निरोध—दुःख का कारण ज्ञात होने पर उसका निरोध हो सकता है। तृष्णा के क्षय से जन्म मरण तथा अनेक प्रलोभनो से उत्पन्न दुःखो का नाश हो जाता है। वासना के क्षीण होने से एक दुख रहित अवस्था उत्पन्न होती है जिसे बुद्ध ने निर्वाण की संज्ञा दी।

(४) मार्ग—दुःख के निरोध के साधनों को बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग कह कर पुकारा। ये आठ मार्ग हैं (१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वाक् (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीव (जीविका) (६) सम्यक् उद्योग (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि। बौद्ध साहित्य मे इस अष्टाग मार्ग को 'मज्झिमा पटिपदा' कहा है। सामान्यतया इसको बुद्ध का मध्यम मार्ग कहते हैं। इसमे अति का सर्वत्र वर्जन है। इसके **अनुसार** जहाँ

भोग-विलास में आसक्ति त्याज्य है वहाँ तपादि के द्वारा अनावश्यक रूप से शरीर को यातनाएँ पहुँचाने का भी निषेध है। इसीलिये बौद्धधर्म मे युक्ताहार विहार का विधान है और वह मध्यम मार्ग का समर्थक है।

बुद्ध ने अपने उपदेशों मे नैतिक सदाचरण पर भी बडा बल दिया। नैतिक सदाचरण मे दस शीलो का परिपालन आवश्यक है (१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (किसी की वस्तु न चुराना) (४) अपरिग्रह (संचयशीलता का त्याग) (५) ब्रह्मचर्य (६) नृत्य और गायन का त्याग (७) सुगन्धित पदार्थों का निषेध (८) असमय भोजन का वर्जन (९) कोमल शय्या का निषेध (१०) कामिनी कांचन के प्रति उदासीनता। पहिले पांच शीलो का परिपालन ग्रहस्थों के लिये आवश्यक था, परन्तु भिक्षुओ के लिए तो दसों शील अनिवार्य थे।

बुद्ध उन समस्त विद्या केन्द्रो पर गये जिन पर वे ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व पहुँचे थे। उस समय आलार और रुद्रक की मृत्यु हो चुकी थी। वे अपने नगर कपिलवस्तु भी गये। उस समय उनके वृद्ध पिता जीवित थे। उनका पुत्र राहुल अब नवयुबक हो गया था। पहिले तो उनके बन्धु बान्धवो मे कुछ उदासीनता दिखाई दी परन्तु बुद्ध के उपदेशो को श्रवण कर वे सब के सब उनके अनुयायी हो गये। उनके सभी स्वजनो ने बौद्ध धर्म अगीकार कर लिया। उनकी स्त्री यशोधरा और विमाता प्रजापति भी बौद्धधर्म मे सम्मिलित हो गईं और उन्होने महिला सघ की स्थापना की।

बुद्ध ने अन्य धर्माचार्यों की तरह एक ही स्थान पर बैठ कर अपने उपदेशो का प्रचार न किया, बल्कि घूम घूम कर अनेक स्थानो पर वे राजा और रक दोनो से मिले और उनको अपनी बात सुनाई उन्होने जिन भिक्षुओ का सघ बनाया उसकी आवश्यकताऐं बहुत सीमित थी। वे भिक्षावृत्ति कर उदर पोषण करते तथा वृक्षो के नीचे अथवा उस अस्थायी आश्रय को ग्रहण करते जिसको उनके भक्त उन्हे बता दिया करते थे।

बुद्ध ने ब्राह्मण की परिभाषा उस व्यक्ति से की जो सदाचारी जीवन व्यतीत करता था। और उन्होने दुराचारी को चाण्डाल की सज्ञा दी। उन्होने वेदो की महत्ता और ब्राह्मणो के एकाधिकार को अस्वीकार किया परन्तु उन्होने ब्राह्मणेत्तर जातियो को ब्राह्मणो के विरुद्ध कभी न उकसाया। वे उनको ही उपदेश देना चाहते थे जो उनको सुनना पसन्द करें। जिन लोगो का उन पर विश्वास न था उनसे उनको कोई द्रोह या द्वेष न था। उनका कथन था कि जो अज्ञानी अथवा अहकारी है वह दया का पात्र है, उसके प्रति क्रोध या

असहिष्णुता मनुष्य के आत्म सम्मान या आत्म-गौरव के विरुद्ध है। भयङ्कर उत्तेजना के सामने भी प्रशान्त भाव और अक्रोध बुद्ध की सबसे बड़ी विशेषता थी। जब तक वे जीवित रहे उन्होंने उस उच्चाति उच्च कोटि के प्रशान्त और सहिष्णु स्वभाव का परिचय दिया जिसकी मिसाल विश्व के अन्य धर्म प्रचारकों में मिलनी दुर्लभ है।

बुद्ध के उपदेशों में नैतिकता, सरलता, और व्यावहारिकता के साथ-साथ दार्शनिकता भी थी। बुद्ध ने दुःख के अस्तित्व पर इतना बल दिया कि लोग उन्हे निराशावादी कहने लगे। परन्तु यह भ्रमात्मक है। बुद्ध ने दुःख की विद्यमानता पर जोर दिया परन्तु इसके साथ ही उन्होने उसका कारण भी बताया और उसके निवारण के लिए मार्ग भी। बुद्ध ईश्वर और आत्मा को नही मानते थे परन्तु पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। उनका कथन है कि पुनर्जन्म कर्म के कारण होता है। जब मनुष्य तृष्णा पर विजय प्राप्त कर लेता है तो उसका अहकार नष्ट हो जाता है और उसको निर्वाण प्राप्त हो जाता है। इस निर्वाण रूपी परम पद की प्राप्ति का आधार बुद्ध ने नैतिक आचरण और ज्ञान को स्थिर किया, उन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड और वेदों के प्रमाण को मान्यता प्रदान नही की।

बुद्ध के प्रचार से उनका यश चारों ओर फैल गया। बड़े-बड़े धनी मानी सेठ साहूकार राजा महाराज और विद्वान् उनके शिष्य होने लगे। काशी के सेठ का लड़का यश काशी में, राजगृह में सारिपुत्र और मोग्गलान, शाक्य गणों में राहुल, नन्द, भद्रिक, अनुरुद्ध, आनन्द, उपाली, देवदत्त आदि उनके शिष्य हो गये। कौशल की राजधानी श्रावस्ती में वहाँ के सेठ अनाथ-पिण्ड ने उनका आतिथ्य करके शिष्यत्व स्वीकार किया। बुद्ध अपने जीवन भर अंग, मगध, वज्जि, काशी, मल्ल, शाक्य, कोलिय, मौर्य, कोसल, वत्स, शूरसेन आदि राज्यों में भ्रमण और धर्म प्रचार करते रहे। उनको अवन्ति आदि दूरस्थ प्रदेशों से निमन्त्रण आये परन्तु वे वहाँ कभी न जा सके यद्यपि अपने शिष्यो को उन्होने सुदूरवर्ती प्रदेशों में भी भेजा। बुद्ध के जीवन में बौद्ध धर्म बुद्ध के भ्रमण किये हुए प्रदेश तक ही सीमित रहा और यह क्षेत्र वह था जो पश्चिम मे वाराणसी और पूर्व में राजगृह के बीच तथा उत्तर में कपिल-वस्तु और दक्षिण में गया के बीच स्थित था। बौद्धधर्म को विश्वव्यापी बनाने का श्रेय तो अशोक और तीसरी बुद्ध सभा के नेताओं को था जो ईसा पूर्व २४३ में पाटलिपुत्र में सम्पन्न हुई थी।

यह बात नही है कि बुद्ध का यश और गौरव ही बढ़ता रहा हो और विरोध न हुआ हो। बुद्ध को ब्राह्मणों के विरोध का सामना करना पड़ा।

उनका पितृव्य देवदत्त सदैव उनके विपरीत रहा करता था। सम्राट बिम्बिसार बुद्ध के प्रशसक थे अतः देवदत्त ने अजातशत्रु से मित्रता कर बिम्बिसार का घात करा दिया। देवदत्त ने बुद्ध सघ में भी प्रवेश पा लिया और वहां भी उसने दलबन्दी की और बडा बखेडा कर दिया। परन्तु बुद्ध के विपरीत किये हुए कार्यों में सदैव उसे विफलता मिली और बुद्ध से पूर्व ही उसकी मृत्यु भी हो गई।

बुद्ध ने चालीस वर्ष पर्यन्त भ्रमण कर उपदेश दिया। अस्सी वर्ष की अवस्था में भ्रमण करते हुए वे मल्लो की राजधानी पावा पहुँचे। वहाँ उन्होने चुन्द कुमरि का आतिथ्य स्वीकार किया। वहाँ उनको रोग ने घर दबाया परन्तु वे रुग्णावस्था मे ही कुशी नगर को चल पडे। कुशी नगर के पास शाल वन मे उन्होने शरीर त्याग दिया। उनकी भस्म को उनके अनेक भक्तो और शिष्य राज्यो ने बांट लिया।

बौद्धधर्म के प्रचार के विषय मे डा० राजबली पाण्डेय अपनी पुस्तक भारतीय इतिहास की भूमिका मे लिखते है, "बुद्ध के उपदेशों और शिक्षाओं का प्रचार बडी तेजी से हुआ और बहुत से लोगो ने उनके धर्म को अपनाया। इसके कई कारण थे। पहिला कारण यह था बौद्धधर्म बडा सरल, नैतिक और व्यावहारिक था। इसके उदय के पहिले जनता वैदिक कर्मकाण्ड और गूढ दार्शनिक वादो से ऊब गई थी। इसलिये उसने रोज के काम मे बरते जाने वाले नैतिक सिद्धान्तो का सहर्ष स्वागत किया। शीघ्र प्रचार का दूसरा कारण यह था कि बुद्ध के धर्म का द्वार मानव मात्र के लिए खुला हुआ था। इसमे वर्ण, जाति, ऊँच नीच का भेदभाव नही था। इसलिए बहुसख्यक लोगो ने इसे अपनाया। सफलता का तीसरा कारण बुद्ध का निष्कलक, पवित्र और ऊँचा चरित्र था। उनका ऊँचा शरीर, गौरवर्ण, उन्नत मुखमण्डल प्रशान्त मुद्रा और दया और करुणा से आर्द्र गभीर वाणी लोगो पर जादू के समान असर डालती थी। बुद्धदेव ने कोरा उपदेश ही नही किया, अपने उपदेशो को जीवन मे चरितार्थ भी किया। इसलिए उनके धर्म की प्रामाणिकता और उपयोगिता लोग शीघ्र मान लेते थे। चौथा कारण उपदेश के माध्यम और शैली का जनता के अनुकूल होना था। बुद्ध ने शास्त्रो और पण्डितो की भाषा सस्कृत को छोडकर जनता की बोलचाल की भाषा में अपना उपदेश दिया, जिसको सभी लोग आसानी से समझ सकते थे। वे अपने भाषण को दृष्टान्त, उपमा, रूपक, कथा-कहानी से सुबोध और रोचक बनाते थे। साथ ही तर्क मे बड़े-बड़े शास्त्रियो को अपनी सरल दलीलो से पराजित कर देते थे। सफलता का पांचवां कारण था प्रचार कार्य को सघ के रूप मे संगठित

करना। बुद्ध अच्छे नेता और संगठन कर्ता थे। वे गुण उनको अपने गणतन्त्र से मिले थे। बौद्ध संघ ने बड़ी तत्परता से बुद्ध के उपदेशों का प्रचार किया। बौद्धधर्म के प्रचार का छठा कारण था बुद्ध के समकालीन बड़े-बड़े राजाओं और व्यक्तियों की सहायता। बिम्बिसार, अजातशत्रु, प्रसेनजित, उदयन आदि राजा बुद्ध के व्यक्तिगत भक्त और अनुयायी थे। अनाथ पिण्ड जैसे बड़े-बड़े धनीमानी धर्म के मार्ग में अपना सर्वस्व निछावर करने वाले थे। बौद्धधर्म के लोकप्रिय होने का सातवाँ कारण था उसका मध्यम मार्गी होना। बुद्ध ने जीवन में अति का सर्वत्र विरोध किया। साधारण जनता के लिये यह मार्ग सुगम था। इस तरह बौद्धधर्म अपने नैतिकवाद उच्चादर्श और सर्व सुलभ होने के कारण बहुत शीघ्र बुद्ध के जीवनकाल में ही बहुत लोगों मे फैल गया।"

जैनधर्म

जैन साहित्य, अनुश्रुति और परम्परा के अनुसार जैनधर्म अत्यन्त प्राचीन है। यद्यपि भ्रान्तिवश कुछ ऐतिहासिक प्रसिद्धि पा जाने के कारण महावीर को ही जैनधर्म का संस्थापक मान बैठते हैं तथापि तथ्य तो यह है कि महावीर अन्तिम और चौबीसवें तीर्थङ्कर थे। इनसे पहले तेईस तीर्थङ्कर और हो चुके थे। जैनधर्म के प्रवर्तक ऋषभदेव थे जो अयोध्या के सूर्यवंश में उत्पन्न हुए थे। उनसे लेकर बाईसवें तीर्थङ्कर का इतिहास सम्यक् रूप से उपलब्ध नहीं है। तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के विषय में पर्याप्त जानकारी मिलती है।

पार्श्वनाथ महावीर से लगभग २५० वर्ष पहले काशी मे उत्पन्न हुए। इनके पिता का नाम राजा अश्वसेन और माता का नाम रानी वामा था। इनका विवाह द्वारका के राजा नरवर्मन् की पुत्री प्रभावती से हुआ था। इन्होंने तीस वर्ष की अवस्था तक गृहस्थ जीवन व्यतीत किया और इसके बाद विरक्त हो गये। कहते हैं इन्होंने तिरासी दिन ध्यानस्थ रहकर 'केवल' ज्ञान प्राप्त किया था। इन्होंने १०० वर्ष की आयु पाई और अपने जीवन के अन्त समय तक 'केवल' ज्ञान का प्रचार करते रहे। इनका विहार प्रदेश की पारसनाथ की पहाड़ियो पर सम्मेत पर्वत नामक स्थान पर निर्वाण हुआ।

पार्श्वनाथ ने जैनमतावलम्बियो के लिए चार व्रत निर्धारित किये (१) अहिंसा (१) सत्य (३) अस्तेय (चोरी न करना) (४) अपरिग्रह (संचय

शीलता का निषेध)। आगे चलकर श्वेताम्बर सम्प्रदायवादियो के यही सिद्धान्त आधार भूत माने गये।

महावीर का जन्म ईसापूर्व लगभग ६०० वर्ष पहिले वैशाली के निकट कुण्डग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ था और वे कुण्डग्राम के ज्ञातृकों के गणमुख्य थे। इनकी माता त्रिशला वैशाली के गणमुख्य राजा चेटक की बहिन थी। महावीर के बाल्यकाल का नाम वर्धमान था। उनका कुण्डिन्य गोत्र की राजकुमारी यशोदा से विवाह हुआ था। इस विवाह से महावीर की अणोज्जा नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। महावीर अपने भाई नन्दिवर्द्धन की अनुमति से ३० वर्ष की आयु मे विरक्त हो गये। उन्होने तेरह वर्ष तक गम्भीर चिन्तन एवं घोर तपस्या की। और इतना करने के बाद ही जृम्भिका ग्राम के पास एक शालवृक्ष के नीचे उन्हे 'केवल' ज्ञान की प्राप्ति हुई। उस समय से ही वे अर्हत्, जिन, केवलिन आदि नामो से विख्यात हो गये।

ज्ञान प्राप्त करने के बाद महावीर अपने ज्ञान और अनुभव का प्रचार उत्तर भारत मे करते रहे। उनके प्रचार क्षेत्र अधिकाश मे वज्जि, अग, मगध, राठ, सुह्म, मल्ल, कोसल, काशी आदि जनपदीय गणराज्य ही थे। उन्होने अनेक शारीरिक कष्ट सहन करते हुए पैदल यात्राऐ की और अपने धर्म का प्रचार किया। ये बुद्ध से बडे थे। इनका बहत्तर वर्ष की अवस्था मे मल्लो की राजधानी पावापुरी मे निर्वाण हुआ।

महावीर के सिद्धान्त

महावीर ने सत्य के अनुसन्धान मे वेदो के प्रमाण को न माना। उन्होने अर्हतो के केवल ज्ञान और उनके बचनो को आधार भूत सिद्धान्तों के रूप मे स्वीकार किया। इन्ही वचनों से जैन सम्प्रदाय के आगम का निर्माण हुआ। जैनियो मे आगम का वही आदर है जो वेदो का ब्राह्मणो की दृष्टि मे। जैनियो का मार्ग मध्यम मार्ग है। उन्होने आत्मवादियो और नास्तिकों के एकान्तवादी मतो को अस्वीकार किया। उनका मत अनेकान्तवाद या स्याद-वाद कहलाया। जैनियों के विचार मे बौद्धिक उदारता है। वेदों के प्रमाण को न मानते हुए भी महावीर किन्ही अशो मे आत्मवादी ही थे। वे आत्मा मे विश्वास करते थे और बहुत सी जड वस्तुओ मे भी जीव का अस्तित्व मानते थे। उन्होंने पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस को जीवश्रेणियों मे रक्खा। वे प्रकृति और सृष्टि को अनादि मानते हैं और उनके सचालन के लिए ईश्वर की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। वे कहते हैं कि प्रकृति

और सृष्टि का एक प्रवाह है। इनको प्रवाहमान रखने के लिये किसी ईश्वरीय सत्ता की आवश्यकता नही। आत्मा अपने कर्मों के अनुसार संसार चक्र मे फँसा रहता है और कैवल्य ज्ञान प्राप्त करके ही मोक्ष प्राप्त करता है।

मोक्ष अथवा कैवल्य प्राप्ति के लिए महावीर ने सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र तीन साधन निश्चित किये। इन तीनों साधनों को त्रिरत्न कहते हैं। तीर्थङ्करों के उपदेशो का मनन करने से सम्यक् ज्ञान, तीर्थङ्करो में पूर्ण आस्था और विश्वास से सम्यक् दर्शन और नैतिक सदाचारमय जीवन से सम्यक् चरित्र की प्राप्ति होती है। नैतिक जीवन की उपलब्धि के लिए पाँच व्रतों पर जोर दिया गया जिनमें चार तो वे ही हैं जो पार्श्वनाथ ने निर्धारित किये थे, महावीर ने उनमें पाँचवाँ व्रत ब्रह्मचर्य और जोड़ दिया।

जैनधर्म में अहिंसा पर सबसे अधिक बल दिया गया है। कर्मों के प्रवाह पर नियन्त्रण पाने के लिए पांच महाव्रतों का परिपालन अनिवार्य रूप से आवश्यक बताया गया। तपस्या का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। तपस्या दो प्रकार की होती है बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तपस्या मे अनशन, चान्द्रायण व्रत, भिक्षाचर्या, रस परित्याग, काया क्लेश और संलीनता सन्निहित है, आभ्यन्तर तपस्या में प्रायश्चित्त विनय, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान और उत्सर्ग आते हैं।

महावीर ने सभी धर्म के लोगों में अपने धर्म का प्रचार किया। मगध के राजा बिम्बिसार और उसके पुत्र अजातशत्रु से जैनधर्म को प्रश्रय प्राप्त हुआ। जैनधर्म का मुख्य प्रभाव क्षेत्र आरम्भ में वैशाली हुआ। महावीर के मामा चेटक और उसका परिवार जैनधर्म के अनुयायी हो गये। चेटक की पाँच लड़कियाँ मगध, वत्स, अंग, सिन्धु सौवीर और अवन्ति के राजाओं को व्याही थी, अतः इन सभी राज्यो में जैनधर्म का प्रचार हुआ।

जैनधर्म का आचार मार्ग कठोर और कष्टसाध्य था। यही कारण था कि इसकी मान्यता बौद्धधर्म की अपेक्षा कम हुई। सामूहिक रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्रवर्ग को एकान्त अहिंसा का पालन असम्भव था। जैनधर्म अधिकाश वैश्यवर्ग में ही प्रचलित हुआ, कारण वैश्यो का यज्ञ, युद्ध और श्रम से कम सम्बन्ध था। वैश्य लोग बैठे-बैठे व्यवसाय करते थे और इस कारण उन्हे जैनधर्म की जटिलताओ को मानने का अवसर और सुविधा अधिक प्राप्त थी।

मौर्यकालीन भारत की दशा

मौर्यकालीन भारत की यदि आधुनिक भारत से तुलना की जाय तो कुछ अंशो में मौर्यकालीन भारत ही उन्नत प्रतीत होगा। मौर्यकाल में चहुँ ओर पूर्ण शान्ति थी, लोग अन्न वस्त्र से सुखी और समृद्धिशाली थे। जनता का चरित्र बल बहुत ऊँचा था। लोग पाप पुण्य का भेद समझते थे। जन-साधारण मे सत्य-सन्धता और धर्म-परायणता आम तौर पर प्रचलित थी। व्यक्तियो के चरित्र गठन मे धर्म का वास्तविक स्वरूप दृष्टिगोचर होता था। दुष्टता, निर्दयता, क्रोध, अभिमान आदि दुर्गुण पाप की परिभाषा मे समझे जाते थे। लोगो मे ईर्ष्या और प्रतिस्पर्द्धा नाम मात्र को न थी। कपट, मिथ्या-चरण, परनिन्दा आदि महान् दोष समझे जाते थे। लोगों मे आत्मनिरीक्षण और अन्तरान्वेषण की भावना प्रचुर मात्रा मे पाई जाती थी। लोगो मे आम भावना थी कि सत्कर्म करने वाला मोक्ष पद को प्राप्त करता है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त की गहरी मान्यता थी, मनुष्य पुण्यश्लोक जीवन व्यतीत कर आवागमन के जजाल से मुक्त होने के लिए सचेष्ट रहते थे। लोग सत्याचरण के महत्व को पहिचानते थे।

मैगस्थनीज ईसा पूर्व ३०६ से २९८ तक भारत मे ठहरा। इस यूनानी लेखक ने उस काल की दशा का वर्णन बड़े सुन्दर ढङ्ग से किया है। वह लिखता है, "भारत का समाज अब चार की जगह सात श्रेणियो मे बँट चुका है, (१) तत्ववित्, (२) क्षत्रिय, (३) राजाओ के सचिव, (४) कृषक, (५) पशुपालक (६) व्यवसायी (७) गुप्तचर। तत्ववेत्ता ब्राह्मण होते थे। आर्यावर्त मे दासता का नाम भी नही। स्त्रियो का शील अद्‌भुत एव सर्वोच्च है, मनुष्य बड़े वीर है, वीरता मे भारतवासी समस्त एशियाई जातियो मे अग्रणी है। लोग अपने घरो पर कभी ताले नही लगाते। कभी कोई व्यक्ति मिथ्या भाषण करता हुआ नही पाया गया। मनुष्य साधारणतया परिश्रमशील हैं, वे या तो अच्छे कृपक हैं अथवा श्रेष्ठ व्यवसायी। लोग राज्यसभाओ मे जाने को उत्सुक नही रहते थे। वे शान्ति पूर्वक गुरुजनो की आज्ञा-पालन में रत रहते थे।" यद्यपि मैगस्थनीज ने भारत की नमक की खानो, नदियो के प्रवाहो और देश की विशालता का वृत्तान्त बड़ी खूबी के साथ लिखा है उसका किया हुआ जन-साधारण की प्रवृत्तियो का चित्रण बडा मनोहारी है।

भारत के राजनीतिक धरातल पर मौर्यवंश का उदय ऐसे समय हुआ जब यहाँ की दशा बड़ी अस्त व्यस्त थी। यहाँ अनेक छोटे-छोटे राज्य थे

जिनका शासन स्वतन्त्र रूप से राजाओं अथवा निर्वाचित शासनाध्यक्षों द्वारा किया जाता था। ये राजा लोग या अधिपति गण सदैव परस्पर युद्धरत रहते। एक दूसरे को नीचा दिखाने अथवा छोटे-छोटे भूखण्डों के स्वामित्व को लेकर विवादो के फलस्वरूप इन राजाओं में सदैव संग्राम छिड़ा रहता था। जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया तो पंजाब प्रदेश के राजा पोरस 'पुरु' ने अकेले ही उससे युद्ध किया। कोई भारतीय राजा उसकी सहायता को न आया। वरन् तक्षशिला के राजा ने तो पोरस के विरुद्ध सिकन्दर की सहायता की। परिणाम वही हुआ जो होना था, पोरस पराजित हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्यवंश का संस्थापक था। चन्द्रगुप्त एक अत्यन्त कर्मठ, विवेकशील एवं महान् साहसी पुरुष था। उसने भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के अध्ययन से भली-भाँति समझ लिया कि थोड़े प्रयत्न से ही भारत में एक् तन्त्रात्मक विशाल साम्राज्य स्थापित किया जा सकता है। वह बड़ी सूझ-बूझ और अदम्य उत्साह का व्यक्ति था, सौभाग्य से उसे कौटिल्य नाम के एक महान् राजनीतिज्ञ और उद्‌भट विद्वान् का सहयोग एवं मार्गदर्शन प्राप्त हो गया जिससे वह भारत मे एकतन्त्र साम्राज्य स्थापित करने मे सफल हुआ।

चन्द्रगुप्त के पहिले भारत में नन्दवंश का राज्य था। नन्दवंश के संस्थापक महानन्द के नौ पुत्र थे, आठ पुत्र तो उसकी रानी सुनन्दा से थे और कुछ इतिहासकारो का मत है कि एक पुत्र जिसका नाम चन्द्रगुप्त था मुरा नाम की नापित स्त्री से उत्पन्न था। मुरा नाम की स्त्री से जन्म लेने के कारण चन्द्रगुप्त के वंश का नाम मौर्य हुआ। चन्द्रगुप्त की अपने पिता महानन्द से न पटी और वह रुष्ट होकर राजधानी से चला गया। जिस समय सिकन्दर ने भारत पर चढाई की उस समय चन्द्रगुप्त पंजाब में था। उसने सिकन्दर से भेंट की परन्तु उस भेंट से कोई लाभ न हुआ। कुछ समय बाद उसका चाणक्य नाम के एक ब्राह्मण से सम्पर्क हो गया। वह ब्राह्मण बड़ा तेजस्वी, बुद्धिमान और कूटनीतिज्ञ था। चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से एक जंगली सेना इकट्ठी की। इस सेना के द्वारा उसने सिकन्दर के चले जाने पर उसके जीते हुए तमाम प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर दिया। तदुपरान्त चाणक्य की सहायता से उसने नन्दवंश का सर्वनाश करके मगध प्रदेश पर भी अपना अधिकार कर लिया। इस समय चन्द्रगुप्त की अवस्था २५ वर्ष के लगभग थी।

मगध का राज्य चन्द्रगुप्त के अधिकार मे आ जाने से महानन्द की विशाल सेना अब चन्द्रगुप्त की हो गई। अपनी तथा विशाल मागधी सेना के

द्वारा चन्द्रगुप्त ने अपने राज्य का विस्तार करना आरम्भ कर दिया। साम्राज्य की सीमाएँ बढाने के कार्य मे चाणक्य की कूटनीति फलवती हुई। थोड़े ही समय मे अपनी महान् सैन्य शक्ति के कारण चन्द्रगुप्त बगाल की खाडी से अरब समुद्र तक अपने साम्राज्य का विस्तार करने मे सफल हुआ।

चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर द्वारा अधिकृत जिन भारतीय प्रदेशो को अपने अधिकार मे कर लिया था उनको फिर से जीतने के लिए सिकन्दर के सेनापति और सीरिया के राजा सैल्यूकस ने भारत पर आक्रमण कर दिया। चन्द्रगुप्त ने पहिले ही युद्ध मे यवन सेनापति को परास्त कर दिया। इस अपमान पूर्ण पराजय के कारण सैल्यूकस को कधार, काबुल, हिरात और मकरान के कुछ प्रदेश चन्द्रगुप्त को अर्पण करने पड़े। सैल्यूकस ने अपनी पुत्री हेलेन का विवाह भी चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया। चन्द्रगुप्त ने ५०० हाथी भेट मे देकर अपने श्वसुर सैल्यूकस का सम्मान किया। इस विजय के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त का साम्राज्य भारत के बाहर भी फैल गया और वह भारत का प्रथम ऐतिहासिक चक्रवर्ती सम्राट कहलाने के योग्य हो गया।

सैल्यूकस परास्त होकर अपने देश को वापिस लौट गया। वहाँ जाकर उसने अपने राजदूत मैगस्थनीज को चन्द्रगुप्त की राज्य सभा में मनोनीत किया। मैगस्थनीज ने भारत में आकर विद्याध्ययन किया और अपनी भारत यात्रा का एक अत्यन्त सुन्दर एव महत्वपूर्ण वर्णन लिखा। मैगस्थनीज का मूल ग्रन्थ तो दुर्भाग्य से उपलब्ध नही है परन्तु उस ग्रन्थ से जो अनेक ग्रन्थकारों ने उद्धरण लिए हैं उन्ही का संकलन कर इतिहासकारो ने उस समय के इतिहास का निर्माण किया है।

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के इतिहास का पता कौटिलीय अर्थशास्त्र, बौद्ध धर्मग्रन्थों, शिलालेखो तथा मैगस्थनीज के यात्रा वर्णन से मिलता है। मैगस्थनीज का कथन है, "तत्कालीन भारतीय राजा का शासन बहुत सुसंगठित और सुदृढ़ है। सम्राट चन्द्रगुप्त के पास ६ लाख पैंदल सेना, तीस हजार अश्वारोही, नौसहस्र हाथी और सहस्रो रथ सदा तैयार रहते हैं। पाटलीपुत्र एक अत्यन्त सुन्दर और स्वस्थ नगर है। यह ९ मील लम्बा और १॥ मील चौड़ा है। नगर के चारों ओर एक लकडी का घेरा है जिसमें ६४ फाटक और ५७० बुर्ज हैं। उसके बाद २०० गज चौड़ी और १५ गज गहरी एक खाई है जो सोन नदी के जल से पूर्ण रहती है।" राजमहल का वर्णन करते हुए मैगस्थनीज अपना मत प्रकट करता है कि यह महल सौन्दर्य और वैभव की दृष्टि से संसार मे अनुपम है।

राज्य शासन

सेना का प्रबन्ध तीस सदस्यीय एक समरपरिषद के अधीन था। यह परिषद पांच पांच सदस्यों की छः समितियों मे विभक्त था। प्रत्येक समिति एक-एक विभाग पर अपना नियन्त्रण एवं अधिकार रखती थी। समितियों का अधिकार क्रमशः इस प्रकार था (१) पैदल सेना (२) अश्वारोहीदल (३) शस्त्रास्त्र (४) हाथियों की व्यवस्था (५) नौसेना।

नगर प्रबन्ध

इसी प्रकार पाटलिपुत्र नगर के प्रबन्ध के लिए एक तीस सदस्यीय नगर परिषद नियुक्त थी। इस परिषद की भी पांच-पांच सदस्यो की छः समितियां थी। (१) उद्योग समिति—उद्योग धन्धों का निरीक्षण, क्रय-विक्रय तथा मजदूरी आदि की दरें निश्चित करना इस समिति के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत थे। (२) अतिथि सत्कार समिति—नगर के विदेशी निवासियो और दर्शकों की गति विधियों की देख रेख रखना, विदेशियो को ठहराने का प्रबन्ध करना, रुग्ण प्रवासियों की सेवा, सुश्रूषा, चिकित्सा आदि का प्रबन्ध, मृतकों के अन्तिम सस्कार का दायित्व इस समिति के कार्यक्षेत्र मे थे। तीसरी समिति के अधिकार में जनसाधारण के जन्म मृत्यु का नियमित लेखा तैयार करना तथा सभी उच्च जातियो के लोगो की जन्म मृत्यु सम्बन्धी सूचनाएं प्राप्त करना था। चौथी समिति वाणिज्य व्यवसाय सम्बन्धी सभी राजकीय कार्य जैसे तौलने के बांटो और नापने के गजो आदि का निर्धारण करती थी। कर उगाहने का भार भी इसी समिति पर था। पांचवी समिति देवोत्तर सस्थाओं का प्रबन्ध करती थी।

अपराधियों को उस समय दण्ड देने की व्यवस्था बड़ी भीषण थी। यही कारण था उस समय अपराध वहुत कम होते थे। राजदण्ड का भय जनता पर पूरी तरह व्याप्त था। चोरी, झूंठी गवाही आदि अपराधों पर उस समय फांसी की सजा दी जाती थी। चोरी तो उस समय होती ही न थी, यही कारण था कि लोग विदेश जाते समय भी घर का ताला नही लगाते थे, केवल सांकल लगाकर वाहर चले जाते थे।

किसानो की सुविधा के लिए सरकार की ओर से सिंचाई का प्रबन्ध था। इसकी व्यवस्था के लिए भी एक परिषद विद्यमान थी। इस बात का ध्यान रखना कि प्रत्येक कृषक को उचित मात्रा मे जल उपलब्ध हो जाय इस परिषद का मुख्य कर्तव्य था।

राज्य मार्गों की सुरक्षा का भी एक विभाग था। यह विभाग नई सड़को का निर्माण तथा पुरानी सड़कों की मरम्मत आदि की व्यवस्था करता

था। एक-एक मील के अन्तर से सड़को पर ऐसे शिला पट्ट लगे रहते थे जिन पर बीच मे पड़ने वाले उपमार्गों के नामों का उल्लेख रहता था। पाटलिपुत्र से एक सड़क सीधी पुरुषपुर (पेशावर) को गई थी, जिसकी लम्बाई लगभग पाँच हजार मील थी। सम्भव है सड़क कुछ घूम फिर कर गई हो।

कृषि की उपज का षष्ठम भाग राज्यकर के रूप में वसूल किया जाता था। उस समय कृषि की बड़ी उन्नति थी। मैगस्थनीज ने इस बात पर महान् आश्चर्य व्यक्त किया है कि भारतवर्ष मे कृषक लोग देश मे घोर युद्ध होने की स्थिति में भी शान्ति-पूर्वक खेती का काम करते हैं। सिंचाई का काम तालाब, कुएँ, नदी आदि के द्वारा होता था, जहाँ पर कोई भी साधन न होता वहाँ राज्य की ओर से कुएँ खुदवाये जाते थे। चन्द्रगुप्त के राज्य-काल मे एक बड़ा बांध भी बनवाया गया जिसका नाम सुदर्शन झील था। किसी तूफान मे कदाचित् इस झील का अस्तित्व ही समाप्त हो गया ऐसा प्रतीत होता है।

चन्द्रगुप्त के शासन काल में अदालतें आज की तरह दो प्रकार की होती थी (१) धर्मस्थीय (आधुनिक दीवानी) (२) कण्टकशोधन (आधुनिक फौजदारी)। ग्रामो में ग्राम पंचायतें होती थी जिनमे मुखिया एव ग्राम के वृद्धजन साधारण मामलो की छानबीन कर अपने निर्णय दिया करते थे। सब प्रकार के न्यायालयों के ऊपर सर्वोच्च अधिकार सम्पन्न सम्राट का न्यायालय होता था।

स्वास्थ्य रक्षा का भी उत्तम प्रबन्ध था। स्थान-स्थान पर औषधालय खुले हुए थे जिनमे अनुभवी और विद्वान् वैद्यो की नियुक्ति की जाती थी। उस समय बड़े-बड़े भैषज्य भण्डार होते थे जिनमें शास्त्रोक्त विधि से निर्मित औषधियाँ प्रयोग की जाती थी। पशु चिकित्सा की भी उत्तम व्यवस्था थी। सेना के साथ चलने वाले पशु हाथी, घोड़े, बैल आदि की चिकित्सा के लिए दक्ष पशु-चिकित्सक सेना के साथ रहते थे। मूर्ख वैद्यो को वैद्यक करने का प्रमाण-पत्र नही दिया जाता था। वैद्यो के कार्यों पर देख-रेख भी रक्खी जाती थी और उन पर गुप्तचर विभाग के जासूस भी लगाये जाते थे।

नगरो मे सफाई और स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमो का पालन कड़ाई के साथ किया जाता था। खाद्य पदार्थों मे मिलावट करने वालो को दण्ड दिया जाता था। सड़को पर कूड़ा करकट फैंकना अथवा गन्दगी फैलाना अपराध था। राजमहल, मन्दिरो, गलियो, तालाब, नदी आदि के समीप मलमूत्र

त्यागना बड़ा अपराध समझा जाता था, राज्य की ओर से इस प्रकार के नियमोल्लंघनों के निषेध में घोषणाएँ जारी की जाती थी।

दुर्भिक्षों के समय राज्यभण्डार खोल दिये जाते थे। किसी प्रकार की कमी की पूर्ति के लिए राज्य-भण्डरो मे पर्याप्त अन्न उपस्थित रहना था। अनाथों, बेघरवार, स्त्रियों, लंगड़ों, लूलों, अपाहिजों को उनकी योग्यतानुसार काम देकर उनके जीवन निर्वाह की व्यवस्था की जाती थी।

मनुष्य गणना के विभाग के अध्यक्ष को समाहर्ता कहते थे। मनुष्य गणना की बडी नियमित व्यवस्था थी।

गुप्तचर विभाग की व्यवस्था उच्चस्तरीय उपादेयता के साथ सम्पन्न थी। गुप्तचर ग्यारह प्रकार के होते थे (१) कापटिक (२) उदास्थित (३) गृहपतिक (४) वैदेहक (५) तापस (६) सत्री (७) तीक्ष्ण (८) रसद (९) भिक्षुक (१०) मुण्डा और (११) वृषली। कौटिलीय अर्थशास्त्र में गुप्तचर विभाग की जो महान् व्यवस्था लिखी हुई है उसे पढ़कर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस विभाग की जो उच्चस्तरीय व्यवस्था प्राचीन भारत में थी वह आज के उन्नतिशील युग में भी न तो भारत मे है और न कही अन्यत्र।

चन्द्रगुप्त का शासन जैसा कि एक महान् सभ्य देश का होता है वैसा था। कृषि की उन्नति का प्रबन्ध, औषधालयों की व्यवस्था, अकाल, महामारी, अग्नि, वर्षा आदि से सुरक्षा का प्रबन्ध अति उत्तम रीति से था। दीवानी और फौजदारी अदालतों का जितना उत्तम प्रबन्ध उस काल में था उतना आज उन्नति के इस युग मे भी नही है। आज की तरह कर्मचारियो और अधिकारियो मे उस समय भ्रष्टाचार कतई न था। घूस लेना और देना दोनो ही पाप समझे जाते थे। कुछ इतिहासकार दण्ड विधान की कठोरता के विषय को लेकर मौर्यकालीन शासन पद्धति की भर्त्सना करते हैं। परन्तु यह उस दण्डनीति का ही सुपरिणाम था कि उस समय के भारत में अपराधों की संख्या बहुत कम होती थी। यद्यपि कानून मे सैद्धान्तिक आधारों पर दण्डनीति कठोर रक्खी गई थी तथापि व्यवहार में कड़ाई का प्रयोग कम होता था। बहुत से अर्वाचीन इतिहासकारो का भी यह मत है कि चन्द्रगुप्त और अशोक के शासनकाल मे प्रजा जितनी शान्ति के साथ जीवन व्यतीत करती थी उसका शतांश भी आज योरप वालो को प्राप्त नही है भारत की तो कौन कहे। भारतवासियो के तत्कालीन जीवन का चित्रण स्ट्रैबो नाम के एक महान् लेखक ने बड़े सुन्दर ढङ्ग से किया है। वह लिखता है, "भारतवासी केवल यज्ञो के अवसर पर ही सुरापान करते हैं अन्य अवसरो पर नही, सत्य

आचरण और प्रतिज्ञा पालन भारतीय हिन्दुओं का एक व्यापक गुण था। उस समय के भारत वासियो में कभी लेन-देन आदि के विषयो में मुकदमे बाजी नही होती थी। ईमानदारी और वचन निर्वाह यहाँ तक प्रचलित थे कि लोग लेन-देन के मामलो मे लिखा पढ़ी के कायल न थे। सौदे बहुधा जुबानी हो जाते थे।" हिन्दू सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल का वर्णन करते हुए श्री चन्द्रराज भण्डारी ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि, *"उस समय के लोग* विश्वास के महत्व को जानते थे, धर्म के रूप को समझते थे तथा सत्य के सौंदर्य पर मुग्ध थे। चोरी वगैरह का यह हाल था कि लोग माल ताल को अरक्षित अवस्था मे बिना ताले कुंजी के छोड जाते थे। न कोई किसी पर अन्याय करता था और न कोई किसी के अन्याय को सहन करता था। सत्य धार्मिकता का बहुत आदर था। चन्द्रगुप्त की कर्मठता, विवेकशीलता तथा धार्मिकशीलता का प्रतिबिम्ब उसकी जनता पर पड़ा।"

वास्तव मे मौर्यकालीन हिन्दू शासन अत्यन्त सभ्य, सुसंस्कृत और श्रेष्ठ शासन था। जो लोग आधुनिक योरपीय शासन पद्धति को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं उनकी मान्यताएं कौटिलीय अर्थशास्त्र मे वर्णित विशाल हिन्दू पद्धतियो का अध्ययन करने के बाद भ्रमात्मक सिद्ध हो जाती हैं। अर्वाचीन कोई भी विभाग ऐसा नही है जो उससे भी अधिक व्यवस्थित और परिष्कृत रूप मे उस काल मे विद्यमान न हो। मौर्यकालीन शासन प्राचीन हिन्दू आदर्शों और परम्पराओ का प्रतीक था। जनता मे तो चरित्र बल उस समय अत्यन्त उत्कृष्ट था।

चन्द्रगुप्त ने अपने बाहुबल से भारतवर्ष के समस्त छोटे-छोटे राज्यो को एक सूत्र मे सगठित कर दिया। अपने अपूर्व शौर्य से ही उसने विश्वविजेता सिकन्दर के जीते हुए प्रान्तो को अपने अधिकार मे किया। यवनराज सैल्यूकस को पराजित कर अपने राज्य की सीमाओ का विस्तार भारत के बाहर भी किया। चन्द्रगुप्त के शासन काल मे भारतीय लोगो के भीतर एक क्रान्ति की भावना का उदय हुआ। बाहरी शत्रु से देश की रक्षा करना एक पुनीत कार्य समझा जाने लगा। शताब्दियो तक पारस्परिक युद्ध मे रत रहने के बाद भारतीय राजा लोग पहिली बार राष्ट्रीय भावनाओ से अभिभूत होकर चन्द्रगुप्त को समस्त भारत का सम्राट मानने को उद्यत हुए।

सम्राट बिन्दुसार

सम्राट चन्द्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार राज्यसिंहासन पर आरूढ हुआ। बिन्दुसार ने अपने शासनकाल में दक्षिण प्रान्त को जीतकर अपने पिता के छोड़े हुए साम्राज्य मे मिला दिया। बिन्दुसार के शासन-काल मे और कोई उल्लेखनीय कार्य नही हुआ। यही कारण है कि मौर्य साम्राज्य के इतिहास में चन्द्रगुप्त और अशोक का ही नाम अधिक आता है। दक्षिणप्रान्त की विजय ही बिन्दुसार के गौरव के लिए पर्याप्त है, कारण इससे पूर्व दक्षिण मे आर्य पूरी तरह न जम पाये थे। कुछ ऐतिहासिक कहते हैं कि दक्षिण को चन्द्रगुप्त ने जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया था। बिन्दुसार ने अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य पर बड़े उत्तम ढङ्ग से शासन किया। अपने पच्चीस वर्षके शासन काल में उसने चन्द्रगुप्त की जमाई हुई नीव को बिल्कुल शिथिल न होने दिया अपितु उसे और भी सुदृढ़ बनाने की चेष्टा की। उसने ऐसा वायु-मण्डल निर्मित कर दिया जिसके कारण भविष्य मे उसके पुत्र अशोक को साम्राज्य की उन्नति करने का अच्छा अवसर मिला। उसके राज्य में साम्राज्य की शासन नीति, धार्मिक नीति और सामाजिक नीति प्रायः वही रही जो चन्द्रगुप्त के शासन काल मे थी।

सम्राट बिन्दुसार के समय में भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विकसित हुए। चन्द्रगुप्त के समय मे पश्चिमी देशों के साथ भारत का जितना व्यापारिक सम्बन्ध था वह अब उससे बहुत अधिक बढ़ गया था। उस काल में दूसरे देशो के साथ आपस में दूतो का-अदल बदल हुआ करता था। मेगास्थनीज के बाद सैल्यूकस के पुत्र एण्टीओकस ने अपना नवीन दूत समूह सम्राट बिन्दुसार के राजदरबार मे भेजा था। इससे प्रकट होता है कि उस समय भारतवर्ष का दूसरे देशो के साथ बड़ा गहन सम्बन्ध था। सम्राट बिन्दुसार ने यूनान नरेश एण्टीओकस के यहाँ से ऊँचे तत्व ज्ञानी दार्शनिक बुलवाये।

सम्राट बिन्दुसार २५ वर्ष तक शान्तिपूर्वक राज्य करके ई० पू० २७३ मे स्वर्गवासी हुए।

सम्राट अशोक

संसार के इतिहास में अशोक की प्रथम श्रेणी के सम्राटों में गणना है। कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि अशोक के समान दूसरा सम्राट विश्व के इतिहास में नही हुआ। ऐतिहासिको ने सामान्यतया अशोक की तुलना विश्व के महान् सम्राट शार्लमिन, अकबर और सीज़र से की है। अशोक शासको मे अप्रतिमेय था।

बौद्ध ग्रन्थ अशोकावदान प्रायः अशोक की जीवनी से सम्बन्ध रखता है। अशोक के पिता महाराज बिन्दुसार को एक ब्राह्मण ने अपनी कन्या जो अद्वितीय सुन्दरी थी उनकी बधू के रूप मे प्रदान की थी। महाराज ने उसे अपनी पटरानी बनाया था और और उससे उनके दो पुत्र हुए (१) अशोक (२) वीताशोक। महाराज की पहली रानी से भी एक पुत्र था जिसका नाम सुसीम था।

महाराज बिन्दुसार ने अशोक को उसकी युवावस्था मे तक्षशिला का उपद्रव शान्त करने भेजा था। उस समय तक्षशिला मे कश्मीर, नैपाल तथा हिन्दूकुश पर्वत तक का प्रदेश आधुनिक अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, पजाब आदि मिला हुआ था। अशोक ने बिना युद्ध किये हुए अपने कौशल से विद्रोह को शान्त कर दिया। वह कई वर्ष तक तक्षशिला मे राज्य प्रतिनिधि रहा। उसने तक्षशिला के महाविद्यालय की जिसमे देश के कौने-कौने से विद्यार्थी गण विद्याध्ययन करने आते थे बडी उन्नति की। उस समय आयुर्वेद की शिक्षा मे तक्षशिला का विद्यालय विश्व मे अद्वितीय था। अशोक के उत्तम प्रबन्ध और उत्तम शासन से महाराज बिन्दुसार उस पर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होने सुसीम को तक्षशिला भेज दिया और अशोक को अपने पास बुलवा कर युवराज घोषित कर दिया। कुछ समय बाद महाराज का स्वर्गवास हो गया और मन्त्रि-मण्डल ने अशोक को सम्राट घोषित कर दिया।

कलिङ्ग देश से युद्ध

कलिङ्ग देश का राजा हिन्दू धर्मावलम्बी था और बड़ा शक्तिशाली था। राज्य सिंहासन पर बैठने के कुछ समय बाद अशोक ने उससे अधीनता स्वीकार करने और बौद्धधर्म अंगीकार करने को कहा। राजा ने उसका उत्तर उपेक्षापूर्वक दिया जिससे अशोक बहुत रुष्ट हुआ और उसने एक बहुत बडी सेना लेकर कलिङ्ग पर चढाई कर दी। लगभग चार मास तक युद्ध चलता रहा। युद्ध की विभीषिका मे अनेक बहुमूल्य जीवनों की आहुति हो गई। सेना में महामारी भी फैली। कहते हैं इस युद्ध मे लाखो मनुष्यो का सहार हो गया। विजयश्री तो अशोक को प्राप्त हुई परन्तु युद्ध के विनाशकारी परिणामो का अशोक के कोमल हृदय पर बडा गहरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने कभी भविष्य मे युद्ध न करने का प्रण किया जिसका उन्होंने अन्त तक निर्वाह किया। उन्होंने अपनी शेष आयु पश्चात्ताप और धर्म प्रचार मे व्यतीत की तथा निम्न लिखित घोषणा निषिद्ध की।

वास्तविक विजय वह है जो मनुष्य अपने ऊपर धर्मबल से प्राप्त करता है। तलवार के बल से देशो को जीतना और विजय प्राप्त करना राजाओ का

धर्म नही है। यदि विवश होकर राजा को युद्ध करना भी पड़े तो उस समय उसे धैर्य और सहिष्णुता से काम लेना चाहिये। वास्तविक विजय वही है जो धैर्य और धर्म से की जाती है।"

कलिङ्ग विजय के बाद पाटलिपुत्र में एक विराट सभा हुई जिसमें अधीनस्थ राजाओं ने अशोक को 'देवाना प्रिय प्रियदर्शिन्' अर्थात् देवताओं के प्रियदर्शी की उपाधि दी और उस सभा में सम्राट अशोक ने धर्म प्रचार में अपना सारा जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा की।

सम्राट अशोक के कई विवाह हुए थे परन्तु चारुवाकी और असन्धिमित्रा नाम की दो रानियो का उल्लेख ही मिलता है। चारुवाकी बडी धर्मात्मा थी। वृद्धावस्था मे असन्धिमित्रा का देहान्त हो गया और अशोक ने एक षोड़शी से विवाह कर लिया। यह रानी चरित्र हीना तथा विषयासक्त थी। वह अशोक के ज्येष्ठ पुत्र कुणाल पर आसक्त हो गई और उसने उससे विषय याचना की, जिसे कुणाल ने अस्वीकार कर दिया। इस पर उसने षड़यन्त्र कर उसकी आँखें निकलवाने का यत्न किया। सम्राट को जब यह रहस्योद्घाटन हुआ तो उन्होने जीते जी रानी को अग्नि मे जलाकर मार डालने की आज्ञा दी।

धर्माचार मे लिप्त होते हुए भी अशोक की शासन नीति न तो कमजोर थी और न उन्होने शासन-व्यवस्था की तरफ से अपना ध्यान ही कम किया। चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार के सदृश उसके राज्य मे भी अदालती नियम और पद्धति वही थे। अशोक के शासन में प्रजा बहुत सुखी और समृद्ध थी। इकतालीस वर्ष के राज्य शासन की लम्बी अवधि में कभी कोई उपद्रव न हुआ था। किसी भी प्रदेश मे किसी विप्लव अथवा विद्रोह का उल्लेख भी नही मिलता। यह शासन की उत्तम नीति का प्रमाण है। अशोक ने राज्य के अधिकारियो और कर्मचारियो को आदेश दे रक्खे थे कि वे स्थान स्थान पर सभाऐं करके जनता मे नीति, चरित्र और धर्म की चर्चा करे जिससे प्रजाजन अपराधी प्रवृत्तियो से बचें, राज्याज्ञाओ का पालन करें और गुरुजनो का सम्मान करें। सम्राट की आज्ञा थी कि इस प्रकार की शिक्षा या प्रचार सब सम्प्रदायो और राज्य परिवार के लोगो को भी हो और सब पर दृष्टि रक्खी जाय। उल्लङ्घन और उच्छृङ्खलता को प्रश्रय नही दिया जाता था। अपराधो की संख्या बहुत घट गई थी।

अशोक के काल मे आयुर्वेद पद्धति की महती उन्नति हुई। औषधालय न केवल देश मे अपितु समस्त यूनान और एशिया के प्रदेशों मे खुलवाये गये।

सड़कों पर पीपल और आम के पेड लगवाये गये। एक एक मील पर कुंए खुदवाये गये धर्मशालाएं और सरायें भी बनवाये गये। चट्टानों को काट कर अनेक बडे मन्दिर और भवन बनवाये गये। अशोक के राजप्रासाद का उल्लेख फाह्यान ने किया है जो चन्द्रगुप्त द्वितीय गुप्त सम्राट के काल में भारत आया था। उसका कहना है कि पाटलिपुत्र मे अशोक का राजप्रासाद मनुष्यों द्वारा नही देवताओं द्वारा निर्मित है। उच्च वास्तु कला और मीनाकारी के नमूने उन भवनो में भारत की प्राचीन कला का चित्र प्रस्तुत कर रहे थे। भारत के शिल्पकारो की महान कला इन भवनों में दृष्टिगोचर होती थी। अशोक ने सहस्रों भवन निर्माण कराये। सम्राट ने अनेक विशाल बौद्ध मन्दिर और बिहार बनवाये। अशोक के समय के ऐसे पाषाण के स्तम्भ मिले हैं जिनकी ऊँचाई लगभग ५० फीट और वज़न करीब ५० टन है। उनकी पालिश अभी तक नही मिटी है और आधुनिक इंजीनियर लोग भी यह नही बतला सकते कि वह पालिश किस प्रकार की थी। सारनाथ के अशोक के सिहाकृति सिरो से कारीगरी का अनुमान लगाया जा सकता है।

आरम्भ मे सम्राट अशोक जैन-धर्म को मानते थे। कारण चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार की रुचि जैन धर्म की ओर थी। कुछ लोग उन्हें वेद मतावलम्बी मानने की चेष्टा करते थे। यद्यपि बौद्ध और जैन प्रचारको ने हिन्दू धर्म के प्रति बहुत विषवमन कर दिया था तथापि भारतीय जनता के हृदयो मे इन धर्मों के प्रति कभी पक्की धारणायें नही बनी थी। इन नवीन धर्मों की पक्की जड़ें कभी मजबूती से न जमने पाई थी। सम्राट अशोक के बौद्ध धर्म का अनुयायी होने के पश्चात् ही बौद्ध धर्म की अधिक उन्नति हुई थी। उन्होंने जबसे बौद्ध मत स्वीकार किया तब से ही तन मन धन से उसका प्रचार करना आरम्भ कर दिया। इसके परिणाम स्वरूप पश्चिमी एशिया के कुछ भाग को छोड समस्त एशिया मे इस धर्म का प्रचार हो गया। बौद्ध धर्म मे दीक्षित होने के बाद सम्राट स्वय २॥ वर्ष तक बौद्ध भिक्षु के वेष मे रहे। उन्होंने मिश्र, स्याम, मैसीडोनियाँ, लका और दक्षिण भारत के स्वतन्त्र राष्ट्रों में धर्म प्रचारक भेजे। इसके अतिरिक्त निम्बन, हिमालय के प्रान्त, हिन्दूकुश के प्रान्त, काबुल की उपत्यका, गान्धार, और यवन देशो मे भी बौद्ध धर्म का प्रचार किया। प्रसिद्ध इतिहास लेखक अलबेरूनी लिखता है, "मुसलमान धर्म के प्रारम्भ से पूर्व सारे मध्य एशिया मे बौद्ध धर्म फैला हुआ था। ईराक, ईरान, रूस, स्याम आदि देशों मे भी बौद्ध धर्म का गहरा असर पड़ रहा था।" लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार करने अशोक का भाई महेन्द्र और उसकी पुत्री संघमित्रा

गई थी। महेन्द्र ने सारा जीवन लंका में ही बौद्ध धर्म के प्रचार में लगा दिया। आज भी लोग लंका में महेन्द्र की पूजा करते हैं। पेगू में भी जिसको पहिले स्वर्ण भूमि कहते थे अशोक ने प्रचारक भेजे। दक्षिण के स्वतन्त्र राज्यो मे अशोक ने अनेक मन्दिर और विहार बनवाये। सम्राट ने अपने जीवन-काल में बौद्ध भिक्षुओं की एक विशाल सभा आयोजित की जिसमें उपगुप्ताचार्य आदि बौद्ध धर्म के महान् भिक्षु उपस्थित हुए।

अशोक के शिलालेखो और उनकी धर्मलिपियों में उनके सिद्धान्तों का पूर्ण परिचय मिल जाता है। उनके मुख्य सिद्धान्त अहिंसा, सत्य, पवित्र जीवन, बड़ों और श्रमण ब्राह्मणो का सम्मान आदि है। पहिले राजकीय पाकशाला में प्रतिदिन सहस्रों जीवो की हत्या होती थी और सम्राट के बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात् भी दो मोर और एक हरिण मारे जाते थे परन्तु अपने शासन के १६ वें वर्ष में उन्होंने जीव हिंसा कतई बन्द करादी और स्वयं भी शिकार खेलना छोड़ दिया। अहिंसा के बाद दूसरा सिद्धान्त सत्य प्रेम था। सहिष्णुता प्रत्येक व्यक्ति के लिए आदर्श रूप से ग्राह्य थी। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य था कि वह किसी दूसरे की उपासना की रीति और विश्वासों में बाधक न बने। निष्कर्ष यह कि सब धर्मों का मूल सिद्धान्त व्यक्तियों को शुद्धाचरण की ओर ले जाता था। तीसरा सिद्धान्त था गुरुजनों का पूर्ण सम्मान। यदि कोई व्यक्ति गुरुजनों का अपमान करता है तो वह दण्ड का भागी होता है।

साम्राज्य

अशोक के साम्राज्य का विस्तार इतना अधिक हुआ उतना शायद ही किसी अन्य सम्राट का हुआ हो। उसका राज्य उत्तर मे हिमालय और हिन्दुकुश पर्वत तक था। सारा अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, सिन्ध उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। कश्मीर, नैपाल, स्वात प्रान्त भी इसके साम्राज्य मे सम्मिलित थे। कश्मीर की राजधानी श्रीनगर को स्वयं सम्राट ने बसाया था। नैपाल मे भी ललितपुर नामक एक नगरी बसाई गई थी। यह काठमाण्डू से तीन मील दूर है। सम्राट की पुत्री चारुमती ने अपने पति के स्मारक स्वरूप देवपाटन नामक नगर नैपाल मे बसाया था। पूर्व में सारा बगाल अशोक के साम्राज्य मे सम्मिलित था। दक्षिण में कलिङ्ग, आन्ध्र और पूर्व किनारे का सारा दक्षिण प्रान्त अशोक के आधीन था। केवल चोल, पाण्ड्य, केरल पुत्र और सतिय पुत्र, अशोक के साम्राज्य के बाहर थे। इस विशाल साम्राज्य को अशोक ने कई भागो में विभाजित कर दिया था। भिन्न-भिन्न भागों मे एक-एक राजप्रतिनिधि-शासन करता था। एक राज्यप्रतिनि

तक्षशिला में, दूसरा कलिङ्ग के अन्तर्गत तोशली में, तीसरा उज्जैन और चौथा दक्षिण देश में रहता था। इन प्रतिनिधियों में राजघराने के अथवा सम्राट के पूर्ण विश्वास पात्र लोग रहा करते थे।

ईसा से २६१ वर्ष पूर्व सम्राट अशोक ने बौद्ध तीर्थों की यात्रा की। वे नेपाल, लुम्बिनी (जन्मस्थान सिद्धार्थ कुमार) कपिलवस्तु (गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोधन की राजधानी), सारनाथ (जहाँ पर बुद्ध ने सर्व प्रथम उपदेश दिया था) गये। सारनाथ से श्रावस्ती और वहाँ से बुद्ध गया गये। बुद्धगया में भगवान बुद्ध को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। वहाँ से वे कुशिनगर होते हुए अपनी राजधानी लौट गये। मार्ग में तथा अन्य स्थानों पर अनेक स्तम्भ और शिला लेखों का निर्माण करवाया गया। शिलालेखों में राजाज्ञाएँ, धर्म प्रचार, धर्म सिद्धान्त, तीर्थयात्रा आदि का वर्णन होता था।

अशोक का शासन सरल, उदार और न्याय युक्त था। प्रजा में दृढ़ राजभक्ति व्याप्त थी। अशोक का ४१ वर्ष के लम्बे शासन के बाद ईसा से २३२ वर्ष पूर्व देहावसान हो गया।

अशोक ने जन-जीवन को उन्नत बनाया। वे जो कहते थे वही करते थे। इस विद्वान् सम्राट के शासनकाल में जितना धर्म प्रचार हुआ उतना कभी किसी सम्राट के काल में न हुआ। ४१ वर्ष के लम्बे शासन-काल में कोई उपद्रव न हुआ। दण्ड विधान कठोर था जिसकी आलोचना की गई है। परन्तु इसी के कारण सर्वत्र शान्ति थी, अराजकता देखने को भी न मिलती थी।

देवताओं के प्रियदर्शी की आज्ञाएँ : "मेरे राज्य में सर्वत्र धर्मयुत, राजुक और नगरों के राज्याधिकारी ५ वर्ष में एक बार एक सभा में और इस प्रकार की धर्म शिक्षा का प्रचार करें।

"अपने माता-पिता, मित्रों, संगियों और सम्बन्धियों की धर्मयुत सेवा करना अच्छा और उचित है। ब्राह्मणों और श्रमणों को भिक्षा देना, प्राणियों के जीवन का सत्कार करना, और अपव्यय तथा कटुवचन से बचना अच्छा और उचित है।"

अशोक की राजाज्ञाएँ समस्त वेदों की सार रूप हैं। सम्राट अशोक संस्कृति के महान् निर्माता थे। उन्होंने स्वस्थ परम्पराओं की स्थापना की। इन अर्थों में अशोक अप्रतिम एवं अद्वितीय थे।

एक राजाज्ञा इस प्रकार थी : "मेरा कर्तव्य यह है कि शिक्षा द्वारा लोगों का उपकार करूँ। निरन्तर उद्योग और न्याय का उचित प्रबन्ध सर्व-

साधारण के हित की जड़ है। इससे अधिक फलदायक कुछ भी नही है। मेरे सब यत्नों का उद्देश्य है कि मैं सर्व साधारण के ऋण से मुक्त हो जाऊँ। जहाँ तक मुझसे हो सकता है मैं उन्हें सुखी करने का प्रयत्न करता हूँ और चाहता हूँ कि भविष्य में भी स्वर्ग सुख प्राप्त करें। भविष्य में मेरे पुत्र और पौत्र सर्वसाधारण के सुख मे रत रहे। इसी उद्देश्य से मैंने यह लिपि खुदवाई है।

धर्म विजय

अशोक के पडौसियों में यवनो के राजा एण्टी ओकस, टौलैमी, एण्टी गोनस, मैडांसी आदि थे। इन सबने अशोक के सिद्धान्तो को ध्यान से सुना। दक्षिणी चोल, पाण्ड्य, कम्बोजों, नामपन्ति लोगों, आन्ध्र, पुलिन्द आदि ने अशोक की शिक्षाओ पर सहमति प्रकट की। तलवार की विजय से धर्म विजय अधिक महत्वपूर्ण है। छब्बीसवें वर्ष में २५ बार बन्दियों को राज्याभिषेक के अवसर पर मुक्त किया गया ऐसा एक शिलालेख में लिखा है। रज्जुको की नियुक्ति हजारों की संख्या में इसलिए की गई कि प्रजाजनो में धार्मिक विचारो का उदय हो। आम के बगीचे, कुँए, आधे-आधे कोस की दूरी पर मनुष्यों और पशुओं के लिए धर्मशालाऐं बनवाई गईं।

शुंग सातवाहन काल

अन्तिम मौर्य राजाओं के समय में मगध-साम्राज्य के दूर के प्रान्त सब अलग हो गये। साम्राज्य का आकार बहुत काल से घटता जा रहा था और घटते-घटते वह अब मगध तक ही सीमित रह गया था। वृहद्रथ अन्तिम मौर्य राजा था। उसकी समस्त सेना के सामने वृहद्रथ का उसके सेनापति पुष्यमित्र ने वध कर दिया और राज्य का अधिकार अपने हाथ में ले लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने यह कार्य सेना और प्रजा दोनो की सहमति से किया।

राजा वृहद्रथ का वध इस प्रकार से किन कारणों वश हुआ इस पर प्रकाश डालना आवश्यक है। वृहद्रथ की हत्या मौर्योत्तर काल की सामाजिक दशा पर गहरा प्रकाश डालती है। तथ्य कुछ इस प्रकार हैं। यवनो के आक्रमणो से भारतीय जनता त्रस्त हो उठी थी। राजा लोग बौद्ध धर्मावलम्बी अथवा बौद्ध धर्म से प्रभावित थे। वे लोग अहिंसावादी थे और उनका यह धर्म राष्ट्र की सुरक्षा में बाधक था। शान्तिकाल मे राजाओं का धार्मिक कृत्यों मे व्यस्त रहना कुछ समझ में आ सकता था परन्तु जब विदेशी आक्रान्ता अपने

राजा देवभूति हुआ। वह अत्यन्त अयोग्य, विलासी और कामुक था। वह किसी प्रकार दस वर्ष तक शासन करने मे समर्थ हुआ तथा ६८ ई० पू० मे अपने अमात्य वसुदेव के षडयन्त्र से मारा गया। हर्ष चरित में उल्लेख है कि वसुदेव ने देवभूति को उसी की दासी पुत्री द्वारा जिसे उसके पास स्त्री रूप मे भिजवा दिया गया था मरवा दिया। इस प्रकार शुंगवंश का अन्त हुआ।

काण्व वश

६८ ई० पू० मे अन्तिम शुंगवंशी राजा देवभूति की हत्या के बाद उसका अमात्य वसुदेव स्वय मगध का अधिपति हुआ। पुराणो मे उल्लेख है कि वसुदेव काण्व गोत्री ब्राह्मण था। अतः उसका वंश काण्व कहलाया। वसुदेव ने ६ वर्ष राज्य किया और उसके बाद उसका पुत्र भूमिमित्र राजा हुआ। भूमिमित्र ने १४ वर्ष राज्य किया। भूमिमित्र के बाद उसका पुत्र नारायण सिंहासन पर बैठा। उसने १२ वर्ष राज्य किया। नारायण का उत्तराधिकारी उसका पुत्र सुशर्मा हुआ। सुशर्मा के शासन के दसवें वर्ष में शिशुक नामक आन्ध्र नरेश ने मगध पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध के परिणाम स्वरूप सुशर्मा मारा गया और उसके अन्त के साथ ही काण्ववश का भी पतन हो गया। पुराणो मे काण्ववशियो को प्रणत सामन्त लिखा है। काण्ववशियो का मगध के राज्यसिंहासन पर ४५ वर्ष राज्य रहा और २३ ई० पू० मे उसका अन्त हो गया। इन ४५ वर्षों के काण्ववशीय शासन का विशेष इतिहास ज्ञात नही है।

पुराणो मे काण्ववशियो को शुंग भृत्य कहा है। पुराणो में लिखा है कि शिशुक ने न केवल काण्ववश को समाप्त किया अपितु शुंगों की भी बची-खुची शक्ति को नष्ट किया था। इससे प्रकट होता है कि शुंगवशीय राजागण देवभूति के बाद विदिशा में राज्य करते रहे जब कि पाटलिपुत्र पर काण्व-वशियो ने अधिकार जमा लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि शिशुक ने पहले विदिशा के शुंगवशीय शासन का अन्त करके फिर पाटलिपुत्र की ओर कदम बढ़ाया और वहाँ के काण्ववंशीय राज्य का अन्त कर दिया।

पश्चिमोत्तर भारत का यवन राज्य

मौर्यवश के पतन के बाद जिस समय मगध मे शुंगवश का राज्य था उस समय पश्चिमोत्तर भारत मे यवनो का शासन स्थापित हो गया था। आधुनिक अफगानिस्तान के उत्तर मे बल्ख के आस-पास का प्रदेश प्राचीन काल मे बैक्ट्रिया या बाल्हीक कहलाता था। मौर्यकाल के प्रारम्भ मे यहाँ सैल्यूकस के वश के राजा राज्य करते थे। परन्तु अशोक के समय मे ही

वाल्हीक इस वंश के शासन से निकल गया। तृतीय शताब्दी ई० पू० के अन्त में वाल्हीक पर यूयीडेमस राज्य करता था। १६० ई० पू० मे यूथीडेमस का पुत्र डेमैट्रियस वाल्हीक का राजा हुआ। उसने १८३ ई० पू० मे हिन्दुकुश को पार करके भारत पर आक्रमण किया। गर्ग संहिता मे जिस यवन आक्रमण का उल्लेख है उसका नेतृत्व सम्भवतः डेमैट्रियस ने ही किया था। डेमैट्रियस पंजाब को रौंदता हुआ मथुरा, पंचाल और साकेत होकर पाटलिपुत्र तक जा धमका परन्तु उसकी अनुपस्थिति में हुए वाल्हीक के विद्रोह ने उसके पांव भारत मे न जमने दिये और उसे वापिस जाना पड़ा। उसकी अनुपस्थिति में यूक्रेटाइडीज नामक व्यक्ति ने वाल्हीक पर अपना अधिकार जमा लिया। यूक्रेटाइडीज के वाल्हीक पर कब्जा कर लेने से और यवन सेनाओं की वसुमित्र के हाथो पराजय से डेमैट्रियस केवल गांधार और मध्यदेश के बीच के भाग का ही स्वामी रह गया। वाल्हीक से गांधार तक का भाग यूक्रेटाइडीज के अधिकार में आ गया।

डेमेट्रियस और और यूक्रेटाइडीज के बाद उनके वंशजों को अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। पुष्यमित्र शुंग के हाथो उन्हें करारी हार खानी पड़ी तथा यूक्रेटाइडीज की मृत्यु के बाद शकों ने वाल्हीक पर अधिकार कर लिया था।

मौर्यकाल मे यवन प्रदेशों पर भारत का प्रभुत्व था। अशोक के अभिलेखों से सिद्ध होता है कि उसके दूत उस समय सभी यवन राज्यों मे गये थे। मौर्य साम्राज्य के समाप्त होने पर डेमेट्रियस, यूक्रेटाइडीज और मीनाण्डर के विजय अभियानों के फलस्वरूप पंजाब पर लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक यवन शासन रहा। इस काल के डेमेट्रियस और यूक्रेटाइडीज के वंशों के तीस से अधिक राजाओं के सिक्के उपलब्ध हुए हैं। डेढ़ सौ वर्ष मे तीस राजाओ का हो जाना पुराणों के इस कथन का समर्थन करता है कि यवन राजागण प्रायः परस्पर वध करके वसुधा का भोग करते रहेगे।

स्त्रीणां बाल वधेनैव हत्वा चैव परस्परम्।
भोक्ष्यन्ति कलि शेषेतु वसुधा पार्थिवास्तथा॥

वायु पुराण ६६-३६०

इन तीस राजाओ में सबसे प्रसिद्ध मीनाण्डर था जो डेमैट्रियस का वंशज मालुम होता है। मीनाण्डर प्रतापी शासक था, उसके सिक्के काबुल मे मथुरा तक मिलते हैं। मिलिन्द पन्ह नामक बौद्ध ग्रन्थ मे मिलिन्द नाम के राजा का बड़ा सम्मानपूर्ण उल्लेख है। यह मिलिन्द और कोई नही मीनाण्डर

ही था। मिलिन्द पन्ह के अनुसार मिलिन्द नामक राजा ने बौद्ध भिक्षु नागसेन से बौद्धधर्म विषयक अनेक प्रश्न किये और उनका सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त कर बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। एक अनुश्रुति के अनुसार तो मीनाण्डर ने अर्हत् पद प्राप्त कर लिया था। उसके अनेक सिक्कों पर ध्रमिकस (धार्मिकस्य) शब्द का उल्लेख है। मिलिन्द पन्ह मे इस राजा की राजधानी शाकल का भी बड़ा विशद वर्णन है। इस ग्रन्थ में उस समय शाकल अनेक उद्यानों, तड़ागों, भव्य भवनों और राजमार्गों से युक्त थी। प्लूटार्क के अनुसार मीनाण्डर अपने न्याय के लिए प्रसिद्ध था और उसकी प्रजा उसे बहुत प्यार करती थी। उसकी मृत्यु के बाद उसकी भस्मी को अनेक नगरों ने माँगा था। मीनाण्डर का काल और उसके वंशजों का अस्तित्व विवाद का विषय बने हुए है। ऐसा प्रतीत होता है कि ई० पू० प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे शकों के हाथों से यवन राज्य का अन्त हो गया।

शुंगवंशीय राजाओं की सूची तथा उनका राज्यकाल

(१)	पुष्यमित्र	१८० ई० पू०—१४४ ई० पू०	३६ वर्ष
(२)	अग्निमित्र	१४४ ई० पू०—१३६ ई० पू०	८ वर्ष
(३)	वसुज्येष्ठ (सुज्येष्ठ)	१३६ ई० पू०—१२९ ई० पू०	७ वर्ष
(४)	वसुमित्र	१२९ ई० पू०—११९ ई० पू०	१० वर्ष
(५)	भद्र	११९ ई० पू०—११७ ई० पू०	२ वर्ष
(६)	पुलिन्दक	११७ ई० पू०—११४ ई० पू०	३ वर्ष
(७)	घोष	११४ ई० पू०—१११ ई० पू०	३ वर्ष
(८)	वज्रमित्र	१११ ई० पू०—११० ई० पू०	१ वर्ष
(९)	भागवत	११० ई० पू०— ७८ ई० पू०	३२ वर्ष
(१०)	देवभूति	७८ ई० पू०— ६८ ई० पू०	१० वर्ष

काण्व वंशीय राजाओं की सूची तथा उनका राज्यकाल

(१)	वसुदेव	६८ ई० पू०—५९ ई० पू०	९ वर्ष
(२)	भूमिमित्र	५९ ई० पू०—४५ ई० पू०	१४ वर्ष
(३)	नारायण	४५ ई० पू०—३३ ई० पू०	१२ वर्ष
(४)	सुशर्मा	३३ ई० पू०—२३ ई० पू०	१० वर्ष

कलिंग सम्राट खारवेल

मौर्य राज्य की समाप्ति के समय जिस प्रकार सातवाहनों ने दक्षिण मे और पुष्यमित्र शुंग ने उत्तर भारत मे अपना राज्य स्थापित किया उसी प्रकार कलिंग (आधुनिक उड़ीसा) मे खारवेल का प्रादुर्भाव हुआ। खारवेल

इस युग की राजनीति में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता था। उसके समय के बहुत से शिलालेख पाये जाते हैं। अभिलेखों में उसका महत्व अशोक के उपरान्त दूसरे नम्बर का है। खारवेल चेदिक्षत्रियों के राजवंश का था। सातवाहन और शुंग ब्राह्मण वंशीय थे। चेदिवंश के लोगों का जनपद आधुनिक बुन्देलखण्ड था और यह सम्भव है कि वे लोग बुन्देलखण्ड से कलिंग (उड़ीसा) पहुँच गये हों।

खारवेल जैन था और ९ वर्ष युवराज रहने के बाद २४ वर्ष की अवस्था में उसका राज्याभिषेक हुआ। राज्याधिकार लेने के दूसरे वर्ष ही उसने कृष्णा नदी तक पश्चिम मे सेना भेजी। चौथे वर्ष फिर युद्ध में रत हुआ। उसने महाराष्ट्रों के सरदार भोजक को युद्ध मे परास्त किया। चूँकि महाराष्ट्र लोग सातवाहन सम्राट गौतमी पुत्र सातकर्णि के अधीन थे अतः खारवेल का उन पर आक्रमण सातकर्णि के विरुद्ध एक चुनौती थी। उसने कई और जनपदो को युद्ध मे परास्त किया और राज्याभिषेक के छठे वर्ष राजसूय यज्ञ किया।

खारवेल के काल के कुछ पूर्व भारत मे यवनों का आक्रमण आरम्भ हो गया था। ये लोग यूनानी थे परन्तु भारतीय इनको यवन कहते थे। डिमीट्रियस (दिमेत्र, दिमित) के नेतृत्व मे उन्होंने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों पर आक्रमण किया। ये भीतर आते चले गये और इतने भीतर आ गये जितना सिकन्दर भी न आया था। यवनो के आक्रमणो का वृत्तान्त कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में किया है। इस प्रकार के वृत्तान्त गर्गसंहिता के अन्तिम अध्याय युगपुराण और पतंजलि के महाभाष्य मे भी हैं। दिमेत्र को जिसके विषय मे पुराणों में उल्लेख है कि उसने पाटलिपुत्र पर चढाई की, साकेत और मध्यमिका को घेरा, खारवेल ने पूरी तरह खदेड़ा। मध्यदेश से यवनो को भगाने का श्रेय खारवेल को है।

उस काल मे भारतवर्ष पर यवनों का आक्रमण चहुँ ओर से हुआ था। उस समय भारत की चार प्रमुख राज्य शक्तियाँ थी। १—कलिंगराज खारवेल २—पुष्यमित्र शुंग ३—सातवाहन वंशीय सातकर्णि और ४—गणराज्य। प्रत्येक शक्तिशाली राजा ने यवनों को युद्ध मे परास्त किया। इन प्रभुता सम्पन्न शक्तियो ने उस काल मे यवन आक्रमणो को विफल कर दिया।

सातकर्णि के राज्य पर दो बार आक्रमण करने और दिमेत्र यवन का मध्यदेश से निकाल भगाने के कारण खारवेल उस समय की प्रमुख शक्ति के रूप मे था। अपने राज्य के बारहवें वर्ष में खारवेल ने उत्तर भारत की ओर

आक्रमण किया और पुष्यमित्र शुंग को युद्ध मे परास्त कर उससे अनेक भेंट रत्न मोती माणिक के रूप में स्वीकार की। खारवेल के समय से पौने तीन सौ वर्ष पहिले मगध के नन्द राजा नन्दिवर्द्धन ने कलिंग से जिन की मूर्ति का अपहरण किया था, खारवेल ने उस मूर्ति को पुष्यमित्र शुंग से वापिस लेकर कलिंग में पुनः प्रतिष्ठापित की।

सातवाहन राज्य

सातवाहन राजा महाराष्ट्रीय थे। ये प्राकृतभाषी थे। पुराणों में इनको आन्ध्रवंशीय लिखा है। इनके आन्ध्रराजा कहलाने का यही कारण प्रतीत होता है कि ये आन्ध्र में होकर आये, अथवा इन्होंने आन्ध्र देश को जीता और अपने राज्य मे मिला लिया। सातवाहन वंशीय राजा ब्राह्मण थे। अनुश्रुति के अनुसार वे मिश्रित ब्राह्मण और नागवश के थे। उनके महाराष्ट्र रुधिर में कुछ मिश्रण अवश्य हुआ ऐसा प्रतीत होता है। सातवाहन ही को कही कही शालिवाहन लिखा है। इस वश के राजाओं ने जिनमे कुछ भारतीय सम्राट कहलाये चार सौ वर्ष से अधिक देश मे गौरवपूर्ण राज्य किया। इनके राज्य मे देश सुख समृद्धि से परिपूर्ण था। इस वश का राज्य ई० पू० दूसरी शताब्दी से दूसरी शताब्दी के अन्त तक रहा।

सिमुक नाम का राजा सातवाहन राज्य का संस्थापक था। इसका समय २०० ई० पू० था। सिमुक को पुराणो में शिशुक अथवा सिन्धुक भी भी कहते हैं। सिमुक का भाई कन्ह (कृष्ण) उसके बाद उसका उत्तराधिकारी हुआ। कन्ह के पीछे उसके पुत्र सातकर्णि ने राज्याधिकार ग्रहण किया। सातकर्णि बडा प्रतापी राजा था। उसने महाराष्ट्र सरदार की पुत्री नायनिका से अपना विवाह किया। इस कारण उसका प्रभाव महाराष्ट्र मे व्याप्त हो गया। उसने अपने राज्य में चलाई मुद्रा पर अपने श्वसुर का नाम भी अंकित कराया। सातकर्णि ने पश्चिमी घाट और कोकण का प्रदेश भी अपने राज्य के वश मे कर लिया और इस प्रकार वह समस्त महाराष्ट्र एवं कर्णाटक का एक छत्र स्वामी हो गया। कलिंगराज खारवेल से जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है उसे कुछ काल तक दबना पड़ा। उसने एक बार अश्वमेध और एक बार राजसूय यज्ञ किया।

शक महाक्षत्रप नहपान का राज्य ४०, ४२ वर्ष तक रहने का उल्लेख मिलता है। नहपान के सम्बन्ध में हजारो सिक्के पश्चिम भारत में पाये गये हैं। गौतमी पुत्र सातवाहन सम्राट सातकर्णि ने नहपान को मार कर उसके वश का उन्मूलन कर दिया। शक आक्रान्ताओ की शक्ति को नष्ट करने का

प्रधान श्रेय सातवाहन वंश के प्रतापी सम्राटों और मालव आदि गणराज्यों को है। गौतमी पुत्र सातकर्णि ने दक्षिण, सौराष्ट्र और गुजरात के शक महाक्षत्रपों का उन्मूलन कर शकारि और विक्रमादित्य की उपाधि धारण की।

सातवाहन वंशीय राजाओं की तीन पीढ़ी ही प्रसिद्ध हैं। सातकर्णि के बाद एक शताब्दी तक अनेक सातवाहन वंशीय राजा हुए। सातवाहन वंशीय राजाओं में हाल नाम का एक राजा बड़ा प्रसिद्ध हुआ है। उसने मराठी भाषा में सप्तशती नामक एक ग्रन्थ लिखा। हाल प्राकृत भाषा का प्रकाण्ड पण्डित था। सातकर्णि के पुत्र पुलुमायी ने उज्जयिनी के महाक्षत्रप रुद्रदामा की पुत्री से विवाह किया। कुछ समय पश्चात् रुद्रदामा और उसके जामाता पुलुमायी में मतभेद हो गया जिसके फलस्वरूप दोनों में लड़ाई छिड़ गई। उस युद्ध में रुद्रदामा विजयी हुआ और पुलुमायी की पराजय हुई। पुलुमायी की मृत्यु के बाद यज्ञश्री सातवाहन राजा हुआ। इसके पश्चात् इस वंश में तीन राजा और हुए जिनके नाम हैं क्रमशः विजय, चन्द्रश्री और पुलुमायी द्वितीय।

शुंग सातवाहन युग मे एक सत्तात्मक केन्द्रीय शक्ति का अभाव था। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है भारत चार प्रमुख राज शक्तियो मे विभक्त था। ऐसी स्थिति मे गणराज्यो को अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने का सुअवसर प्राप्त हो गया। मालव, यौधेय, कुनिन्द, आर्जुनायन, शिवि, लिच्छवि आदि प्राचीन गणराज्यो का इस युग में पुनरुत्थान हुआ। विदेशी आक्रमणकारियो से निपटने में इन्होंने अपूर्व कौशल और वीरता का परिचय दिया। ये गणराज्य भारतीय राज्य शक्तियो में अपना विशेष स्थान प्राप्त किये हुए थे।

साहित्य

प्राचीन संस्कृत साहित्य के बहुत से ग्रन्थ इसी युग में लिखे गये। बौद्ध और जैन साहित्य के अनेक ग्रन्थो का भी इसी काल में संकलन हुआ। पतंजलि पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे। उन्होने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा है। इस महाभाष्य मे शुंग कालीन भारत की दशा के सम्बन्ध में कुछ सुन्दर चित्रण है। महाभाष्य एक महान् ग्रन्थ है इसमे पाणिनीय व्याकरण की बड़ी विस्तृत व्याख्या की गई है।

स्मृति ग्रन्थो का निर्माण शुंग काल मे प्रारम्भ हुआ। स्मृतियों में मनुस्मृति एक महान् और प्राचीन ग्रन्थ है। ऐसा अनुमान है कि इस ग्रन्थ का निर्माण १५० ई० पू० हुआ था। इसका प्रवक्ता आचार्य भृगु था। नारद स्मृति के अनुसार सुमति भार्गव ने इस स्मृति का प्रवचन किया था। मनुस्मृति,

आक्रमण किया और पुष्यमित्र शुंग को युद्ध मे परास्त कर उससे अनेक भेंट रत्न मोती माणिक के रूप में स्वीकार की। खारवेल के समय से पौने तीन सौ वर्ष पहिले मगध के नन्द राजा नन्दिवर्द्धन ने कलिंग से जिन की मूर्ति का अपहरण किया था, खारवेल ने उस मूर्ति को पुष्यमित्र शुंग से वापिस लेकर कलिंग में पुनः प्रतिष्ठापित की।

सातवाहन राज्य

सातवाहन राजा महाराष्ट्रीय थे। ये प्राकृतभाषी थे। पुराणो में इनको आन्ध्रवशीय लिखा है। इनके आन्ध्रराजा कहलाने का यही कारण प्रतीत होता है कि ये आन्ध्र मे होकर आये, अथवा इन्होने आन्ध्र देश को जीता और अपने राज्य मे मिला लिया। सातवाहन वंशीय राजा ब्राह्मण थे। अनुश्रुति के अनुसार वे मिश्रित ब्राह्मण और नागवंश के थे। उनके महाराष्ट्र रुधिर में *कुछ मिश्रण अवश्य हुआ ऐसा प्रतीत होता है। सातवाहन ही को* कही कही शालिवाहन लिखा है। इस वंश के राजाओ ने जिनमें कुछ भारतीय सम्राट कहलाये चार सौ वर्ष से अधिक देश मे गौरवपूर्ण राज्य किया। इनके राज्य में देश सुख समृद्धि से परिपूर्ण था। इस वश का राज्य ई० पू० दूसरी शताब्दी से दूसरी शताब्दी के अन्त तक रहा।

सिमुक नाम का राजा सातवाहन राज्य का संस्थापक था। इसका समय २०० ई० पू० था। सिमुक को पुराणो मे शिशुक अथवा सिन्धुक भी भी कहते हैं। सिमुक का भाई कन्ह (कृष्ण) उसके बाद उसका उत्तराधिकारी हुआ। कन्ह के पीछे उसके पुत्र सातकर्णि ने राज्याधिकार ग्रहण किया। सातकर्णि बडा प्रतापी राजा था। उसने महाराष्ट्र सरदार की पुत्री नायनिका से अपना विवाह किया। इस कारण उसका प्रभाव महाराष्ट्र मे व्याप्त हो गया। उसने अपने राज्य मे चलाई मुद्रा पर अपने श्वसुर का नाम भी अंकित कराया। सातकर्णि ने पश्चिमी घाट और कोकण का प्रदेश भी अपने राज्य के वश मे कर लिया और इस प्रकार वह समस्त महाराष्ट्र एवं कर्णाटक का एक छत्र स्वामी हो गया। कलिंगराज खारवेल से जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है उसे कुछ काल तक दबना पड़ा। उसने एक बार अश्वमेध और एक बार राजसूय यज्ञ किया।

शक महाक्षत्रप नहपान का राज्य ४०, ४२ वर्ष तक रहने का उल्लेख मिलता है। नहपान के सम्बन्ध मे हजारो सिक्के पश्चिम भारत में पाये गये हैं। गौतमी पुत्र सातवाहन सम्राट सातकर्णि ने नहपान को मार कर उसके वंश का उन्मूलन कर दिया। शक आक्रान्ताओ की शक्ति को नष्ट करने का

प्रधान श्रेय सातवाहन वंश के प्रतापी सम्राटों और मालव आदि गणराज्यों को है। गौतमी पुत्र सातकर्णि ने दक्षिण, सौराष्ट्र और गुजरात के शक महाक्षत्रपो का उन्मूलन कर शकारि और विक्रमादित्य की उपाधि धारण की।

सातवाहन वंशीय राजाओ की तीन पीढ़ी ही प्रसिद्ध हैं। सातकर्णि के बाद एक शताब्दी तक अनेक सातवाहन वशीय राजा हुए। सातवाहन वंशीय राजाओं मे हाल नाम का एक राजा बड़ा प्रसिद्ध हुआ है। उसने मराठी भाषा में सप्तशती नामक एक ग्रन्थ लिखा। हाल प्राकृत भाषा का प्रकाण्ड पण्डित था। सातकर्णि के पुत्र पुलुमायी ने उज्जयिनी के महाक्षत्रप रुद्रदामा की पुत्री से विवाह किया। कुछ समय पश्चात् रुद्रदामा और उसके जामाता पुलुमायी मे मतभेद हो गया जिसके फलस्वरूप दोनों में लड़ाई छिड गई। उस युद्ध में रुद्रदामा विजयी हुआ और पुलुमायी की पराजय हुई। पुलुमायी की मृत्यु के बाद यज्ञश्री सातवाहन राजा हुआ। इसके पश्चात् इस वश में तीन राजा और हुए जिनके नाम हैं क्रमश: विजय, चन्द्रश्री और पुलुमायी द्वितीय।

शुंग सातवाहन युग मे एक सत्तात्मक केन्द्रीय शक्ति का अभाव था। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है भारत चार प्रमुख राज शक्तियों मे विभक्त था। ऐसी स्थिति में गणराज्यो को अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने का सुअवसर प्राप्त हो गया। मालव, यौधेय, कुनिन्द, आर्जुनायन, शिवि, लिच्छवि आदि प्राचीन गणराज्यो का इस युग में पुनरुत्थान हुआ। विदेशी आक्रमणकारियो से निपटने मे इन्होने अपूर्व कौशल और वीरता का परिचय दिया। ये गणराज्य भारतीय राज्य शक्तियों मे अपना विशेष स्थान प्राप्त किये हुए थे।

साहित्य

प्राचीन संस्कृत साहित्य के बहुत से ग्रन्थ इसी युग में लिखे गये। बौद्ध और जैन साहित्य के अनेक ग्रन्थो का भी इसी काल में सकलन हुआ। पतंजलि पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे। उन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा है। इस महाभाष्य में शुंग कालीन भारत की दशा के सम्बन्ध में कुछ सुन्दर चित्रण है। महाभाष्य एक महान् ग्रन्थ है इसमे पाणिनीय व्याकरण की बड़ी विस्तृत व्याख्या की गई है।

स्मृति ग्रन्थों का निर्माण शुंग काल में प्रारम्भ हुआ। स्मृतियों में मनुस्मृति एक महान् और प्राचीन ग्रन्थ है। ऐसा अनुमान है कि इस ग्रन्थ का निर्माण १५० ई० पू० हुआ था। इसका प्रवक्ता आचार्य भृगु था। नारद स्मृति के अनुसार सुमति भार्गव ने इस स्मृति का प्रवचन किया था। मनुस्मृति

के बाद विष्णु स्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना हुई। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति का भारतीय स्मृति ग्रन्थो में जो महत्वपूर्ण स्थान है वह अन्य स्मृतियो का नही। इन दोनो ग्रन्थो के अध्ययन से शुंग और सातवाहन राजाओ के समय के भारतीय जीवन का परिचय उत्तम रीति से प्राप्त कर सकते हैं।

महाभारत यद्यपि मौर्य काल से भी पहिले से इस जगत में विद्यमान था तथापि अनेको मनीषी उसमे निरन्तर वृद्धि करते रहते थे। शुंग और सातवाहन युग मे भी उसके आकार की वृद्धि हुई और समयानुसार अनेक वृत्तान्तो का समावेश हुआ। इस युग मे सस्कृत और प्राकृत भाषाओं में अनेक काव्यो और नाटको की रचना हुई। सुप्रसिद्ध कवि भास ने प्रतिज्ञा यौगन्धरायण आदि नाटको की रचना इसी काल मे की। उसके ग्रन्थो को कालिदास और भवभूति की रचनाओ के समान समझा जाता है। आचार्य अश्वघोष ने बुद्ध-चरितम् नाम का महाकाव्य और अनेक नाटक लिखे। शूद्रक कवि जिसने प्रसिद्ध नाटक मृच्छकटिक की रचना की थी, सातवाहन वंश के राज्यकाल मे हुआ। नाट्य शास्त्र के लेखक भरतमुनि और कामसूत्र के रचयिता आचार्य वात्सायन भी इसी युग मे हुए।

कालिदास संस्कृत साहित्य गगन के सबसे उज्ज्वल नक्षत्र हैं। कालिदास सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने नाटक, महाकाव्य और खण्ड काव्य तीनो में समान अधिकार से उत्कृष्ट रचनाऐं की हैं। इनके लिखे हुए तीन नाटक उपलब्ध हैं जिनके नाम हैं मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञान शाकुन्तल। ये तीनो ही नाटक अप्रतिम हैं परन्तु अपनी सरसता और माधुर्य के कारण अभिज्ञान शाकुन्तल की गणना विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटको मे है। कालिदास के रघुवंश और कुमार सम्भव भी उत्कृष्ट महाकाव्य हैं। मेघदूत और ऋतु संहार नामक दो खण्ड काव्य कालिदास की बेजोड रचनाएँ हैं। कालिदास की अद्भुत कल्पना शक्ति, प्रकृति का सजीव वर्णन, भाषा की सरलता और प्राजलता, रसो और भावो की अभिव्यक्ति, मनोहारी उपमाएँ, देश के विभिन्न भू भागो का नैसर्गिक एवं सामाजिक वर्णन सब कुछ इतना विलक्षण है कि उसने कवि को विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवियो मे अत्यन्त उच्च स्थान बना दिया है।

प्राकृत भाषा के भी अनेक ग्रन्थों का इस युग में निर्माण हुआ। सातवाहन राजा प्राकृत भाषा के प्रेमी और सरक्षक थे। सातवाहन राजा हाल स्वय एक महान् कवि एव ग्रन्थकार था। प्राकृत भाषा का सर्वोत्कृष्ट कवि

गुणाढ्य इसी काल में हुआ। संस्कृत साहित्य की तरह प्राकृत साहित्य की भी इस युग मे बहुत उन्नति हुई।

षड् दर्शन

सांख्य योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और मीमांसा ये छः दर्शन भारतीय तत्व ज्ञान के आधार भूत सिद्धान्त है षट्-दर्शन का रूप जो वर्तमान समय में उपलब्ध है उसका निर्माण इसी युग में हुआ।

इस युग मे विज्ञान, वैद्यक और ज्योतिष शास्त्र की भी बड़ी उन्नति हुई। चरकसहिता का लेखक आचार्य चरक भी इसी युग में हुआ। महान् चिकित्सक नागार्जुन जिसने वैद्यक ग्रन्थ सुश्रुत का संपादन किया था इसी काल में हुआ था। नागार्जुन रसायन विज्ञान का भी उद्भट विद्वान् था। ज्योतिष शास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक गर्ग सहिता की इसी काल में रचना हुई। इसके लेखक गर्गाचार्य थे। गर्ग संहिता मे यवनों के आक्रमणों का उल्लेख है।

भागवत धर्म

शुंग सातवाहन युग की सबसे महत्वपूर्ण घटना बौद्ध धर्म का ह्रास और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान है। अनेक युद्धों में हुई हिंसा से अशोक के हृदय में प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई थी। उसने 'धर्मविजय' की नीति व्यवहार में लाई परन्तु उस नीति की पृष्ठ भूमि में सम्राट अशोक की विशाल वाहिनी थी। अशोक के शासनकाल में इस नीति के द्वारा अनेक राज्य बौद्ध धर्म का पालन करते हुए अशोक का आधिपत्य स्वीकार करते थे। परन्तु अशोक के उत्तराधिकारियो के शासन काल मे इस नीति से राष्ट्र में सुरक्षा का अभाव हो गया। निर्बल राजा लोग केवल धर्म के सहारे आततायी आक्रान्ताओं को नही रोक सकते थे। धर्म विजय भी एक सुदृढ़ सेना के आधार पर ही हो सकता था। राजा यदि सिर मुड़ा कर धर्मानुष्ठानो को ही करता रहे तो आक्रान्ताओ से रक्षा कौन करे। सनातन धर्म में तो राजा के लिए यह निर्देश है कि वह दिग्विजय करके अश्वमेध यज्ञ करे। अतः जनता को ऐसा धर्म जो चारो ओर से देश को शत्रुविहीन करके अश्वमेध यज्ञ का प्रतिपादन करता हो अधिक उपयोगी प्रतीत हुआ।

हरिवंश पुराण के अनुसार जनमेजय के बाद पुष्यमित्र शुंग ने अश्वमेध की परम्परा को पुनर्जीवित किया। गौतमी पुत्र सातकर्णि ने दो बार अश्वमेध यज्ञ किया। चौथी शताब्दी में सम्राट समुद्र गुप्त ने भी अनेक यज्ञ किये जिनमें अश्वमेध यज्ञ प्रधान था। समुद्रगुप्त से पूर्व चेदिवंश के राजाओं तथ'

भारशिव और वाकाटकवंशीय महाराष्ट्र के राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ करके यशोपार्जन किया।

अश्वमेध यज्ञों का सम्पन्न किया जाना बौद्ध और जैन धर्मों के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप था। अश्वमेध यज्ञ वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार का प्रतीक थे।

बौद्ध मठो और विहारो मे भिक्षुओ का अब वह स्वरूप न रह गया था जो अशोक के काल मे था। भिक्षु अब आलसी और विलासी हो गये थे। पहिले तो भिक्षु लोग केवल परिव्राजक ही होते थे परन्तु अब उनमे ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चारो वर्ण के लोग थे। राजाश्रय से भिक्षुओ मे अकर्मण्यता घर कर गई थी। भिक्षुणियो की सस्थाओ मे दुराचार बढने लगा। बौद्ध धर्म की इस अवनत दशा मे मनुस्मृति द्वारा प्रतिपादित गृहस्थ धर्म की समाज मे जो स्त्रियो के लिए बन्धनों का विधान है वह बौद्ध धर्म के अन्तर्गत भिक्षुणियो की दशा के *प्रतिक्रियास्वरूप है। बौद्ध और जैन धर्म अहिंसा प्रधान थे।* अहिंसा दर्शन से राष्ट्र की क्रियाओ मे निर्बलता आ गई और ऐसी दशा में समाज मे गीता के आदर्शों को पुनर्जीवित किया गया। विदेशी आक्रमण की स्थिति मे श्री मद्‌भगवगीता के कर्म योग को अधिक मान्यता प्राप्त हुई क्योंकि वह समयानुकूल था। शुंग और सातवाहन युग मे बौद्ध धर्म के ह्रास का मुख्य कारण विदेशी आक्रमणो से उत्पन्न परिस्थिति थी। एक तो शुंग और सातवाहन राजा ब्राह्मण थे और दूसरे बौद्ध धर्म की निष्क्रियता से जनता कराह उठी थी।

परन्तु बौद्ध धर्म भी चार शताब्दियो तक भारत का प्रधान धर्म रह चुका था। उसका कुछ प्रभाव तो इस प्रकार का हुआ कि जिससे वैदिक युग के जीवन और सस्कृति को पूर्णरूप से पूर्वस्वरूप पुन. प्राप्त न हो सका। बौद्ध और जैन विचार मूलरूप से नष्ट न हो पाये। समाज मे यह धारणा हुई कि याज्ञिक कर्मकाण्ड उपयोगी नही है और यज्ञ एव धार्मिक अनुष्ठानो मे पशुओ की बलि व हिंसा अनुचित है। बुद्ध और महावीर के प्रोज्ज्वल चरित्र के कारण लोग *निर्गुण, निराकार ब्रह्म के स्थान पर बुद्ध और महावीर को आदर्श पुरुष* मान कर उनकी मूर्तियां बनाने लगे थे और उन मूर्तियों को प्रतिष्ठापित कर बौद्ध और जैन धर्म का अनुसरण करने लगे थे। बुद्ध और महावीर के स्थान पर शुंग सातवाहन युग में समाज ने कृष्ण को आदर्श पुरुष माना। कृष्ण आदर्श बालक, आदर्श तत्ववेत्ता, आदर्श योगिराज और आदर्श राजनीतिज्ञ थे। लोगो ने उन्हे विष्णु का अवतार माना और जिस प्रकार बुद्ध और महावीर

की मूर्तियाँ बनी थीं उसी प्रकार कृष्ण की असंख्य मूर्तियाँ बनी और उनको भव्य मन्दिरो में प्रतिष्ठापित किया गया। लोगों को निराकार निर्गुण ब्रह्म की यज्ञों द्वारा उपासना करने की अपेक्षा मन्दिर में भगवान् की मूर्ति के आगे भक्ति भावना से की गई उपासना अधिक सरल, सुबोध और सुगम प्रतीत हुई। लोग मन्दिर में भगवान् के सन्मुख कीर्तन करते, नैवेद्य चढ़ाते और नतमस्तक हो अपने जीवन का सुख प्राप्त करने लगे। कृष्ण के अतिरिक्त शिव, विष्णु गणेश आदि अनेक पौराणिक देवताओं की मूर्तियो का निर्माण होने लगा और इस प्रकार एक नई संस्कृति का उदय हुआ जिसको वैदिक या आर्य संस्कृति की अपेक्षा पौराणिक संस्कृति कहना अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार बौद्ध और जैन धर्म की प्रतिक्रियास्वरूप शुंग सातवाहन काल में भागवत धर्म का उदय हुआ।

दूसरी सदी ई० पू० में शैवधर्म भी भारत मे विकसित होने लगा। इसको शिव, भागवत या शैव कहते हैं। शैव धर्म का प्रवर्तक लकुलीश नाम का आचार्य था। पुराणो में उल्लेख है कि वह शिव का अवतार था।

विदेशों से व्यापार

इस युग के तीन बड़े साम्राज्य थे, १—रोम २—चीनी ३—भारतीय। भारत अन्य दोनों साम्राज्यो के बीच में पड़ता था। अतः इसका चीन और रोम दोनों से सम्पर्क था। अनेको स्तूपो की खुदाई में भारतीय राजाओं के सिक्कों के साथ-साथ रोमन सिक्के भी मिलते है। रोमन सिक्कों का मिलना इस बात का द्योतक है कि रोम का भारत के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। भारत से समुद्र मार्ग से हाथी दांत का सामान, मोती, काली मिर्च, लौंग, मसालो, सुगन्धियों और रेशमी सूती कपड़ों का निर्यात रोम को होता था। एक रोमन लेखक कहता है कि भारत का माल रोम मे सौ गुने मूल्य पर विक्रय होता है। अन्य रोमन लेखक लिखता है कि रोमन स्त्रियां भारतीय महीन मलमल पहन कर अपनी सुन्दरता दिखाने की शौकीन थी। रोम और भारत के व्यापार का सबसे बडा केन्द्र केरल था। केरल में खुदाई द्वारा बडी संख्या मे रोमन सिक्के मिले है।

गुहा निर्माण

सातवाहन राजाओ को गुहा निर्माण का बडा व्यसन था। उन्ही के शासन काल में महाराष्ट्र के गुहा मन्दिरों का निर्माण हुआ। इनमें अजन्ता की गुफाएँ सब से प्रसिद्ध और प्राचीन हैं। ये पहाडों को काट बनाई गई हैं। इनकी दीवारो पर इतने सुन्दर रंगीन चित्र बनाए गये हैं कि सहस्रों वर्ष व्यतीत

होने पर उनकी सुन्दरता अब भी अक्षुण्ण है। मौर्य युग में गुहा निर्माण का श्रीगणेश हो चुका था परन्तु उस काल की गुहाएँ इतनी विशाल नही थी। सातवाहन राजाओं की प्रेरणा और सरक्षण में विशाल गुहाओं का निर्माण हुआ। इन गुहाओ मे पत्थर ईंट और काष्ठ का प्रयोग नही हुआ है। ये पहाड़ियों को काट कर बनाई गई हैं।

औपनिवेशिक प्रगति

अशोक की धर्म विजय नीति के अनुसार भिक्षुओ ने न केवल धर्म प्रचार ही किया वरन् भारतीयो ने उपनिवेश और बस्तियां भी बसाईं। यह प्रक्रिया बाद मे भी चलती रही। बर्मा और सुदूर चीन तक हिन्द महासागर मे जो छोटे बडे द्वीप थे उन सब मे अनेक भारतीय बस्तियाँ स्थापित हो गईं। भारत के जिन जनपदो से जाकर लोग इन द्वीपो मे बसते थे वहाँ वे नये नगरो को वही नामकरण प्रदान करते थे जहाँ के वे भारत मे मूल निवासी थे। *लंका, सुमात्रा, यवद्वीप मे वहाँ की नदी का नाम सरयू रक्खा गया।* इन द्वीपो में चम्पा, कोठार, पांडुरंग, अमरावती, विजय आदि प्रान्तो के नाम हैं। जिस प्रदेश को आज कम्बोडिया और स्याम कहते हैं उसकी स्थापना कौडिन्य नाम के एक भारतीय ब्राह्मण ने की थी। बरमा को उस समय सुवर्ण भूमि कहते थे। अराकान का सर्व प्रथम राजा बनारस का निवासी था। बरमा, स्याम, मलाया, इन्डोचाइना मे अनेक भारतीय बस्तियाँ थी। पूर्वी और दक्षिणी पूर्वी इन एशियाई प्रदेशो मे भारतीय बस्तियाँ स्थापित करने वाले शैव थे। आगे चलकर इन उपनिवेशो मे बौद्ध धर्म का भी प्रचार हुआ। वस्तुतः शुंग सातवाहन युग के भारतीयो मे अपूर्व जीवनी शक्ति थी। भारतीय लोग बडी सख्या मे विदेश जाते थे और उनका उद्देश्य व्यापार करना और बस्तियाँ स्थापित करना होता था।

शुंग सातवाहन काल हिन्दू उत्कर्ष का समय था जिसमे भारत की बडी उन्नति हुई।

पुराणों में सातवाहन वंशीय राजाओं की संख्या तीस लिखी है। परन्तु वायु पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण में इस वश के राजाओ के १८, १६ नाम ही मिलते हैं। मत्स्य पुराण मे नाम तो तीस मिलते हैं परन्तु उसमे लिखा है कि इस वंश में १६ राजा ही हुए। दक्षिण कौशल मे सातवाहन वंशी राजाओं की एक शाखा का राज्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि मत्स्य पुराण में इस शाखा के राजाओ तथा मूलवश के राजाओ के नाम मिलाकर राजाओं की कुल संख्या तीस कर दी गई है। वास्तव में वायु पुराण में उल्लिखित

१९ राजा ही मूल सातवाहन वंश के राजा हुए हैं, ११ राजा दक्षिण कोशल की शाखा से सम्बन्धित हैं।

सातवाहन वंशीय राजाओं की सूची तथा उनका राज्यकाल

(१)	सिमुक (शिशुक)	४६ ई० पू०	से २३ ई० पू०	२३ वर्ष
(२)	कन्ह (कृष्ण)	२३ ई० पू०	से १३ ई० पू०	१० वर्ष
(३)	सातकर्णि	१३ ई० पू०	से ३ ई० पू०	१० वर्ष
(४)	पुलुमायी	३ ई० पू०	से २१ ई०	२४ वर्ष
(५)	अरिष्टकर्ण	२१ ई०	से ४६ ई०	२५ वर्ष
(६)	हाल	४६ ई०	से ५१ ई०	५ वर्ष
(७)	पत्तलक	५१ ई०	से ५६ ई०	५ वर्ष
(८)	पुरीन्द्रसेन	५६ ई०	से ७७ ई०	२१ वर्ष
(९)	सुन्दर	७७ ई०	से ७८ ई०	१ वर्ष
(१०)	चकोर	७८ ई०		½ वर्ष
(११)	शिवस्वाति	७८ ई०	से १०६ ई०	२८ वर्ष
(१२)	गौतमीपुत्र	१०६ ई०	से १३७ ई०	३१ वर्ष
(१३)	पुलुमायी द्वितीय	१३७ ई०	से १६५ ई०	२८ वर्ष
(१४)	शिवश्री	१६५ ई०	से १७२ ई०	७ वर्ष
(१५)	शिवस्कन्द	१७२ ई०	से १७५ ई०	३ वर्ष
(१६)	यज्ञश्री	१७५ ई०	से २०४ ई०	२९ वर्ष
(१७)	विजय	२०४ ई०	से २१० ई०	६ वर्ष
(१८)	चन्द्रश्री	२१० ई०	से २२० ई०	१० वर्ष
(१९)	पुलुमायी तृतीय	२२० ई०	से २२७ ई०	७ वर्ष
				२७३½ वर्ष

दक्षिण कोशल के सातवाहन वंशीय राजाओं की सूची तथा उनका राज्यकाल

(१)	पूर्णोत्संग	१८ वर्ष
(२)	स्कन्धस्तम्भि	१८ वर्ष
(३)	सातकर्णि	५६ वर्ष
(४)	लम्बोदर	१८ वर्ष
(५)	आपीलक	१२ वर्ष
(६)	मेघस्वाति	१८ वर्ष
(७)	स्वाति	१८ वर्ष
(८)	स्कन्धस्वाति	७ वर्ष
(९)	मृगेन्द्र सातकर्णि	३ वर्ष
(१०)	कुन्तल सातकर्णि	८ वर्ष
(११)	स्वातिकर्ण	१ वर्ष
		१७७ वर्ष

विक्रमादित्य का ऐतिहासिक अस्तित्व

राम और कृष्ण के बाद भारतीय जनमानस मे यदि कोई सबसे अधिक प्रचलित और विख्यात नाम है तो वह विक्रमादित्य है। विक्रमादित्य की न्यायप्रियता, भेष बदलकर प्रजा मे घूमना और उनके कष्टों का निवारण करना, परदु.ख भजनार्थ कितना भी कष्ट उठाना पड़े उसकी परवाह न करना, दूसरो की सहायता करने के निमित्त यदि प्राणोत्सर्ग भी करना पड़े तो वह भी सहर्ष करने को उद्यत रहना आदि विशेष गुणो पर आधारित हजारो कथाएँ जनमानस मे प्रचलित हैं। जिस प्रकार राम और कृष्ण जनमानस में रमे हुए हैं उसी प्रकार अपने गुणो के कारण विक्रमादित्य भी। विक्रम से सम्बन्धित हजारो आख्यानो मे उनके अनुपम शौर्य, नीतिज्ञता और चातुर्य के बडे अनूठे दृष्टान्त भरे पड़े हैं। बुन्देलखण्ड मे विक्रमादित्य पर लोक-कथाओ की बड़ी भरमार है। वहाँ तो विक्रमादित्य का नाम आते ही "चौदा विद्या के निधान, पर दु ख के मेटनहार राजा बीर बिकरमाजीत" शब्दों का प्रयोग हठात कर दिया जाता है। विक्रम से सम्बन्धित लोक-कथाएँ सम्मानप्रद और शुभ समझी जाती हैं। इन कथाओ की लोकप्रियता का एक कारण उनमे निहित साम्य योग है। ये कथाएँ राजा-रानी, राजकुमार-राजकुमारी का ही केवल चित्रण प्रस्तुत नही करती, इनमे गड़रिया, धोबी, नाई, जोगी, सिपाही, चिमऊँ चोर, कलिमा भगिन आदि का वर्णन भी उतने ही परिमाण मे मिलेगा जितना कि किसी राजा-रानी का। इन कथाओ के पात्रो का पारस्परिक सम्पर्क विविध वर्गों की समता का बड़ा अद्भुत सन्देश प्रदान करता है। लोक कथाओ मे विक्रम की परदु.ख कातरता प्रजापालकता, उदारता, वैभव, पराक्रम और प्रभाव के बड़े ही सजीव चित्रण हैं। विक्रमादित्य जनश्रुति के एक परम आदर्शवान राजा थे जिनकी मिसाल मिलना कठिन है।

जिस राजा के सम्बन्ध मे लोक-कथाओं का इतना अतुल भण्डार उपलब्ध है, जो राजा जन-जन मे इतना प्रसिद्ध है पाश्चात्य ऐतिहासिक लोग उसके अस्तित्व मे विश्वास नही करते। वे उसे कल्पनाजगत का नायक ही मानते हैं। कदाचित जनश्रुति के अतिरजित वर्णनो के कारण उन्होने अपनी धारणा इस प्रकार की बनाई हो।

विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने का आधार विक्रम सम्वत् है। विक्रम संवत का प्रयोग उनके अस्तित्व की प्रबल दलील है। प्रतिष्ठान के राजा हाल की सप्तशती मे विक्रमादित्य का उल्लेख होना इस बात का द्योतक है कि उनकी इससे भी पहले अर्थात् ईसा पूर्व पहिली शताब्दी मे उत्पत्ति सम्भव है।

सप्तशती में उल्लेख इस प्रकार है, "विक्रमादित्य नामी उदार एवं प्रतापी राजा ने भृत्यों को लाखों का उपहार दिया।" विक्रम का अस्तित्व ईसा पूर्व पहिली शताब्दी में ही सिद्ध होता है। विक्रम सम्वत् और ईसवी सन् में ५७ वर्ष का अन्तर है, विक्रम सम्वत् ईसवी सन् से ५७ वर्ष पूर्व प्रचलित हुआ था और यह निश्चय ही है कि यह विक्रमादित्य द्वारा किसी महान् विजय के उपलक्ष में प्रवर्तित किया गया था। इस प्रकार विक्रम का ऐतिहासिक अस्तित्व ईसा पूर्व पहिली शताब्दी में सिद्ध होता है। खुदाई मे सिक्के और शिलालेख आदि के केवल न निकलने से ही विक्रमादित्य के अस्तित्व को अस्वीकार नही किया जा सकता। अनुसन्धान के आधार पर नित्य नये तथ्यों का उद्घाटन होता रहता है। जिस महापुरुष के सम्बन्ध मे इतनी अनुश्रुति विद्यमान है उसके विषय मे अद्यतन मान्यता प्राप्त साक्ष्य भी शीघ्र ही प्रस्तुत होंगे।

विक्रमादित्य के विषय में एक उल्लेखनीय अनुश्रुति सोमदेव भट्ट रचित कथासरित्सागर में है। कथा सरित्सागर गुणाढ्य रचित बृहत्कथा पर आधारित है। गुणाढ्य सातवाहन सम्राट हाल का समकालीन था जो ईसवी पहिली शताब्दी मे हुआ था। कथासरित् सागर में लिखा है कि विक्रमादित्य उज्जैन के राजा थे। उनके पिता का नाम महेन्द्रादित्य और माता का नाम सौम्यदर्शना था। महेन्द्रादित्य के जब बहुत समय तक कोई पुत्र न हुआ तो उन्होंने शिव की आराधना की। उस काल मे पृथ्वी पर धर्म का लोप हो रहा था और शकों के रूप मे म्लेच्छों का आधिपत्य एवं अत्याचार बढ़ रहा था। धर्म की पुनर्संस्थापना की दृष्टि से देवताओं ने भी शिव का आह्वान किया। शिव ने अपने गण माल्यवान को आदेश दिया, "तुम मेरे भक्त महेन्द्रादित्य के यहाँ पुत्ररूप से उत्पन्न हो जाओ और पृथ्वी का भार उतारो।" उधर शिवजी ने महेन्द्रादित्य को वरदान दिया, "तुम्हारे पुत्र होगा और तुम उसका नाम विक्रमादित्य रखना" सोमदेव ने विक्रमादित्य का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वह पितृहीनों का पिता, बन्धुहीनो का बन्धु, अनाथों का नाथ और प्रजाजन का सर्वस्व था।

विक्रमादित्य सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण अनुश्रुतियाँ जैन ग्रन्थो मे भी हैं। मेरुतुंगाचार्य रचित पदावली के अनुसार महावीर निर्वाण सम्वत् के ४७० वे वर्ष में विक्रमादित्य ने शको का उन्मूलन कर सम्वत् की स्थापना की। इसका समर्थन प्रबन्धकोष एवं धनेश्वर सूरि रचित शत्रुंजय महात्म्य से भी होता है।

एक जैन अनुश्रुति इस प्रकार है। -जैन साधु कालकाचार्य और उनकी बहिन साध्वी सरस्वती उज्जयिनी मे रहते थे। उस समय, वहाँ गर्दभिल्ल नाम

का एक राजा राज्य करता था। साध्वी सरस्वती परिव्राजिका होते हुए अपूर्व सुन्दरी थी। गर्दभिल्ल उसके सौंदर्य पर आसक्त हो गया। अन्य ग्रन्थों में भी गर्दभिल्ल के विषयी और विलासी होने के उल्लेख मिले हैं। गर्दभिल्ल ने अपनी वासना को तृप्त करने के लिए साध्वी सरस्वती को बलात् अपने अन्त:पुर में बुलवा लिया। कालकाचार्य ने गर्दभिल्ल को बहुत समझाया, अनुनय-विनय की परन्तु वह न माना। अत: कालकाचार्य ने उसका नाश करने के हेतु सिन्ध की राह ली जहाँ शाही वंश के राजा राज्य करते थे। कालकाचार्य की प्रेरणा से शकराजा ने गर्दभिल्ल से युद्ध ठाना जिसमें गर्दभिल्ल की पराजय हुई और वह भाग खड़ा हुआ। साध्वी सरस्वती मुक्त हुई। शकराजा का राज्य भी अधिक दिनों तक न चला। पट्टावली के अनुसार गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों का वंशोच्छेद कर दिया और प्रजाजनों को अनेक प्रकार के दानो द्वारा ऋण रहित कर दिया।

कुछ पुरातत्ववेत्ताओं ने गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को और कुछ ने गौतमी पुत्र सातकर्णि को विक्रमादित्य माना है परन्तु गुप्तवंशीय सम्राट चतुर्थ शताब्दी में और सातवाहन सम्राट दूसरी शताब्दी मे हुए हैं। निस्सदेह इन दोनो सम्राटो ने अपना विरुद विक्रमादित्य धारण किया था। उस काल में विक्रम के गुणो की इतनी चर्चा थी और जनता उनसे इतनी प्रभावित थी कि सम्राटों द्वारा इस विरुद का धारण किया जाना महत्वपूर्ण समझा जाता था। यह विरुद उस अपार यश और वैभव का द्योतक था जिसका श्रेय जनश्रुति में लोकप्रिय राजा विक्रमादित्य को था। इस विरुद को धारण करने की परम्परा ई० पू० पहली शताब्दी के पहिले के सम्राटो में न थी। होती भी कहाँ से, विक्रमादित्य तो ई० पू० पहिली शताब्दी मे ही उत्पन्न हुए थे। उनके समय के बाद के अनेक सम्राटों ने इस विरुद को धारण किया। विक्रमादित्य के नाम के साथ एक महत्व और आभा संलग्न थी और यही कारण था कि उनके अनेक परवर्ती भारतीय सम्राटो ने विक्रमादित्य नाम की उपाधि धारण की और अपने आपको गौरवान्वित किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजधानी पाटलिपुत्र थी, वे मगध के सम्राट थे यद्यपि अवन्ति-प्रदेश जिसकी कि उज्जयिनी एक नगरी थी उनके अधीन था। इस बात का कोई उल्लेख नही मिलता कि चन्द्रगुप्त ने कभी उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाया हो। इससे यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य से भिन्न व्यक्ति हैं। इसी भांति सातवाहन सम्राट सातकर्णि महाराष्ट्र के थे, उज्जयिनी उनकी राजधानी कभी नही रही। उनके भी मूल विक्रमादित्य होने का कोई प्रश्न ही नही उठता।

कुछ विद्वान् विक्रमादित्य को मालव गण नायक मानते हैं। सम्भव है कि वे मालवगणो के गणाध्यक्ष अथवा गणमुख्य हों। महाभारत काल में श्रीकृष्ण भी वृष्णियो के गणमुख्य थे।

विक्रमादित्य के प्रख्यात नवरत्नो के काल का तिथिक्रम निर्धारित करते हुए भी नवीनतम मान्यताएं यही हैं कि विक्रमादित्य ई० पू० पहिली शताब्दी मे हुए थे और ये रत्न उन्ही की राजसभा के थे। विक्रमादित्य के प्रख्यात नवरत्न इस प्रकार हैं— १. धनवन्तरि २. क्षपणक ३. अमरसिंह ४. शंकु ५. वैतालभट्ट ६. घटखर्पर ७. कालिदास ८. वराह मिहिर ९. वररुचि।

कालिदास और विक्रमादित्य समकालीन थे। कालिदास को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के साथ जोडना असङ्गत है। जयशंकर प्रसाद ने अनेक तर्कों से यह सिद्ध किया है कि कालिदास ईसा पूर्व पहिली शताब्दी में ही हुए थे। कालीदास की लिखी नाटको की भाषा उसी काल की थी। कालिदास ने अपने नाटको में चन्द्रगुप्त का कही उल्लेख नही किया है। अन्य नवरत्नो की तिथि सम्बन्धी गवेषणा से यह भली-भांति स्थिर हो जाता है कि ईसा पूर्व पहिली शताब्दी में कोई प्रतापी राजा उज्जैन मे अवश्य राज्य करता था। इन रत्नों का काल भी समीक्षा और विश्लेषण से उसी समय का ठहरता है जो एक दूसरे का पूरक है।

विक्रमादित्य के ही विक्रम सम्वत् का प्रवर्तक होने का एक यह प्रमाण भी है कि इस सम्वत् से पूर्व अर्थात् ई० पू० पहिले किसी भारतीय सम्राट अथवा महाराजाधिराज ने विक्रमादित्य विरुद को धारण नही किया जैसे अजातशत्रु, प्रद्योत, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, पुष्यमित्र आदि ने विक्रमादित्य की उपाधि को अपने नाम के साथ नही जोडा। ई० सन् के पश्चात् भारत के महाराज और सम्राट जैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त, शीलादित्य, यशोधर्मन, हर्षवर्द्धन् आदि विक्रमादित्य की उपाधि को धारण करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यह परम्परा ई० पू० पहिली शताब्दी के बाद ही विकसित हुई।

जिस प्रकार वैदिक काल में अश्वमेध यज्ञ महत्वपूर्ण विजयों के उपलक्ष में किया जाता था और उसका करता एक विशाल राज्य के अधिपति होने का सूचक होता था उसी प्रकार विक्रमादित्य के परवर्ती काल में महान सम्राट इस विरुद को धारण कर उतने ही गौरवशाली समझे जाते थे जितने कि उनके पूर्ववर्ती अश्वमेध कर्ता वैदिक कालीन सम्राट। उदाहरण के लिए पुष्यमित्र शुंग ने अश्वमेध यज्ञ किया परन्तु विक्रमादित्य की उपाधि धारण नही की।

गुप्त वंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अश्वमेध यज्ञ नही किया परन्तु उसने विक्रमा[ि]
की उपाधि धारण की ।

ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में पंजाब में मालव नामक गणराज्य
जिसके लोग अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। सिकन्दर का मालवो के गणर
से युद्ध होना एक ऐतिहासिक घटना है। इस युद्ध मे सिकन्दर ने मालवो
वीरता का लोहा मान लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपना अधिक
क्षेत्र बढाने के अभिप्राय से मालवगण पजाब से चलकर राजपूताने में बस ग
जयपुर राज्य के करकोट नगर मे ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के मालव जाति
सिक्के मिले हैं जिन पर मालवानाजय अंकित हो रहा है। इससे माल
का पजाब छोड़कर राजपूताना मे बसना सिद्ध होता है। मालव लोग कालान
मे राजपूताने से भी चलकर वर्तमान मालवा मे आ बसे। इस प्रदेश का न
उनके नाम पर ही मालवा पड़ा। मालवो के इस गणराज्य के अधिपति
वे विक्रमादित्य थे जिन्होंने ईसा से ५७ वर्ष पूर्व अपना सम्वत् चलाया। जै
ऊपर लिखा जा चुका है इस सम्वत् की स्थापना शको के ऊपर हुई विजय
उपलक्ष में की गई थी।

ख्यातो के अनुसार विक्रम उज्जयिनी के राजा गन्धर्वसेन के पुत्र थे
अपने बड़े भाई शंख को अपदस्थ कर वे राजा बने कुछ काल बाद अप
राज्य छोटे भाई भर्तृहरि को देकर भ्रमण को चले गये। भर्तृहरि के सन्या
होने पर उन्होंने पुनः राज्य काज सम्हाल लिया। उन्होंने ६० वर्ष पर्यं
राज्य किया। उनके पुत्र विक्रमचरित्र उर्फ धर्मादित्य ने ४० वर्ष राज्य किया
उनकी बहिन का नाम मैनावति था और गौड़ देश के अधिपति गोपीच
उनके भान्जे थे।

विक्रम सम्बन्धी साहित्य देश की अनेक भाषाओं मे प्रचुरता के सा
विद्यमान है। पैशाची, प्राकृत, अर्द्धमागधी, संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजरा
बगला आदि सभी भाषाओं मे विक्रम सम्बन्धी अनेक कथाएँ, कहानियाँ आ
बड़ी सख्या मे उपलब्ध हैं। बेताल पच्चीसी और सिंहासन बत्तीसी नाम
दो पुस्तकें तो विक्रम के अतुलित शौर्य, औदार्य एव अनेक मानवीय गुणों
चरमोत्कर्ष का वर्णन करती हैं। विक्रम सम्बन्धी आख्यायिकाएँ भारती
लोकसाहित्य का एक विशिष्ट अङ्ग हैं।

शक-क्षत्रप और कुषाण काल

ईसा से लगभग २५० वर्ष पूर्व भारत पर विदेशियों ने आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। चार सौ से भी कुछ अधिक वर्षों तक भारत के अनेक प्रदेशों पर यवन, शक, पार्थियन और कुषाण लोगो का आधिपत्य रहा। परन्तु खूबी की बात यह रही कि भारत में आकर इन विदेशी जातियों ने इस देश की सभ्यता, संस्कृति, भाषा और यहाँ तक कि धर्म को भी अंगीकार कर लिया था। उस काल में यहाँ बौद्ध, भागवत, शैव, जैन, आदि धर्म प्रचलित थे। विदेशियों ने इन्ही भारतीय धर्मों की दीक्षा ली। उन्होंने प्राकृत और संस्कृत भाषा का प्रयोग किया और उनके यहाँ आने के बाद उन पर भारतीय संस्कृति का ऐसा रङ्ग जमा कि वे पूर्ण रूपेण भारतीय बन गये। बहुत से विदेशी लोगों ने तो अपने नाम भी भारतीय रखने शुरू कर दिये।

अशोक की मृत्यु के बाद भारत का शासनसूत्र निर्बल होता चला गया। अनेक राजा लोग जो अशोक के काल मे उसका आधिपत्य स्वीकार करते थे अब स्वतन्त्र हो चुके थे। यद्यपि वे स्वतन्त्र रूप से शक्तिशाली थे परन्तु संगठन के अभाव में बाहरी शक्ति के आगे पृथक् रूप से टिक नही पाते थे। डिमीट्रियस ने जिसका भारतीय नाम दिमित या दिमित्र है पुष्यमित्र शुंग के समय मे भारत पर आक्रमण किया। दिमित्र के वंश के प्रसिद्ध राजा मेनेण्डर ने भारत पर ११० ई० पू० में चढ़ाई की। उसने साकल (वर्तमान स्यालकोट) पर अपना अधिकार जमा लिया। मेनेण्डर को बुद्ध साहित्य मे मिलिन्द लिखा है। मिलिन्द ने बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया था और वह एक दार्शनिक विद्वान था। उसके पास विशाल धन और सुसंगठित सेना थी। मेनेण्डर ने ईसापूर्व १५५ में काठियावाढ से मथुरा तक का देश अपने अधिकार में कर लिया और आगे बढकर पाटलिपुत्र पर भी आक्रमण किया।

यवन (यूनानी) और पार्थियन राजाओं द्वारा प्रचलित मुद्राओ से ज्ञात होता है कि वे लोग हिन्दू धर्म और सभ्यता के प्रति नतमस्तक होकर बड़ी संख्या में ब्राह्मण या बौद्ध धर्म को स्वीकार कर रहे थे। बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्द पन्हो में मेनेण्डर को मिलिन्द के नाम से उच्चारण किया गया है और उसमे मिलिन्द द्वारा किये गये बौद्ध धर्म सम्बन्धी प्रश्नो और जिज्ञासाओं का उल्लेख है।

इसी काल में शकों ने उत्तरी और पश्चिमी भारत में एक सुदृढ राज्य स्थापित कर लिया था, उसमें पंजाब, सिन्ध, संयुक्त प्रान्त (आधुनिक

उत्तर प्रदेश) राजपूताना तथा दक्षिणी भारत के उत्तरी भाग शामिल थे। मोगा या मौस प्रथम शैव राजा था जिसने कन्धार (आधुनिक अफगानिस्तान) और पंजाब पर राज्य किया। मथुरा और तक्षशिला के क्षत्रप उसके आधीन थे। उसके अधीनस्थ एक क्षत्रप दक्षिण मे भी राज्य करता था जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।

ईसवी सन के आस-पास पार्थियन लोग भी भारत मे आये। चूंकि ये ईरान होकर आये थे इसलिये ये ईरानी सस्कृति से प्रभावित थे। ये लोग भारत में आकर इन्डोपार्थियन कहलाये और इन्होंने शको को परास्त कर अपना राज्य स्थापित किया। इस जाति का गोडोफरनीज राजा प्रसिद्ध हुआ है। इन लोगो का राज्य कई प्रान्तो मे था और प्रत्येक प्रान्त का शासक एक क्षत्रप था। कई क्षत्रपों ने अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर स्वाधीन राज्यो की स्थापना की। इस प्रकार के क्षत्रपो में तक्षशिला, मथुरा, उज्जयिनी और सौराष्ट्र के क्षत्रप उल्लेखनीय हैं। उपरोक्त विदेशी क्षत्रप और महाक्षत्रपों ने अपने राज्य पहिली ईसवी सदी मे स्थापित किये थे। ये लोग बहुत शीघ्र हिन्दू सभ्यता के प्रभाव मे आ गये। जूनागढ़ से प्राप्त शिलालेखों से ज्ञात होता है कि इनका शासन हिन्दू पद्धति और सिद्धान्तों के अनुसार था। राजा अमात्यो की सलाह से शासन करता था, अमात्यो को राज्य के हित मे स्वतन्त्रमत देने का अधिकार था। शकराज नहपान के जामाता उषवदात द्वारा देवताओ और ब्राह्मणो को सोलह गाँव दिये जाने, एक लाख ब्राह्मणो को एक वर्ष तक नित्य भोजन कराने, प्रजाजनो के लिये सराय, कुए, तालाब, बाग, घर, प्याऊ, सभा-भवन आदि बनाये जाने के प्रमाण मिलते हैं। एक गाँव की आमदनी सन्यासी मात्र के लिये चाहे वह किसी धर्म का क्यो न हो लगादी गई थी। क्षहरात वशी महाक्षत्रप नहपान का राज्य ४०, ४५ वर्ष तक रहने का उल्लेख मिलता है। नहपान के सम्बन्ध में हजारो सिक्के पश्चिमी भारत मे प्राप्त हुए हैं।

पश्चिमी क्षत्रपो के वश का सस्थापक चष्टन था। उसने सातवाहन राजा पुलोमावि से कुछ प्रदेश छीन लिया। चष्टन ने अन्य प्रदेश भी युद्ध मे जीतकर अपने राज्य मे मिला लिये तथा सन् १४० ई० के लगभग उज्जयिनी को अपने अधिकार मे ले लिया। रुद्रदामा चष्टन का पौत्र था और एक प्रतापी शासक था। उसने सातकर्णि सम्राट के राज्य का दक्षिणी भाग छीन कर अपने राज्य मे मिला लिया। रुद्रदामा एक सुशिक्षित शासक था। वह व्याकरण, राजनीति, सगीत और तर्कशास्त्र का विद्वान था। उसका स्वभाव दयालु तथा शिष्टाचार पूर्ण था। रुद्रदामा ने सुदर्शन झील नामक बांध की

मरम्मत कराने में बहुत सा धन व्यय किया। इस झील को चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने शासनकाल मे बनवाया था। रुद्रदामा तथा अन्य शक राजाओ के जीवन चरित्र तथा शासन पद्धति से ज्ञात होता है कि विदेशियो पर हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता का कितना जबर्दस्त प्रभाव पड़ा, वस्तुतः उन्होंने हिन्दू सभ्यता को अंगीकार ही कर लिया था।

पार्थियन लोगों की शक्ति का केन्द्र पश्चिमी गांधार था अतः उनका संघर्ष कुशाणवंशीय विदेशी जातियो से हुआ। इस संघर्ष में पार्थियन पराजित हुए और कुषाणो ने भारत के विस्तृत प्रदेशो पर अपना साम्राज्य स्थापित किया।

कुषाण वंशी लोग यूची जाति के थे। इनके राजा राजाधिराज महाराजा कहलाते थे। कुषाण साम्राज्य हिन्दुस्तान के बाहर भी फैला हुआ था।

कुषाण जाति के सरदार कुजुल कैडफाइसिस प्रथम ने २५ ई० के लगभग कंधार (अफगानिस्तान) और पंजाब के कुछ प्रदेश अपने वश में कर लिये। उसका राज्य ईरान की सीमा से लेकर सिन्धु नदी तक फैला हुआ था। उसके राज्य मे बुखारा और आधुनिक अफगानिस्तान सम्मिलित थे। कुजुल का पुत्र वेम कैडफाइसिस भी बड़ा पराक्रमी था, उसने न केवल पंजाब वरन् दुआबा को भी अपने अधिकार में कर लिया तथा पूर्व में अपने राज्य को वाराणसी तक बढ़ा दिया। उसके बाद सन् १२८ ई० मे कनिष्क राज्याधिकारी हुए। उन्होंने एक बडा साम्राज्य स्थापित किया जो काबुल से वाराणसी पर्यन्त तथा दक्षिण में विन्ध्य पर्वत तक फैला हुआ था उन्होंने काश्मीर पर विजय प्राप्त की और वहाँ एक नगर बसाया। उस नगर के स्थान पर वहाँ अब भी एक गाँव है जिसको कनिष्कपुर कहते हैं। कुषाणों का पार्थियन लोगो से विशेष संघर्ष कनिष्क के समय में ही हुआ जिसमें पार्थियन पूर्ण रूप मे परास्त हुए। कनिष्क ने चीनी तुर्किस्तान पर विजय प्राप्त कर उसे अपने अधिकार मे कर लिया। इस विजय से काशगर, यारकन्द और खोतान जो चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत प्रदेश थे महाराज कनिष्क के अधिकार मे आ गये। कनिष्क ने पुरुषपुर (पेशावर) नामक नगर का निर्माण किया और उसी को अपनी राजधानी बनाया। वहाँ उन्होंने एक विशाल चैत्य का निर्माण कराया जिसे देखकर विदेशी लोग भी आश्चर्य चकित हो जाते थे। वेम कैडफाइसिस तक कुषाण सम्राट चीन की प्रभुसत्ता मानकर उसको कर दिया करते थे। परन्तु महाराज कनिष्क ने चीन को कर देना बन्द कर दिया और चीन के राजकुमार बन्धक के रूप मे कनिष्क के दरबार मे रहा करते थे।

महाराज कनिष्क पूर्णरूपेण हिन्दू संस्कृति के रङ्ग में रंगे हुए थे। हिन्दू सभ्यता की विदेशियों को आत्मसात् करने की क्षमता का इससे अच्छा प्रमाण क्या हो सकता था ? 'भारत के हिन्दू साम्राट' शीर्षक पुस्तक में श्रीयुत् चन्द्रराज भण्डारी लिखते हैं, "यद्यपि महाराज कनिष्क हिन्दू नही थे और उनके पूर्वज तुर्किस्तान की ओर से आये थे तथापि एक प्रकार से उन्हें हिन्दू ही कहा जाय तो अनुचित न होगा। ये लोग भारतीय धर्म और भारतीय सभ्यता के उतने ही उपासक थे जितने मूल हिन्दुस्तानी हुआ करते हैं। यद्यपि महाराज कनिष्क ने बौद्ध धर्म के प्रचार में सम्राट अशोक की भांति अपूर्व योगदान दिया तथापि इनके समय की कई मुद्रायें ऐसी भी मिलती हैं जिनसे इनके शैवमतावलम्बी होने का पता चलता है। धर्म और सभ्यता की दृष्टि से इन्हें हिन्दू ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।"

बुद्ध के बाद बौद्ध धर्म में दम्भ का प्रवेश हो गया। लोग नये-नये ढङ्ग से बौद्ध धर्म का प्रतिपादन करने लगे। धर्म का स्वरूप निश्चय करने के लिये अशोक की भांति महाराज कनिष्क ने भी काश्मीर मे कुण्डलवन नामक स्थान पर बौद्धों की एक महती सभा की। इस सभा के फलस्वरूप बौद्ध धर्म के दो *सम्प्रदाय हो गये। (१) हीनयान (२) महायान। महात्मा बुद्ध के सरल* सिद्धान्तो को धर्म दर्शन मानने वालो की सख्या कम थी इसलिये उनके सम्प्रदाय का नाम 'हीनयान' पडा। महात्मा बुद्ध को भगवान का अवतार मानकर उनकी प्रतिमा की उपासना करने वालो की सख्या अधिक थी अतः उनके सम्प्रदाय का नाम 'महायान' हुआ। स्वयं महाराज कनिष्क महायान सम्प्रदाय के *अनुयायी* थे।

कनिष्क को उच्च उपाधियो का शौक था उसने न केवल भारतीय उपाधियां अपितु ईरानी, चीनी और रोमन उपाधियां भी धारण की थी। उसकी उपाधियों मे महाराज राजातिराज भारतीय, शाओननशाओ (शाहानुशाह) ईरानी, देवपुत्र, चीनी और कैसर रोमन उपाधियां थी। कनिष्क ने *लगभग २४ वर्ष राज्य किया। विदेशी होते हुए भी उसने भारत को ही* अपना राज्य बना लिया था और उसके द्वारा बौद्ध धर्म की ही नही अपितु भारतीय संस्कृति की भी महती उन्नति हुई। बौद्ध हो जाने के बाद भी कनिष्क की सब धर्मों में श्रद्धा थी।

कनिष्क के विशाल साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशो के शासन लिए क्षत्रप नियुक्त थे। मथुरा में महाक्षत्रप खर पल्लान, बनारस मे क्षत्रप वनस्पर तथा मालवा गुजरात काठियावाड मे भूमक, लल आदि क्षत्रपो के उल्लेख मिलते हैं।

विदेशी आक्रमणकारियों को यहाँ के उदार समाज ने अपनी सभ्यता में आत्मसात् कर लिया। कुशाण सम्राटो ने बौद्ध और शैव धर्म ग्रहण किया वासुदेव ने तो अपना नाम ही भारतीय रक्खा। नहपान की पुत्री का नाम दक्षमित्रा था और उसके जामाता का ऋषभदत्त या उषवदात। चष्टन के पुत्र और पौत्र के नाम क्रमश: जयदामन् और रुद्रदामन् थे जो कि विशुद्ध भारतीय नाम थे। पह्लव नरेश गुहफर्न का भारतीय नाम देवव्रत था।

कुशाण शक काल मे संस्कृत साहित्य की बडी उन्नति हुई। प्रसिद्ध संस्कृति कवि अश्वघोष ने बुद्ध चरित नामक २८ सर्गो का एक महाकाव्य लिखा था जिसके १५ सर्गों का इस समय कोई पता नही है। महायान सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य नागार्जुन ने मूलमध्यम कारिका ग्रन्थ लिखकर माध्यमिक दर्शन का प्रतिपादन किया। आयुर्वेद पर चरक सहिता नामक महान् ग्रन्थ का प्रणेता चरक भी इसी काल में हुआ था।

महाराज कनिष्क की मृत्योपरान्त उनके पुत्र हुविष्क राज्यसिंहासन पर विराजे। उन्होंने सन् १३८ ई० तक राज्य किया। हुविष्क के वाशिष्क उत्तराधिकारी हुए। उन्होने काश्मीर मे अपने बाप के नाम पर हुविस्कपुर नामक नगर बसाया। कनिष्क के बाद साम्राज्य का ह्रास आरम्भ हो गया था। वासुदेव कुषाण वंश का अन्तिम राजा था। उसके शासन काल मे राज्य कई प्रदेशो में विभक्त हो गया। पश्चिमी क्षत्रप ज़ोर पकडने लगे और कुषाण वंशीय सम्राट साम्राज्य को छिन्न-भिन्न होने से न रोक सके। वासुदेव के बाद कई कुषाण वंशीय राजा हुए परन्तु उनका राज्य सीमान्त प्रदेश और काबुल घाटी तक ही सीमित था।

सामाजिक दशा

विदेशी लोग हिन्दू सभ्यता की आभा और उसकी शालीनता के प्रति नतमस्तक हो गये और उन्होने हिन्दू धर्म, सभ्यता और संस्कारो को अङ्गीकृत किया। उन्होने अपने नाम भी भारतीय रख लिये। उस काल मे धार्मिक सहिष्णुता जो हिन्दू धर्म का सदैव से एक विशिष्ट गुण रहा है प्रचुर मात्रा मे विद्यमान थी। कोई व्यक्ति हिन्दू होते हुए भी बौद्ध धर्म को मान सकता था और इसके लिये उसको जाति से च्युत करने की कोई व्यवस्था न थी। हिन्दू रहते हुए यदि कोई व्यक्ति बौद्ध या जैन धर्म का आचरण करे तो उसकी जाति या वर्ण मे कोई भेद उत्पन्न न होता था। विदेशी लोग बेधड़क होकर ब्राह्मण धर्म अङ्गीकार कर लेते थे और इससे किसी को कोई आपत्ति न थी। एक ब्राह्मण यदि चाहे तो बौद्ध भी रह सकता था। ब्राह्मण और बौद्धों

समान रूप से दान दिया जाता था और उनके मान-सम्मान में भी किसी प्रकार की द्विविधा न थी। राज्यसत्ता क्षत्रियों के हाथ में थी। ब्राह्मणों की स्थिति सम्मानास्पद थी। संकीर्णता नाम मात्र को न थी। सातकर्णि राजा यद्यपि ब्राह्मण वंश के थे तथापि उन्होंने शकवंश की राजकुमारियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। राजा लोग बौद्धों, और ब्राह्मणों को समान भाव से दान दक्षिणा दिया करते थे। दोनो धर्मों ने ही साथ-साथ उन्नति की। जिस प्रकार हिन्दुओ ने अनेक देवमन्दिर बनवाकर श्रीकृष्ण, विष्णु, शिव आदि की प्रतिमायें प्रतिष्ठापित की, उसी प्रकार बौद्धो ने बौद्धमठो का निर्माण कराया और उनमे बुद्ध की प्रतिमाओं की उपासना की। जैन लोगो ने भी अपने तीर्थङ्करो के मन्दिर बनवाये और उनमे जैन प्रतिमायें विराजमान की। बहुधा बौद्ध और जैन धर्मावलम्वी लोग मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह संस्कार आदि वैदिक रीतियो से करते थे।

आर्थिक दशा

जनता खुशी और समृद्ध थी। उस काल में उद्योग और व्यवसाय उन्नति पर था। मौर्य काल मे बनी व्यवसाय-समितियाँ अब भी गतिशील थी। बैङ्को की भांति वे लोगो को रुपया जमा रख कर उन्हें ब्याज देती थी तथा व्यवसाय के लिए ऋण भी दिया करती थी।

भारत का विदेशो से व्यापार जल व थल दोनों मार्गों से खुला हुआ था। भारत का जहाजी बेड़ा बडा मजबूत था और इसी कारण भारत की व्यापारिक दशा अच्छी थी। भारत से अनेक वस्तुओ का निर्यात होता था। मसाले, सुगन्धित पदार्थ, जडी बूटियाँ, रेशमी वस्त्र, चीनी के बर्तन आदि बडी सख्या मे विदेशो को भेजे जाते थे। मोतियों के निर्यात का व्यापार भी बड़ी कसरत से होता था। रोम की मुद्रायें बड़ी तादाद मे भारत मे मिली हैं। भारतीय मलमल रोमन स्त्रियो को बहुत पसन्द थी और इसी कारण यहाँ से रोम को मलमल का निर्यात बडी तादाद मे होता था। रोम की सुवर्ण मुद्रायें भारतीय मलमल के बदले मे आती थी। पश्चिमी देशों से जहाज भारत मे मलाबार के बन्दरगाहों और भडौंच तक आते थे।

मूर्तिकला

इस काल में बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा था। उसके स्थान पर भागवत धर्म उदीयमान हुआ। विष्णु, श्रीकृष्ण और शिव की मूर्तियाँ अगणित सख्या में बनने लगी, इससे मूर्तिकला की बडी उन्नति हुई। भारतीय शैली का यूनानियों के साथ सम्पर्क होने से एक नई शैली का प्रादुर्भाव हुआ।

नई शैली का नाम गन्धार कला है। इससे भारतीय शैली में कुछ परिवर्तन हुआ। भारतीय कृतियों में यूनानी भावो के सम्मिश्रण से नवीन शैली का बड़ा विस्मयकारी विकास हुआ। मथुरा मूर्तिनिर्माण कला का केन्द्र बना और यहाँ शिव और विष्णु की मूर्तियाँ बड़ी संख्या में निर्मित हुईं।

साहित्य और विदेश प्रचार

कनिष्क के दरबार में उस समय के सर्वश्रेष्ठ कवि अश्वघोष ने संस्कृत में बुद्धिचरित और सौन्दरानन्दम् आदि ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थो में संस्कृत काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्त होता है। अश्वघोष के वज्र शूची नामक ग्रन्थ में मनुष्यों की समता पर विशेष प्रकाश डाला गया है। शारद्वती पुत्र प्रकरण का ताड़पत्र चीनी तुर्फान में मिला है, उसके पढ़ने से विदित होता है कि एक क्षत्रिय ब्राह्मण को उपदेश दे सकता है। राज्य का काम सस्कृत भाषा में होता था। उस समय के ग्रन्थकारों ने चाहे वे वैष्णव, जैन बौद्ध कोई भी हो अपने ग्रन्थों की रचना संस्कृत भाषा में की। हाल नामी सातवाहन सम्राट ने सप्तशती प्राकृत भाषा में लिखी। बोलचाल की भाषा प्राकृत थी।

चूँकि भारतीय व्यापारी योरप, मिश्र, अफ्रीका आदि देशों को बड़ी सख्या में जाया करते थे अतः भारतीय धर्मों का प्रचार हुआ। व्यापारी लोग अपने साथ धर्म प्रचारक भी ले जाया करते थे। भारतीय ग्रन्थो का विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुआ। धर्मप्रचारकों के विदेशो में जाने के कारण भारतीय संस्कृति का भारत के बाहर भी प्रचार हुआ।

भारतीय उपनिवेश

उस काल में भारतीयों ने बडी संख्या में भारत के बाहर उपनिवेशों की स्थापना की। आजकल की तरह उस समय के हिन्दू अपनी संस्कृति से लज्जा का अनुभव नही करते थे। आज कल हम अल्पसंख्यकों के प्रति तुष्टिकरण की नीति के फलस्वरूप अपने आप को हिन्दू कहने मे एक प्रकार के सकोच का अनुभव करते हैं। अल्पसंख्यक धर्मान्धो की कराल भृकुटि से तो हम इतने भयभीत हैं कि उपनिवेश की बात तो कौन कहे हमारे मुँह से अपने धर्म, संस्कृति और सभ्यता की गरिमा के प्रति दो शब्द भी नही निकलते। हमारे इस नैतिक ह्रास ने इस देश को बड़ी क्षति पहुँचाई है। सच पूछा जाय तो यही मनोवृत्ति देश के सम्पूर्ण अहित की जड है। यह देश जो अन्य देशो की अपेक्षा पिछड़ा हुआ है उसका प्रधान कारण इसी सांस्कृतिक चेतना का अभाव है। अस्तु।

सुदूर पूर्व में अनेक भारतीय उपनिवेशों का प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिणी अनाम मे चम्पा नाम की नगरी बसाई गई। कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो में अनेक भारतीय बस्तियो का निर्माण हुआ। फुनाम मे कौण्डिन्य नाम के ब्राह्मण ने वहाँ की राजकुमारी से विवाह किया। इस विवाह के फलस्वरूप कौण्डिन्य का सारे प्रदेश पर अधिकार हो गया। इन उपनिवेशो मे भारत की प्रधान नगरियो के नाम पर नगर बसाये गये। भारत की अयोध्या, मथुरा, माया, कांची, उज्जयिनी आदि प्रसिद्ध नगरियों के नाम पर छोटी-छोटी नगरियाँ बन गई जिनका कुछ परिवर्तित स्वरूप आज भी मौजूद है। मध्य एशिया से प्राप्त भारतीय देवी देवताओं की मूर्तियो से विदित होता है कि भारतीय सभ्यता वहाँ भी प्रचलित हुई। भारतीय लिपि में लिखे हुए कुछ सिक्के भी वहाँ उपलब्ध हुए हैं। कुषाणवंश के महापराक्रमी सम्राट कनिष्क ने बौद्ध धर्म तिब्बत और चीन मे फैलाया जहाँ से उसका विस्तार कोरिया, जापान, मगोलिया, मचूरिया और साइबेरिया तक हो गया।

शक-क्षत्रप और कुषाणों का अन्त

यवन, शक, पार्थियन और कुषाण जाति के लोगो ने भारत में अनेक प्रदेशो पर अपना राज्य अवश्य स्थापित किया, किन्तु उनको इस देश की राज्य शक्तियो से निरन्तर युद्ध करना पड़ा। कलिङ्ग राज खारवेल ने उन यवन आक्रान्ताओ को खदेड़ा जो मथुरा और साकेत पर अपनी विजय का डङ्का बजाते हुए पाटलिपुत्र तक पहुँच गये थे। पुष्यमित्र शुङ्ग और उसके पौत्र वसुमित्र ने सिन्धु नदी के तट पर यवनो को परास्त किया और इस विजय के उपलक्ष मे महर्षि पतजलि के आचार्यत्व मे अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किया। सातवाहन वंश के सम्राट गौतमीपुत्र सातकर्णि ने शक आक्रान्ताओ को बुरी तरह पराजित किया। उन्होंने गुजरात और सौराष्ट्र के महाक्षत्रपों का उन्मूलन कर शकारि विक्रमादित्य की पदवी धारण की। मालव गणराज्यों ने भी शको को युद्ध मे परास्त किया और अपनी विजय के स्मारक स्वरूप ५७ ई० पू० से शक सम्वत् चलाया जो आज भी विक्रम सम्वत् के नाम से प्रचलित है।

कुषाणों का साम्राज्य प्रथम सदी ईसा पूर्व से ईसा के बाद दूसरी सदी तक चला। भारतीय राज्य शक्तियो से उनका भी संघर्ष हुआ। कुषाणों को अन्तिम रूप से नागभारशिव वश के पराक्रमी राजाओ के हाथ से पराजय का मुँह देखना पड़ा। नागभारशिव वशीय राजाओ ने अपनी विजय के उपलक्ष

में दश अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किये और उनकी स्मृति स्वरूप काशी में दशाश्वमेध घाट का निर्माण किया जो आज तक विद्यमान है। कुषाणों की शक्ति को नष्ट करने का श्रेय यौधेय, कुनिन्द, आर्जुनायन, मालव, शिवि आदि गणराज्यों को भी है। इन विविध राज्य शक्तियों के संघर्ष के परिणाम स्वरूप कुषाण वंश का साम्राज्य भारत में आगे नही चला और दूसरी शताब्दी में कुषाण सूर्य भारत मे अस्त हो गया।

भारशिव नागवंश

हिन्दू साम्राज्य का पुनर्गठन चौथी शताब्दी में गुप्तकाल के आरम्भ से नही माना जा सकता है और न वाकाटकों से ही, जो उनसे सौ साल पहिले हुए थे वरन् भारशिव नागों से माना जायगा जो उनसे भी पचास साल पहिले हुए थे। यदि भारशिव नाग न होते तो वाकाटक कहाँ से आते और यदि भारशिव नाग और वाकाटक न होते तो गुप्त-साम्राज्य कल्पनातीत होता। ताम्रलेखों, शिलालेखों और सिक्कों से इन दोनो साम्राज्यों का इतिहास भलीभांति प्रमाणित है। प्रचुरता से उपलब्ध पौराणिक सामग्री द्वारा भी इस काल की ऐतिहासिकता पुष्ट होती है।

प्रसिद्ध इतिहासकार विंसेन्ट स्मिथ ने वाकाटको और भारशिवों पर एक पंक्ति भी नही लिखी। उनकी यह धारणा कि भारतीय इतिहास मे आंध्रवंशीय राजाओ के बाद और गुप्तो के उदय के बीच का समय अन्धकार पूर्ण है एकदम निराधार और भ्रान्तिपूर्ण है। तथ्य तो यह है कि इस समय पर बडा विस्तृत इतिहास मिलता है।

भारत का साम्राज्य समुद्रगुप्त से पहिले ६० वर्ष तक वाकाटकों के हाथ मे रहा परन्तु वाकाटको को यह साम्राज्य भारशिवो से मिला था। वाकाटक सम्राट प्रवरसेन के पुत्र गौतमी-पुत्र का विवाह भारशिव सम्राट भवनाग की पुत्री के साथ हुआ था। यह वैवाहिक सम्बन्ध उस समय के इतिहास की बड़ी महत्वपूर्ण घटना थी। इससे दो राजवंशो की मैत्री परिपक्व हुई और तज्जन्य सम्मिलित प्रयास के आगे अहिन्दू कुषाण साम्राज्य अपने आपको सम्हाल न सका और छिन्न-भिन्न हो गया। इस विवाह-सम्बन्ध का उल्लेख सभी वाकाटक राजवंश के लेखो मे उपलब्ध होता है।

भारशिव लोग मूलतः बघेलखण्ड के निवासी थे। कौशाम्बी और काशी के मध्य किसी स्थान से इनका निकास था। वाकाटक लोग वागाट या वाकाट से जो बुन्देलखन्ड में ओरछा के उत्तरी भाग में एक ग्राम है निकले

प्रतीत होते हैं। अतः इनको भारशिवों का पड़ोसी ही समझना चाहिये। भारशिव लोग बघेलखण्ड से विन्ध्याचल होकर गंगातट पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने काशी में दस अश्वमेध यज्ञ किये। अश्वमेध यज्ञ तो हिन्दूशास्त्रों के विधान के अनुसार राजनीतिक विजयों के उपलक्ष में होते हैं। भारशिवों ने कुषाणों पर मार्मिक प्रहार किये और उनका आर्यावर्त से उन्मूलन कर दिया, इसी उपलक्ष मे उन्होंने काशी में गंगातट पर दस अश्वमेध यज्ञ किये थे और अपना राज्याभिषेक गंगा के पवित्र जल से किया था। जहाँ पर भारशिवों के यज्ञ संपन्न हुए थे वह स्थान उसी समय से दशाश्वमेध घाट कहलाता है।

भारशिवों ने जो कार्य उठाया वह अत्यन्त गौरवपूर्ण था। वे हिन्दू-साम्राज्य के पुनर्संस्थापक थे। उस समय हिन्दुओं पर शकों का राज्य था जिसको इतिहास में कुषाण साम्राज्य बोलते है। उस समय हिन्दूधर्म त्रस्त था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि आरम्भ में शकों ने हिन्दुओं पर बड़े अत्याचार किये, उन्होंने अनेक ब्राह्मणों की हत्या की, मन्दिरों को ध्वस्त किया। उनकी पाकशाला मे साँडो को पकाया जाता था। अल्बेरूनी का कहना है कि कुषाण लोग कहा करते थे कि हम लोग देवपुत्र हैं, हिन्दुओं पर राज्य करने का हमें ईश्वर की ओर से अधिकार मिला हुआ है। वे लोग मध्य एशिया के तुखार थे। ये बड़े नृशंस थे और इनका शासन भी कठोर था।

कुषाण साम्राज्य उस समय उस सारे प्रदेश पर था जिसको आजकल हम उत्तर-प्रदेश और बिहार कहते हैं। उस पर उनकी सत्ता और अधिकार सुदृढ़ था। इस प्रदेश में भारशिवो ने कुषाणों पर जो चोट लगाई उससे वे वहाँ से हटने को बाध्य हो गये। दक्षिणापथ के सातवाहन सम्राट पश्चिम शक-शक्ति से युद्धरत रहे परन्तु वे भी उतनी सफलता प्राप्त न कर सके थे जो भारशिवों ने उत्तरी भारत में की थी।

भारशिवो के आराध्यदेव शिव थे। जिस प्रकार शिवजी का जीवन योगियों और सन्यासियों का सा था उसी प्रकार भारशिवों का शासन योगियों का सा सरल था, उनके शासन-सूत्र अथवा रहन-सहन में किसी प्रकार की दिखावट न थी। उन्होंने संहारकर्ता शिव को अपना इष्ट माना। उनको सर्वत्र शिव ही शिव दिखाई देते थे। उन्होंने अपनी गतिविधियों से देश के राजनीतिक वातावरण को शिवमय कर दिया। उन्होने एक शक्ति सम्पन्न अहिन्दू साम्राज्य को ध्वस्त किया। दस अश्वमेध यज्ञ किये। कुषाणो की सिक्का पद्धति की अवहेलना करके हिन्दू रीति से सिक्कों का निर्माण स्वय किया और दूसरों से कराया। उन्होने हिन्दू प्रजातन्त्रो को स्वतन्त्र किया। भारत के

प्राचीन गणराज्यों को उनकी स्वाधीनता प्राप्त कराई। उन्होंने गणराज्यों को प्रत्येक प्रकार की सामर्थ्य और क्षमता प्रदान की जिसके कारण वे चाहें जिस प्रकार अपने सिक्के चला सकते थे। उन्होने अपने चारो ओर गणराज्य स्थापित किये। जिस प्रकार शिवजी अपने गणों से घिरे रहते हैं उसी प्रकार यत्र-तत्र बिखरे हिन्दू प्रजातन्त्र इनके गण थे और ये उनके संघ मुख्य अथवा संघनेता थे। वे स्वतन्त्रता का प्रचार और उसकी रक्षा करते थे। इनका जीवन योगियो और सन्यासियों जैसा था। उनके समय में बौद्ध धर्म पतनोन्मुख हो गया था। अब भिक्षुओं को अत्याचारियों के रूप मे देखा जाता था। डाक्टर काशीप्रसाद जी जायसवाल ने अपनी पुस्तक 'अन्धकार युगीन भारत' में उस समय के बौद्ध-धर्म की दशा का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है। वे लिखते हैं, "उन दिनों बौद्ध-धर्म मानों एक अत्याचारी वर्ग का पोष्यपुत्र बना हुआ था और जब उस वर्ग के अत्याचारों का निर्मूलन हुआ तब उसके साथ-साथ उस धर्म का अवश्य पतन हुआ होगा। बौद्ध धर्म उस समय राष्ट्रीयता के उच्चतल से पतित हो गया था। कुशनो के हाथ मे पडकर बौद्धधर्म ने अपनी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता नष्ट कर दी और वह एक राजनीतिक साधन बन गया था।

नागराज वंश का उत्थान सर्व प्रथम विदिशा में हुआ था। पुराणों मे विदिशा के नाग राजवंश को दो भागों में विभाजित किया गया है। (१) शुङ्गकालीन नाग राजागण (२) शुङ्गोत्तर कालीन नाग राजे।

पुष्यमित्र शुङ्ग का राज्यारोहण १८८ ई० पू० हुआ था। शुङ्गकाल ११२ वर्ष और कण्व वंश का काल ४५ वर्ष समझा जाता है। इस प्रकार १५७ वर्ष उपरान्त ३१ ई० पू० वर्ष तक शुङ्ग और कण्व दोनों काल समाप्त हो चुके थे। शुंगकालीन नाग-राजाओं का तिथिक्रम इस प्रकार है।

शेष	ई० पू०	११०—९०
भोगिन्	ई० पू०	९०—८०
रामचन्द्र	ई० पू०	८०—५०
धर्मवर्मन्	ई० पू०	५०—४०
वंगर	ई० पू०	४०—३१

उक्त ५ नाग राजाओं ने ई० पू० ३१ तक विदिशा में राज्य किया। इन नाग-राजाओं को शुंगकालीन कहा जाना चाहिये। सन् ३१ ई० पू० के बाद के नाग राजागण ने कदाचित् पद्मावती को अपनी राजधानी बनाया था। इन राजाओं मे सर्वप्रथम भूतनन्दी हुआ। भागवत के अनुसार

भूतनन्दी के समय से इस वंश की पुनः स्थापना हुई। शुंगोत्तरकालीन नाग राजाओं के नाम के पीछे नन्दी शब्द जुड़ा हुआ है। वायु पुराण में इन वैदिश नाग राजाओं को वृष अर्थात् शिव का नन्दी कहा गया है। यही कारण है कि उनके नामों के अन्त मे नन्दी शब्द आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारशिव उपाधि का सम्बन्ध भी वृष और नन्दी आदि उपाधियों पर ही आधारित है।

सन् ३१ ई० पू० से ७८ ई० तक शिलालेखों और सिक्कों के आधार पर भूत नन्दी से लेकर भूतनन्दी सहित ८ नाग राजाओं का उल्लेख मिलता है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) भूतनन्दी (२) शिशुनन्दी (३) यशः नन्दी (४) पुरुषदात (५) उत्तमदात (६) कामदात (७) भवदात (८) शिवनन्दी या शिवदात।

उपरोक्त वर्णन से विदित होता है कि सन् ११० ई० पू० से ७८ ई० तक लगभग दो सौ वर्षों मे १३ नाग राजाओ ने राज्य किया जिनमें पहिले पांच ने विदिशा को और दूसरे आठ ने पद्मावती को अपनी राजधानी बनाया। भूतनन्दी के वशज राजा शिवदात अथवा शिवनन्दी के समय तक और उसके बाद लगभग आधी शताब्दी तक अपनी राजधानी पद्मावती मे राज करते रहे।

अन्तिम राजा शिवनन्दी के शासनकाल के उपरान्त कुछ वर्ष बाद पद्मावती मे कुषाण क्षत्रपो का शासन स्थापित हो गया। उस काल मे नागों ने विदिशा और पद्मावती मे रहना छोड दिया और वहाँ से मध्य प्रदेश मे चले गये। उन्होने वहाँ की पहाडियो मे सुरक्षित रहकर पचास वर्ष तक राज्य किया। उनका उस काल में मध्य-प्रदेश के पुरिका और नागपुर नन्दिवर्द्धन नामक स्थानों मे राज्य था। पद्मावती में कुषाण क्षत्रप विन्वस्फाणि का शासन हो गया जो बडा शक्तिशाली था और जिसने अनेक युद्धो के उपरान्त बिहार तक अपना आधिपत्य स्थापित कर दिया था।

नागों के इस प्रकार मध्यप्रदेश को निष्क्रमण करने से इतिहास पर बडा प्रभाव पडा। इससे मध्यप्रदेश के विन्ध्यवर्ती आर्यावर्त का बुन्देलखण्ड से घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। बुन्देलखण्ड का एक भाग और दक्षिणापथ के नागपुर वाला भाग दोनो मिलकर एक हिन्दुस्तानी प्रदेश बने रहे हैं वहाँ के निवासियो की भाषा और संस्कृति पूर्णांश मे उत्तर भारत की हो गई। नागो के साठ वर्ष तक वहाँ रहने का ही यह ऐतिहासिक परिणाम है। कुषाण कालीन राज्यापहरण के कारण ही नागो को एक प्रकार से निर्वासित होकर यहाँ रहना पडा था। उन्होंने एक ओर तो नागपुर से पुरिका होशगाबाद तक

अपना सम्बन्ध बराबर स्थापित रक्खा, बघेलखण्ड रीवाँ से भी बराबर वे मिले ही रहे। इसी बघेलखण्ड से होते हुए उनके परवर्ती भारशिव नाग गंगातट पर पहुँचे थे।

भारशिव नागों को अपने अभियान में बड़ी सफलता मिली। उन्होने कुषाण साम्राज्य पर करारे प्रहार करके उसे हिला ही नहीं अदपस्थ भी कर दिया। अपनी महान् विजयों के उपलक्ष में उन्होने अश्वमेध यज्ञ भी किये। उनकी सफलताओं का उचित रूप से मूल्याङ्कन करने के लिए भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का कुछ दिग्दर्शन कराना आवश्यक है।

सन् ७८ ई० में इस देश में जो शक शासन (कुषाण राज्य) प्रचलित था उसकी विशेषता का वर्णन अल्बेरूनी ने इस प्रकार किया है, 'यहाँ जिस शक का उल्लेख है उसने आर्यावर्त में अपने राज्य के मध्य में अपनी राजधानी बनाकर सिन्धु से समुद्र तक के प्रदेश पर अत्याचार किया था। उसने हिन्दुओं को आज्ञा दे दी थी कि वे अपने आपको शक ही समझें और शक ही कहे, इसके अतिरिक्त अपने आपको कुछ न समझें या न कहें।"

गर्ग संहिता मे भी प्रायः इसी प्रकार की बात कही गई है। "शकों का राजा बहुत ही लोभी, शक्तिशाली और पापी था। इन भीषण और असंख्य शको ने प्रजा का स्वरूप नष्ट कर दिया था और उनके आचरण भ्रष्ट कर दिये थे।"

गुणाढ्य ने कथा सरित्सागर में कहा है "ये म्लेच्छ लोग ब्राह्मणो की हत्या करते हैं और यज्ञों और धार्मिक कृत्यों मे बाधा डालते हैं। भला ऐसा कौन सा अपराध है जो ये दुष्ट नही करते।" महाभारत के वन पर्व मे भारत के शक, पुलिन्द, यवन, कांभोज, वाल्हीक, शूर, आभीर राजाओ के शासन का उल्लेख है। उस वर्णन की बहुत सी बाते शकों के राज्य से मिलती-जुलती है।

देश की राजनीतिक स्थिति के इस संदर्भ में नाग सम्राट उस आन्दोलन के नेता बन गये थे जो कुषाणों के विदेशी शासन से स्वतन्त्रता प्राप्त करने को उठा था। नाग सम्राटो ने गणराज्यों का संरक्षण और सम्वर्द्धन किया। इन प्रजातन्त्रों का विस्तार गंगा की तराई के पश्चिम में एक ही विस्तृत क्षेत्र मे था। पूर्वी और पश्चिमी मालव प्रदेश, गुजरात, आभीर राजपूताना और पूर्वी पंजाब का एक अंश जो मद्र कहलाता था ये सब भू भाग प्रजातन्त्रों मे स्थित था। इनके अतिरिक्त यौधेय और मालव गण भी महत्वपूर्ण प्रजातन्त्र समझे जाते थे। समुद्रगुप्त के उदय से पूर्व ये सब प्रजातन्त्र स्वतन्त्र थे। ये स्वतन्त्रता उन्हे नागो ने ही दिलवाई थी। इनमें से कुछ प्रजातन्त्र तो नागो

के ही या उनके सगे सम्बन्धियों के थे। इन प्रजातन्त्रों की जनता राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत थी। उस समय हिन्दुओं उस विघटनात्मक यादवीप्रकृति का अभाव था जिसके कारण उन्होंने बाद में बहुत क्षति उठाई और पराधीनता अंगीकार करने को विवश हुए। नागो ने उन्हें सच्चा नेतृत्व प्रदान किया था। उनका ध्येय विदेशी सत्ता का उन्मूलन करके हिन्दू धर्म, संस्कृति और सभ्यता की पुनर्प्रतिष्ठापना करना था।

नाग काल में मालवों, यौधेयो और मद्रको ने फिर से अपने-अपने सिक्के बनाने आरम्भ कर दिये थे। इन सिक्को का नाग सिक्कों से सम्बन्ध था और स्वभावतया इससे उन प्रजातन्त्रो की नागो के प्रति अधीनता स्पष्ट रूप से प्रतिपादित होती थी।

बड़े-बड़े प्रजातन्त्र और उनके संघ ही नाग साम्राज्य का स्वरूप और विस्तार था। इन सघों से नागो को कुषाणों के विपरीत युद्ध में सहायता प्राप्त होती थी। नाग साम्राज्य एक प्रजातन्त्र-प्रधान साम्राज्य था। आरम्भिक मगध के कोट और प्रयाग के गुप्त नागों के आधीन उनके करद सामन्त थे। इस प्रकार भावी मगध और गुप्त साम्राज्य की नीव भी नागो के समय मे ही पड़ी। वायु और ब्रह्माण्ड पुराण में इस बात का उल्लेख है कि बिहार उत्तर-प्रदेश, बुन्देलखण्ड, मध्य-प्रदेश, मालवा, राजपूताना, पूर्वी पजाब का मद्र प्रान्त ये सभी भारशिव नागो के विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत थे। भारशिव लोग निरन्तर कुशन साम्राज्य पर प्रहार करते हुए उसका आकार छोटा करते रहे और परिणाम स्वरूप उनका साम्राज्य विस्तार प्राप्त करता रहा।

भारशिवो नागों का उत्थान सन् १४७ ई० के लगभग सम्राट नवनाग के नेतृत्व में हुआ। नागों के जिस वश को भारशिव नाग वंश कहते हैं उसका सस्थापक नवनाग था। उसने कांतिपुरी में सर्वप्रथम अपना राज्य स्थापित किया। पुराणो के अनुसार नागो ने पद्मावती कान्तिपुरी और मथुरा मे सात पीढ़ियों तक राज्य किया। नागो की इन शाखाओं के प्रमुख राजाओं का तिथि और वंश क्रमानुगत विवरण इस प्रकार है।

कान्तिपुरी नाग-शाखा

नव नाग (भारशिव वश का संस्थापक)	सन् १४०—१७० ई०
वीरसेन (जिसने मथुरा और पद्मावती की शाखाओं को भी संस्थापित किया)	सन् १७०—२१० ई०
हयनाग	सन् २१०—२४५ ई०
त्रयनाग	सन् २४५—२५० ई०
वर्हिन् नाग	सन् २५०—२६० ई०

चरज नाग (इसके काल में वाकाटकों का प्रभुत्व २८४ ई० में आरम्भ हो गया था) सन् २६०—२६० ई०
भवनाग (इसकी कन्या वाकाटक सम्राट प्रवरसेन के पुत्र गौतमी पुत्र को ब्याही थी) सन् २६०—३१५ ई०
रुद्रसेन (पुरिका में) सन् ३१५—३४४ ई०

पद्मावती नाग-शाखा (टाक वंश)

भीम नाग सन् २१०—२३० ई०
स्कन्द नाग सन् २३०—२५० ई०
बृहस्पतिनाग सन् २५०—२७० ई०
व्याघ्र नाग (इसके काल में वाकाटकों का प्रभुत्व आरम्भ हो गया) सन् २७०—२६० ई०
देवनाग सन् २६०—३१० ई०
गणपति नाग सन् ३१०—३४४ ई०

मथुरा शाखा के अधिपति नाग राजाओ के नाम अज्ञात हैं। सन् ३४४ ई० के बाद के नाग राजा वाकाटकों के करद सामन्त एवं प्रतिनिधि रूप शासक थे। उनमें अहिच्छत्र वंश का अच्युतनन्दी अन्तिम राजा था। अन्तर्वेदी वंश का अन्तिम राजा मतिल था जिसकी राजधानी सम्भवतः इन्द्रपुर (इन्दौर खेड़ा) में थी, उसने सन् ३२८ से ३४८ तक शासन किया। तीसरा शुघ्न वंश था जिसके दो राजा नागदत्त (३२८-३४८ ई०) और महाराज महेश्वरनाग (३४८ से ३६८ ई०) हुए। समुद्रगुप्त के शिलालेख के अनुसार नागसेन की राजधानी निश्चित रूप से मथुरा ही थी। सम्भव है मथुरा मे नागसेन के बाद नाग राजाओं की एक दो पीढी और भी हुई हों। पद्मावती की टाक वंशीय नाग शाखा के अन्तिम राजा गणपति नाग के सिक्के इतनी बड़ी तादाद मे मिले हैं जितने किसी हिन्दू राजा के उपलब्ध नही हुए। ये आठ प्रकार के हैं। इनसे विदित होता है कि गणपति नाग ने निस्संदेह ३५ वर्ष तक राज्य किया।

भारशिवों ने हिन्दू जाति के दु:खों का अन्त करने के लिये शिव के रुद्र रूप की आराधना की, जिससे विदेशियो के शासन से मुक्ति मिले। उन्होंने समस्त वातावरण को शिवमय बनाया और शिव के समान ताण्डव नृत्य कर दुष्टो का संहार किया। दुष्टो से मुक्ति पाने के लिए ही उन्होंने शिव को आदर्श मानकर उनको प्रतिष्ठापित किया। उस समय सर्वत्र जन-साधारण के मस्तिष्क मे यह बात भली-भाँति बैठ गई थी कि स्वयं संहारकर्ता शिव ने ही भारशिव

राज्य की स्थापना की है, शिव ही भारशिव राज्य के पोषक और रक्षक हैं और वे ही भक्तों को स्वतन्त्र करने के लिए उठ खड़े हुए हैं। भारशिवों के जीवन दर्शन पर डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने बड़े सुन्दर शब्दों में अपनी पुस्तक 'अन्धकार युगीन भारत' मे इस प्रकार लिखा है, "समाज को फिर से ठीक दशा में लाने के लिए शैव साधुता या विरक्ति एक आवश्यक प्रतिकार बन गई थी। शकों ने हिन्दू जनता को निर्बल कर दिया था और इस निर्बलता को दूर करने के लिए शैव साधुता एक आवश्यक वस्तु थी। कुशनों के लोलुपतापूर्ण साम्राज्यवाद का नाश कर दिया गया और हिन्दू जनता में नैतिक दृष्टि से जो दोष आ गये थे, उनका निवारण किया गया। और जब यह काम पूरा हो चुका तब भारशिव लोग क्षेत्र से हट गये। शिव का उद्देश्य पूरा हो चुका था, इसलिये भारशिव लोग आध्यात्मिक कल्याण और विजय के लिए फिर शिव मे लीन हो गये। अन्त तक उन पर कोई विजय प्राप्त नही कर सका था और न कभी उन्होने अपने आचरण को भौतिक स्वार्थ से कलंकित ही किया था। वे शंकर भगवान और भक्तो के सच्चे सेवक थे और इसलिये वे अपना सेवा-कार्य समाप्त करके इतिहास के क्षेत्र से हट गये थे। इस प्रकार का सम्मानपूर्ण और शुभ अन्त क्वचित् ही होता है और भारशिव लोग ऐसे ही अन्त के पूर्णरूप से पात्र थे। भारशिवो ने आर्यावर्त में फिर से हिन्दू राज्य की स्थापना की थी। उन्होने हिन्दू साम्राज्य का सिंहासन फिर से स्थापित कर दिया था, राष्ट्रीय सभ्यता की भी प्रस्थापना कर दी थी और अपने देश मे एक नवीन जीवन का संचार कर दिया था। प्रायः चार सौ वर्षों के बाद उन्होने फिर से अश्वमेध यज्ञ कराये थे। उन्होने भगवान शिव की नदी माता गंगा की पवित्रता फिर से स्थापित की थी और उसके उद्गम से लेकर संगम तक उसे पापो और अपराधो से मुक्त कर दिया था और इस योग्य बना दिया था कि वाकाटक और गुप्त लोग अपने मन्दिरो के द्वारों पर उसे पवित्रता का चिन्ह समझ कर उसकी मूर्तियाँ स्थापित करते थे। उन्होने ये सभी काम कर डाले थे, पर फिर भी अपना कोई स्मारक पीछे नही छोड़ा था। वे केवल अपनी कृतियाँ छोड गये और स्वयं अपने आपको उन्होने मिटा दिया।"

डा० जायसवाल के उपरोक्त कथन से भारशिवो की महान राष्ट्रीय भावना एवं उत्कृष्ट देश-प्रेम का पता चलता है। वास्तव मे उनका समय भारत की राजनीति में स्वर्णयुग था। भारशिव लोग कदापि सत्तालोलुप न थे, उनका उद्देश्य केवल विदेशी शासन का अन्त करके हिन्दू-राज्य का पुनर्संस्थापना था। वे अपने उद्देश्य मे सफल हुए। उन्होने वाकाटकों और गुप्तों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर एक सुदृढ़ मैत्री के आधार पर हिन्दुओं को संगठित

कर दिया। उसी संगठन के आधार पर वे विदेशियों का उन्मूलन करने में सफल हो सके। चूंकि उनके उद्देश्य भौतिक स्वार्थों पर आधारित न थे इसलिये उनका मार्ग कभी अवरुद्ध न हुआ और उनके सब अभियान सफल हुए। यदि भारशिव लोग कुछ और काल तक भारतीय राजनीति पर छाये रहते तो हिन्दू जाति एक ऐसी सुसंगठित कौम बन जाती जिसका सामना करना किसी भी विदेशी शक्ति को सम्भव न होता।

वाकाटक वंश

वाकाटक साम्राज्य का काल सन् २४८ से ३४८ ई० तक और परवर्ती वाकाटक काल सन् ३४८ से ५५० ई० तक समझा जाता है। इस राजवंश का प्रथम नरेश विन्ध्य शक्ति नाम का ब्राह्मण था। इन राजाओं का गोत्र विष्णु वृद्ध था जो भारद्वाजो का एक उपविभाग है। विन्ध्य शक्ति का पुत्र प्रवरसेन प्रथम था जिसने चार अश्वमेध यज्ञ किये और सम्राट की उपाधि धारण की। इसने इतनी लम्बी अवधि तक राज्य किया कि इसका पुत्र गौतमी पुत्र राज्य ही न कर सका और इसका नाती रुद्रसेन प्रथम इसका उत्तराधिकारी बना। गौमती पुत्र का विवाह नागराज भवनाग की कन्या के साथ हुआ था। उससे ही रुद्रसेन प्रथम का जन्म हुआ। रुद्रसेन प्रथम का पुत्र पृथिवीषेण प्रथम था। पृथिवीषेण प्रथम तक इस राजवंश को अस्तित्व में आये १०० वर्ष व्यतीत हो चुके थे।

पृथिवीषेण प्रथम के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय का विवाह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्त के साथ सम्पन्न हुआ था। प्रभावती गुप्त साम्राज्ञी कुबेर नागा की पुत्री थी जो नाग राजवंश की कुमारी थी। उपरोक्त वैवाहिक सम्बन्धो से स्पष्ट है कि नाग, वाकाटक और गुप्तो ने इन आधारों पर अपनी मैत्री दृढ की। इन वैवाहिक सम्बन्धो के कारण आपसी सम्बन्धों में खटपट कम हुई और यह सम्मिलित शक्ति से लोहा लेने और उसे पराजित करने मे सक्षम रही। यदि मध्यकाल में भी इसी प्रकार की मैत्री सम्भव हुई होती और हिन्दू राजा लोग आपस में युद्धरत न रहते तो भारत में मुसलमानी राज्य कदापि न हो पाता और पृथ्वीराज चौहान और राणा सांगा को उस पराजय का मुंह न देखना पड़ता जिसके फलस्वरूप भारत पराधीन हो गया।

रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु असमय हो गई। परिणाम स्वरूप प्रभावती गुप्त अपने अल्पवयस्क पुत्र दिवाकर सेन की अभिभावक बनकर राज्य करती रही। उस समय दिवाकर सेन की अवस्था तेरह वर्ष की थी। इसके बाद

दामोदर सेन-प्रवरसेन अपने दूसरे पुत्र के शासन में भी उसे अभिभावक के रूप में राज्य-काज सम्हालना पड़ा। प्रभावती गुप्त ने लगभग २० वर्षों तक अपने दो पुत्रों की अल्पवयस्कता मे राज्य किया।

यद्यपि समुद्रगुप्त और उसके बाद के गुप्त सम्राटों के काल में वाकाटक लोग गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत ही थे परन्तु वे लोग पूर्णरूपेण स्वतन्त्र भी थे। वे गुप्तो के अधीनस्थ करद राजा थे और अपनी इच्छानुसार युद्ध और सन्धि कर सकते थे।

उनका राज्य बुन्देलखण्ड की पश्चिमी सीमा पर स्थित अजयगढ़ और पन्ना मे था। समस्त मध्य प्रदेश, बरार और त्रिकूट पर उनका राज्य था। प्रवरसेन ने चार अश्वमेध यज्ञ किये। चार अश्वमेध यज्ञ किये जाने से सिद्ध *होता है कि प्रवरसेन ने एक लम्बी अवधि तक राज्य किया। वाकाटकों ने* बाजपेय यज्ञ के अतिरिक्त वृहस्पति सव भी किये। वृहस्पति सव केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं इससे सिद्ध होता है कि वाकाटक लोग ब्राह्मण थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वाकाटक वंश के प्रवर्तक का नाम विन्ध्य शक्ति इसलिये पड़ा कि वह विन्ध्य से निकली हुई एक नवीन शक्ति के रूप में प्रगट हुआ। ऐसा सम्भव है कि वह नागों का कोई महान सेनापति हो जिसने अनेक प्रदेशो को जीतकर अपनी विजय दुंदुभि बजाई हो और अपना नाम क्षेत्रीय देशभक्ति के आधार पर धारण कर लिया हो। वाकाटक सम्राट प्रवरसेन ने पुष्यमित्र शुङ्ग और सातवाहन सम्राट सातकर्णि की भांति 'द्विरश्वमेधयाजिन्' की उपाधि धारण की थी। इसका उल्लेख वायु, विष्णु और ब्रह्माण्ड पुराणो मे मिलता है।

वाकाटक नाम का कस्बा *झाँसी जिले में ओड़छा के ६ मील उत्तर मे* ओड़छा तहसील मे ही है। यह ब्राह्मणो का गाँव है। यहाँ के निवासी ब्राह्मण अपने को द्रोणाचार्य का वंशज बतलाते हैं और भारद्वाज ब्राह्मण कहलाते हैं। गज नचना जो कि एक पुराना कस्बा है और जिसमें किला भी अति प्राचीन है वही पुराना चनका या कांचनका नामी स्थान है जहाँ वाकाटकों की राजधानी थी।

प्रवर सेन के पिता विन्ध्य शक्ति के नाम के सिक्के नहीं मिलते हैं। प्रवरसेन और उसके पौत्र रुद्रसेन प्रथम के नाम के बहुत मिलते हैं। विन्ध्य-शक्ति *वस्तुतः नाग सम्राटो का अधीनस्थ राजा था* पहिले नाग लोग विदिशावृष कहलाते थे फिर उनको किलकिला वृष कहा जाने लगा। विन्ध्यशक्ति को किलकिला राजाओ में से मानने का अर्थ यह था कि वह नागो का ही

अधीनस्थ सेनापति या राजा होगा। भूतनन्दी से नाग राजाओ को किलकिला राजा कहा गया है। किलकिला नदी बुन्देलखण्ड मे पन्ना के पास है।

पुराणो में लिखा है कि वाकाटकों का साम्राज्य ९६ वर्ष रहा। वाकाटकों के मूर्धाभिषिक्त राजा विन्ध्यशक्ति ने ३६ वर्ष और उसके पुत्र प्रवरसेन प्रथम ने ६० वर्ष राज्य किया। प्रवरसेन के पौत्र रुद्रसेन प्रथम के काल से समुद्रगुप्त के विजय अभियान के कारण वाकाटक साम्राज्य का अन्त हो गया और वाकाटक लोग गुप्तो के अधीनस्थ राजा हो गये। रुद्रसेन प्रथम के उत्तराधिकारी वाकाटक राजागण गुप्तों के अधीनस्थ थे। परन्तु रुद्रसेन प्रथम का पुत्र पृथिवीषेण चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सम्बन्धी था। पृथिवीषेण के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय से चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्त का विवाह हुआ था इस कारण वाकाटक राजा की स्थिति कुछ सम्मानजनक थी और विशेषरूप से अधीनस्थ राजा की सी न थी। इसी कारण उसे अपने सिक्के प्रचलित करने की भी छूट थी यद्यपि गुप्तों के समय में अधीनस्थ राजाओं को अपने सिक्के चलाने का अधिकार न था। पृथिवीषेण, रुद्रसेन द्वितीय, प्रभावती गुप्त, दिवाकरसेन, दामोदरसेन आदि सभी के सिक्के मिले हैं।

प्रवरसेन को पुराणो में प्रवीर भी लिखा है। वह बड़ा योद्धा और विजेता था। उसने चार अश्वमेध यज्ञ किये जो इस बात के सूचक हैं कि उसने चार बडे-बड़े युद्धों में विजय प्राप्त की थी। वह अपने आपको मानधाता और वसु के समकक्ष मानता था। उसने अपने आपको समस्त भारत का सम्राट घोषित किया था। प्रवरसेन के चार पुत्र थे, सबसे बड़ा गौतमी पुत्र तथा तीन और। तीन लड़के उपराज के रूप में राज्य करते थे। ज्येष्ठ पुत्र गौतमी पुत्र अपने पिता के लम्बे राज्यकाल के कारण उत्तराधिकार प्राप्त न कर सका, गौतमी पुत्र के पुत्र रुद्रसेन प्रथम ने प्रवरसेन का उत्तराधिकार प्राप्त किया। यह भारशिव राजा का दौहित्र था और अपने पितामह के जीवनकाल में ही भारशिव राजा के रूप में सिंहासनासीन हुआ था और अपने पितामह प्रवरसेन के संरक्षण से पुरिका में शासन करता था। बाद में वह चनका में भी प्रवरसेन का उत्तराधिकारी हुआ। यह समुद्रगुप्त का समकालीन था।

रुद्रसेन प्रथम का पुत्र पृथिवीषेण प्रथम था। यह समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन था। इसने कुन्तल राज्य पर विजय प्राप्त की थी। पृथिवीषेण का पुत्र रुद्रसेन द्वितीय हुआ जिसे चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्त ब्याही थी। प्रभावती गुप्त साम्राज्ञी कुबेर नागा की कन्या थी। उसके दो पुत्र हुए दिवाकरसेन और दामोदर-प्रवरसेन। इन दोनो पुत्रों की अल्प-

वयस्कता मे प्रभावतीगुप्त ने अभिभाविका के रूप मे लगभग २० वर्ष शासन किया ।

दामोदरसेन का पुत्र नरेन्द्रसेन ८ वर्ष की अवस्था मे सिंहासनारूढ हुआ । आगे चलकर इसने कुन्तलराज की कन्या के साथ विवाह किया । कोशल, मेकला और मालव के राजा इसके अधीनस्थ करद राजा थे । नरेन्द्रसेन के दो पुत्र थे, *पृथिवीषेण द्वितीय और देवसेन द्वितीय ।* देवसेन परम सुन्दर राजा था । वह आनन्द से जीवन व्यतीत करना पसन्द करता था । उसने अपने पुत्र हरिषेण के लिए सिंहासन का परित्याग कर दिया था ।

वाकाटकों का पुराणों के आधार पर निम्नलिखित तिथिक्रम निश्चित होता है—

१. विन्ध्यशक्ति	सन् २४८–२८४ ई०
२. प्रवरसेन प्रथम	सन् २८४–३४४ ई०
३. रुद्रसेन प्रथम	सन् ३४४–३४८ ई०
४. पृथिवीषेण प्रथम	सन् ३४८–३७५ ई०
५. रुद्रसेन द्वितीय	सन् ३७५–३९५ ई०
६. *प्रभावती गुप्ता (दिवाकर सेन) की अभिभावक*	सन् ३९५–४०५ ई०
७. प्रभावती (दामोदर सेन की अभिभावक)	सन् ४०५–४१५ ई०
८. प्रवरसेन द्वितीय	सन् ४१५–४३५ ई०
९. नरेन्द्रसेन	सन् ४३५–४७० ई०
१०. पृथिवीषेण (द्वितीय)	सन् ४७०–४८५ ई०
११. देवसेन	सन् ४८५–४९० ई०
१२. हरिषेण	सन् ४९०–५२० ई०

वाकाटकों के राज्यकाल के तीन विभाग है—

[१] साम्राज्यकाल [२] गुप्तों के साथ-साथ राज्यकाल [३] गुप्तों के बाद का समय ।

पुराणों में वाकाटकों के साम्राज्य का काल ६१ वर्ष बताया गया है । वाकाटकों के इतिहास का साम्राज्यकाल ३४४ ई० मे समाप्त हो जाता है । रुद्रसेन प्रथम के राज्याभिषेक काल अर्थात् सन् ३४४ ई० से ४३५ ई० तक वाकाटक लोग गुप्तों के अधीनस्थ करद राजा थे । नरेन्द्रसेन के समय से अर्थात् ४०५ ई० से गुप्तों के बाद का समय आता है जो येन केन प्रकारेण ५२० ई० तक चलता रहा । नरेन्द्रसेन से हरिषेण तक गुप्तों के बाद का समय है ।

पृथिवीषेण द्वितीय ने अपने डूबे हुए वंश का उद्धार किया था। हरिषेण ने कुन्तल, अवंती, कलिंग, कोशल, त्रिकूट लाट और आंध्र देशों पर विजय प्राप्त की थी। इसी के मन्त्री हस्ति भोज ने अजन्ता का गुहा मन्दिर बनवाया था और बौद्ध भिक्षुओं को अर्पित किया था।

जब तक समुद्रगुप्त सम्राट पद पर न पहुँचा था तब तक तो उसका राज्य वाकाटक साम्राज्य के अन्तर्गत ही था। इस समय उसका राज्य अयोध्या और काशी के मध्य किसी स्थान पर था। वह वाकाटकों का करद और अधीनस्थ राजा था। उसके सिक्के भी यह बात प्रगट करते हैं कि राजा की हैसियत से जारी किये हुए सिक्के सम्राट पद से निकले हुए सिक्कों से बहुत भिन्न हैं। गरुणध्वज का विरुद उन्ही सिक्को पर चिह्नित है जो सम्राट पद से निकले हैं। प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के बाद ही उसे अपने विजयाभियान करने और अपना साम्राज्य विस्तृत करने का अवसर मिला था।

प्रवरसेन की मृत्यु होते ही समुद्रगुप्त ने तुरन्त अपना वह अभियान आरम्भ कर दिया और उसने प्रयाग और कौशाम्बी के युद्ध क्षेत्र मे रुद्रसेन को पराजित किया, कदाचित् इन्ही युद्धो में नागराजा अच्युत, नागसेन और गणपति नाग की मृत्यु हो गई थी। यद्यपि समुद्रगुप्त के समय में वाकाटक साम्राज्य समाप्त हो गया फिर भी वाकाटको का राज्य गुप्तों के साम्राज्य के अन्तर्गत चलता रहा। गुप्तों ने वाकाटकों से बराबरी का सम्बन्ध रक्खा जैसा कि गुप्तों और वाकाटकों के वैवाहिक सम्बन्धों से विदित है।

वाकाटक लोग अपने पुत्रों और सम्बन्धियों को भिन्न-भिन्न प्रान्तों का शासक नियुक्त करते थे। प्रवरसेन के चार लड़के प्रान्तों के शासक नियुक्त हुए। उन प्रान्तों के नाम थे माहिषी, मेकला, कोसला, और विदुर। इन सभी प्रान्तो के विषय मे पुराणो में बताया गया है कि वहाँ कौन-कौन से शासक थे और उन्होंने कितने-कितने समय राज्य किया। मेकला के राजाओं को विन्ध्यकों का वशज बताया गया है और इन राजाओं को वायु पुराण मे सप्तान्ध्र कहा है। मेकला आजकल की बस्तर रियासत का क्षेत्र थी। माहिषी से अभिप्राय माहिष्मती से है जो नर्मदा किनारे नीमाड़ के समीप है। नैषध की राजधानी विदूर थी जो आजकल का बीदर है। कोसला उडीसा और कलिंग के प्रदेश को कहते थे। महीषियों का राजा सुप्रतीक नभार बड़ा प्रतापी था, वह अपने देश का स्वामी था और उसने तीस वर्ष राज्य किया। माहिषी क्षेत्र में तीन जातियाँ बसती थी। उनके नामों के अन्त मे मित्र शब्द जुड़ा रहता था जैसे पुष्यमित्र, पटुमित्र और पद्ममित्र। ब्रह्माण्ड पुराण मे त्रिमित्रों का उल्लेख है।

इनके राज्य का प्रजातन्त्री होने और उस प्रजातन्त्र के दस प्रजातन्त्री राष्ट्रपतियों का उल्लेख है। पुराणों से पता चलता है कि मेकला में सात कोसला में नौ और नैषध (विदूर-बरार) देश में भी शासक हुए। पुरिका में नागपुर, अमरावती और खानदेश शामिल थे। प्रवीर पुरिका और चानका दोनों का शासक था।

समुद्रगुप्त की जिन ऐतिहासिक विजयों का उल्लेख उसके शिला लेखों में है वे सब उन राजाओं और प्रजातन्त्रों पर थीं जो वाकाटक साम्राज्य के अन्तर्गत थे। यह वाकाटक साम्राज्य की खूबी थी कि तत्कालीन लगभग समस्त प्रजातन्त्री भारत ने वाकाटकों को अपना नेता मान लिया। प्रवरसेन अपने को समस्त भारत का सम्राट घोषित करता था और उसका यह मानना ठीक भी था। जब प्रवरसेन के उत्तराधिकारी रुद्रसेन प्रथम की समुद्रगुप्त के हाथों पराजय हुई तो उस समस्त वाकाटक साम्राज्य पर जिसमें पूर्वी पंजाब, गुजरात, राजपूताना, मालवा आदि के आभीर मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक आदि गणराज्य सम्मिलित थे समुद्रगुप्त का आधिपत्य हो गया। यह स्पष्ट ही है कि गुप्त-साम्राज्य की नींव वाकाटक साम्राज्य के ध्वंस पर ही पड़ी।

वाकाटक साम्राज्य की उपलब्धियाँ—प्रवरसेन प्रथम ने अखिल भारतीय साम्राज्य की कल्पना को न केवल पुनर्जीवित किया वरन् साकार करके दिखा दिया। कुशनों को भारत से निकालने का काम वाकाटकों का ही था। वाकाटकों के समय में संस्कृत का पुनरुद्धार हुआ। उस काल में संस्कृत न केवल साहित्य की भाषा थी अपितु उसका प्रयोग सरकारी कामों में भी होता था और वह विद्वानों में बोलचाल की भाषा हो गई थी। कौमुदी महोत्सव में उस समय के साहित्यिक आन्दोलन का चित्र है। कौमुदी महोत्सव ग्रन्थ एक महिला द्वारा एक आसन पर बैठ कर लिखा गया था। वाकाटकों के समय में हिन्दुओं का सामाजिक पुनरुत्थान हुआ। वाकाटक लोग कला-प्रेमी थे। अजन्ता की गुफाओं का निर्माण वाकाटकों ने कराया था। वाकाटक लोग कट्टर शैव थे। केवल रुद्रसेन द्वितीय अपनी पत्नी प्रभावती गुप्त और श्वसुर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के प्रभाव के कारण वैष्णव मत का मानने वाला था।

गुप्तकाल

गुप्तवंश के संस्थापक का नाम श्रीगुप्त था। श्रीगुप्त समस्त गुप्त सम्राटों और राजाओं का आदि पुरुष था। श्रीगुप्त एक प्रतापी राजा हुआ है, उसके द्वारा स्थापित इस राजवंश ने चौथी शताब्दी में बड़ी उन्नति की। इतिहास में श्रीगुप्त के शासन का वृत्तान्त विशेष रूप से उपलब्ध नहीं है।

श्रीगुप्त के पुत्र का नाम घटोत्कच था। घटोत्कच के पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम का पाटलिपुत्र के राज सिंहासन पर चौथी शताब्दी के आरंभ मे आविर्भाव हुआ। चन्द्रगुप्त ने ३०८ ई० के लगभग लिच्छवि वंश की राजकुमारी कुमार देवी के साथ विवाह किया। इस विवाह से दो राज्य शक्तियो का महत्वपूर्ण सम्मेलन हो गया और इससे चन्द्रगुप्त प्रथम की शक्ति बहुत बढ गई। उसने तिरहुत, दक्षिण बिहार, अवध और आस-पास के प्रदेशो पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। चन्द्रगुप्त की विजयो ने मगधराज्य को उसका वह गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करा दिया जो उसे सम्राट अशोक के समय में प्राप्त था। सन् ३२० ई० मे चन्द्रगुप्त प्रथम ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की और एक महान् यज्ञ किया जिसके उपलक्ष में उसने गुप्त सम्वत् चलाया जो कई शताब्दियो तक कई प्रदेशो मे चलता रहा। यद्यपि गुप्तवंश के प्रवर्तक महाराज श्रीगुप्त थे परन्तु गुप्त साम्राज्य का आरम्भ चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य काल से ही होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु ३३० ई० में हो गई।

समुद्रगुप्त

चन्द्रगुप्त प्रथम के देहावसान के उपरान्त उसका पुत्र युवराज समुद्रगुप्त जो लिच्छवि वंश की राजकन्या कुमारदेवी से उत्पन्न था उसका उत्तराधिकारी हुआ। समुद्रगुप्त ने अनेक युद्ध करके अपने राज्य का बड़ा विस्तार किया। अनेक राजा महाराजाओ ने उसकी वश्यता स्वीकार कर ली और उसको अपना अधिपति माना। जिन राजाओं ने युद्ध की ठानी वे रणभूमि में पराजित हुए और उन्हें अपने राज्य से हाथ धोना पड़ा, ऐसे राजाओं के राज्य समुद्रगुप्त ने अपने राज्य में मिला लिये।

समुद्रगुप्त के राज्यकाल में पंजाब में बहुत से स्वतन्त्र गणराज्य थे जिनके निवासी युद्ध प्रिय थे। इन गणराज्यो ने सिकन्दर की सेनाओं का बड़ी बहादुरी से सामना किया था। समुद्रगुप्त ने इन सब गणराज्यों को जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया। समस्त उत्तरी भारत को अधिकार मे

करके समुद्रगुप्त ने दक्षिण की ओर अपना पग बढ़ाया। उसने अल्प काल में ही समुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण दक्षिण प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। कवि हरिषेण की प्रशस्ति में उन नौ राजाओं के नाम एक शिलालेख पर खुदे हुए मिले हैं जिनको समुद्रगुप्त ने रणक्षेत्र में परास्त किया था। सन् ३३० ई० से लेकर सन् ३५० ई० तक बीस वर्ष में समुद्रगुप्त ने समग्र भारत में दिग्विजय करके अपना चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित किया। समुद्रगुप्त ने "नौ राजाओं को उत्तर में और ११ राजाओं को दक्षिण में हराया था।" समुद्रगुप्त का राज्य पश्चिम में यमुना तट से लेकर पूर्व में हुगली के किनारे तक और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में नर्मदा तक फैला हुआ था। आसाम, बंगाल नैपाल, कमाऊँ और पंजाब के राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। दक्षिण की विजयों के उपरान्त सम्राट समुद्रगुप्त ने एक बहुत बड़ा अश्वमेध यज्ञ किया।

अश्वमेध तथा धार्मिक सहिष्णुता

इस यज्ञ मे लाखों ब्राह्मणों को भोजन कराया गया और प्रचुर मात्रा में धन धान्य दान किया गया। अश्वमेध की स्मृति स्थिर करने के लिए मुद्रा ढाली गई, यज्ञ के सिक्के अनेक अजायबघरों में आज भी सचित निधि की भाँति विद्यमान हैं। सम्राट समुद्रगुप्त परम भागवत वैष्णव धर्म के अनुयायी थे तथा हिन्दू परम्परा के अनुसार उनके राज्य में महान् धार्मिक सहिष्णुता व्याप्त थी। उन्होंने लंका के बौद्धराज मेघवर्ण को बोध गया मे एक बुद्धमठ बनाने की स्वीकृति तुरन्त दे दी। यह मठ बड़ा शानदार था और कई शताब्दियों तक स्थिर रहा। चीनी यात्री युवानच्वाग का कथन है कि इस मठ मे सहस्त्रों भिक्षु निवास करते थे। समुद्रगुप्त के राज्य मे यद्यपि ब्राह्मण धर्म की प्रधानता थी तथापि बौद्ध और जैन धर्म भी निष्कंटक रूप से प्रचलित थे, जनता को धार्मिक जीवन मे किसी प्रकार की बाधा का अनुभव न करना पड़ता था।

कला और साहित्य

समुद्रगुप्त के राज्य में राजधानी पाटलिपुत्र से उठकर अयोध्या आ गई। अयोध्या को साम्राज्य की राजधानी के लिए पाटलिपुत्र की अपेक्षा अधिक उपयुक्त और सुरक्षित समझा गया। यद्यपि गुप्तकाल में पाटलिपुत्र का महत्व कम हो गया तथापि वह एक महान् नगर था। गुप्तकाल में अयोध्या नगरी विभव शालिनी हुई।

कवि हरिषेण ने समुद्रगुप्त पर जो प्रशस्ति लिखी है उसमें सम्राट के

विषय में लिखा है कि वे स्वयं एक महान् संगीताचार्य थे, उनके दरबार में संगीतज्ञों और विद्वानों को प्रश्रय मिलता था। बहुत सी मुद्राओं में राजा की सितार बजाते हुए आकृति विद्यमान है। हरिषेण के अनुसार सम्राट समुद्रगुप्त के राज दरबार में शास्त्र और काव्य चर्चा प्रचुर मात्रा में हुआ करती थी और विद्वानो को प्रत्येक प्रकार का प्रोत्साहन राज्य की ओर से उपलब्ध था। समुद्रगुप्त के काल मे विद्या, संगीत और कला की सर्वतोन्मुखी उन्नति हुई।

चन्द्रगुप्त द्वितीय

लगभग ४५ वर्ष राज्य करने के उपरान्त सन् ३७५ ई० में सम्राट समुद्रगुप्त का देहान्त हो गया। सम्राट समुद्रगुप्त के पीछे उनके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्यकाल सन् ३७५ ई० से सन् ४१३ ई० तक अर्थात् लगभग ३८ वर्ष रहा। यह अत्यन्त प्रतापी हुआ और अपने पराक्रम के कारण इसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। इतिहासकारो का कहना है कि भूतकाल में मालवा की उज्जयिनी नगरी मे विक्रम नाम के एक अति पराक्रमशाली, धर्मात्मा, न्यायशील, नर पुङ्गव सम्राट हो गये हैं जिनकी चर्चा बहुतायत से जनश्रुति में चली आती है। उनका व्यक्तित्व इतना महान् था कि बाद की पीढ़ियों में कई प्रतापी सम्राटों ने यशोपार्जन की दृष्टि से अपने नाम के आगे विक्रमादित्य शब्द का प्रयोग किया। ये शब्द पूर्ववर्ती विक्रम के यश और गौरव का द्योतक था। चन्द्रगुप्त द्वितीय बड़ा सच्चरित्र, संस्कृत का विद्वान तथा विष्णु का उपासक था। वह कवियों तथा विद्वानों का बड़ा आदर करता था। उसने सन् ३८८ से सन् ४०१ तक तेरह वर्षों में निरन्तर युद्ध करके सम्पूर्ण भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर दिया। मालवा, सौराष्ट्र और गुजरात के शासको को फिर से परास्त कर इन प्रदेशों को पूर्णतः अपने राज्य मे मिला लिया। शको ने सम्राट समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार न किया था परन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शक महाक्षत्रपों को परास्त किया और इस कारण वह शकारि विक्रमादित्य प्रसिद्ध हुआ। विक्रमादित्य ने सत्यसिंह के पुत्र रुद्रसिंह को हत्या करके भारत मे शको के शासन को सदा के लिए समाप्त कर दिया।

चीनी यात्री फाहियान

विक्रमादित्य के समय मे चीनी यात्री फाहियान सन् ४०५ ई० से सन् ४११ ई० तक भारतवर्ष मे रहा। इस यात्री के भारत आने का अभिप्राय बौद्ध कथाओं की आश्चर्यमयी घटनाओं और रहस्यों की जानकारी करना था। वह स्वयं बौद्ध था और उसने यहां सबसे पहिले पाटलिपुत्र में बने

अशोक के महल के समीप एक मठ में संस्कृत विद्या सीखी। यह मठ भी अशोक का बनवाया हुआ था और इसमें फाहियान ने तीन वर्ष पर्यन्त संस्कृत का अध्ययन किया। फाहियान ने यद्यपि सम्राट के सम्बन्ध मे कुछ नही लिखा है परन्तु तत्कालीन समाज और उसकी व्यवस्था पर फाहियान की लेखनी से विशद प्रकाश पडता है। उसने जनसाधारण के विषय मे लिखा है कि वे प्रसन्न तथा समृद्धिशाली थे। उसने अनेक चिकित्सालयो का उल्लेख किया है जिनमे सहस्रो रोगियो की नि.शुल्क चिकित्सा की जाती थी। राज्य प्रबन्ध दया तथा कोमलता से पूर्ण था। फाहियान के चितण का सार निम्नलिखित शब्दो मे मनोरजक प्रतीत होगा, "लोग बड़े अच्छे हैं तथा राजदण्ड इतना मृदु है कि किसी को कष्ट नही पहुँचता। प्राणदण्ड किसी को मिलता ही न था और बहुत से अपराधों के लिए केवल अर्थ दण्ड दिया जाता था अपराध स्वीकार कराने मे किसी को भी शारीरिक यातना न दी जाती थी। राज-द्रोहियो का बार-बार द्रोह करने पर एक हाथ काट दिया जाता था। सरकारी आय का मुख्य श्रोत भूमि का लगान था। राजकर्मचारियो को उचित वेतन मिलता था और वे भ्रष्टाचार में कतई रत न थे। भारत भर मे कोई किसी जीव-जन्तु का बध नही करता था। लोग न तो मद्यपान करते और न प्याज और लहसुन का सेवन करते। भारतीय लोग मुर्गा व शूकर नही पालते थे और न उनकी हत्या किये जाने के लिए उनका विक्रय करते थे। चाण्डाल लोग ही केवल मद्यपी और मासाहारी थे और वे नगर के बाहर बस्ती मे रहते थे। जब वे नगर मे आते तो किसी प्रकार का वाद्य बजाते हुए आते जिससे लोग उनसे छू न जांय। सडको पर किसी प्रकार की लूटमार नही होती थी। फाहियान का कहना है कि उसे उसकी भारतवर्ष मे ठहरने की अवधि में कभी किसी ने कोई कष्ट नही पहुँचाया। सिक्को मे कौड़ियो का चलन अधिक था। धार्मिक सहिष्णुता थी, राजा किसी के साथ पक्षपात न करता था। सब धर्मावलम्बियो को अपने-अपने धर्म के अनुसार भजन पूजन का पूर्ण अधिकार था। कोई व्यक्ति अपने धार्मिक अनुष्ठान मे किसी प्रकार का बन्धन या नियन्त्रण अनुभव न करता था। सम्राट की ओर से बौद्ध मठो को भी मुक्त हस्त से आर्थिक सहायता दी जाती थी। राजा और जन साधारण की उदारता के कारण भिक्षुओ को किसी प्रकार का कष्ट न था।"

एक विदेशी बौद्ध द्वारा गुप्तकाल के ऐसे सुन्दर और गौरव पूर्ण वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि गुप्तवश के सम्राटो ने हिन्दू आदर्श और परम्पराओ को पूर्ण रूप से निबाहा और उनका उज्वलतम रूप संसार के आगे रक्खा। वस्तुतः उनके द्वारा प्रचलित परिपाटी मौलिक थी और उसका

शाश्वत रूप इस बात से सिद्ध हो जाता है कि बहुत अंशों मे वह आज तक चली आती है।

संस्कृत-साहित्य

मौर्योत्तर काल में संस्कृत साहित्य का विकास आरम्भ हुआ। शनैः शनैः यह उन्नति गुप्तकाल में चरम सीमा को पहुँच गई। भास और शूद्रक आदि महान् कवियों ने काव्य और नाटक में एक परम्परा को जन्म दिया था। गुप्तकाल में कालिदास और विशाखदत्त आदि कवियो ने उसे परमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। संस्कृत का सबसे महान् कवि कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक था। महाकवि कालिदास के लिखे हुए ग्रन्थ संस्कृत साहित्य के जाज्वल्यमान् रत्न हैं। वस्तुतः उनकी तुलना विश्व के सर्वोच्च ग्रन्थों मे की जा सकती है। बहुत से विद्वानो का मत है कि कालिदास द्वारा प्रणीत साहित्य विश्व-साहित्य में अतुलनीय है। कालिदास के लिखे हुए ऋतु संहार, मालविकाग्निमित्र, कुमार सम्भव, मेघदूत, शकुन्तला और रघुवंश आज भी उपलब्ध हैं। प्रसाद आदि गुणों और उपमा आदि अलंकारों की दृष्टि से ये ग्रन्थ संस्कृत काव्य में सर्वोत्कृष्ट हैं। विश्व भर के साहित्यकार कालिदास को संसार का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं। जब तक संस्कृत साहित्य का संसार में अध्ययन होता रहेगा कालिदास का नाम "यावच्चन्द्र दिवाकरो" अमर रहेगा। कालिदास के ग्रन्थों पर गुप्तकाल की गौरवमयी महिमा की अमिट छाप है। यदि कालिदास गुप्तकाल जैसे शानदार युग में जन्म न लिए होते उनकी रचनाएँ भी इतनी उत्कृष्ट न होती।

समुद्रगुप्त के मन्त्री हरिषेण द्वारा उसकी गद्य-पद्यमयी प्रशस्ति शिलालेख पर उत्कीर्ण मिली है। यह प्रशस्ति समुद्रगुप्त की विजयाभियानों की तालिका का मुख्य आधार है। यदि इस अभिलेख में कोई तिथि भी दी हुई होती तो इसकी उपयोगिता इतिहास की दृष्टि से और भी अधिक हुई होती। इस अभिलेख में समुद्रगुप्त की विजयो और उनके उपलक्ष में किये हुए यज्ञों का पूर्ण वृत्तान्त उपलब्ध है। इस अभिलेख में उन राजाओं को जिन्होंने किसी न किसी रूप में समुद्रगुप्त की वश्यता स्वीकार की पांच श्रेणियो में विभक्त किया गया है। पहली श्रेणी में वे राजा आते हैं जिनका पूर्णतः मूलोच्छेद कर दिया गया। ये राजागण आर्यावर्त के थे। दूसरी श्रेणी में दक्षिणापथ के वे राजागण हैं जिनको बन्दी बनाकर मुक्त कर दिया गया और वश्यता स्वीकार कर लेने पर उनके राज्य उन्हें लौटा दिये गये। तीसरी श्रेणी उन आटविक राजाओं की थी जिन्हें परिचारक बना लिया गया था। चौथी श्रेणी

सीमावर्ती राजाओं तथा गणराज्यों की थी जो कर देने को रजामन्द होकर करद हो गये। पाँचवी श्रेणी उन दूरस्थ राज्यों अथवा द्वीपों की थी जिनमें वैवाहिक सम्बन्धों अथवा उपहारों के आदान-प्रदान के आधार पर मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गये थे।

आर्यावर्त के जिन राजाओं का समुद्रगुप्त ने मूलोच्छेद किया उनके नाम रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपति नाग, नागसेन, अच्युत, नन्दी और बलवर्मा थे। इन राजाओं में गणपति नाग पद्मावती का और नागसेन मथुरा का नागवंशी राजा था। उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले से मध्य प्रदेश में जबलपुर तक के फैले हुए प्रदेश को अटवी प्रदेश कहते थे। समुद्रगुप्त ने विस्तृत प्रदेश के समस्त राजाओं को जीतकर अपना परिचारक बना लिया था।

दक्षिणापथ के जिन राजाओं को जीतकर अब मुक्त कर दिया गया उनमें कोसल का महेन्द्र, महाकान्तार का व्याघ्र राज, कोराल का मण्टराज पिष्टपुर का महेन्द्र, गिरि कोट्टूर का स्वामिदत्त एरण्ड पल्ल का दमन, काँची का विष्णुगोप, अवमुक्त का नीलराज, वेंगी का हस्तिवर्मा, पालक्क का उग्रसेन, देवराष्ट्र का कुबेर, कुस्थलपुर के धनजय के नाम उल्लेखनीय हैं। दक्षिणापथ के राजाओं से केवल वश्यता स्वीकार कराई गई उनके राज्य समुद्रगुप्त ने अपने राज्य में सम्मिलित नहीं किये।

जिन गणों ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर उसको सार्वभौम सम्राट माना उनमें मालव (मालवा के निवासी) आर्जुनायन (वर्तमान जयपुर, अलवर, भरतपुर के निवासी) यौधेय (राजस्थान के उत्तरी भाग के निवासी) माद्रक (स्यालकोट के आसपास के प्रदेश के लोग) आभीर (विदिशा और झांसी के बीच के प्रदेश के लोग) प्रार्जुन (वर्तमान नरसिंहपुर जिले के निवासी) खरपरिक (वर्तमान मध्यप्रदेश के दमोह जिले के लोग) उल्लेखनीय हैं।

दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि से तात्पर्य अफगानिस्तान में राज्य कर रहे किसी कुषाणवंशी तत्कालीन राजा से है, शक से, अवन्ती के शक-क्षत्रप से और मुरुण्ड से पंजाब के किसी भाग पर राज्य कर रहे किसी शक राजा से अभिप्राय है।

समुद्रगुप्त ने सोने के सिक्के चलाये। अपने विजयाभियानों में उसे इतना सोना प्राप्त हुआ कि उसका कोष सुवर्ण से भर गया और उसे सोने का सिक्का चलाने में कोई रुकावट उत्पन्न न हुई।

चन्द्रगुप्त के शासन की सबसे महत्वपूर्ण घटना उसके द्वारा शकों की पराजय थी। ऐसा प्रतीत होता है शकों का उन्मूलन ४०० ई० के आसपास

हुआ था। बाण के हर्ष चरित के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने परकलत्र कामुक शक नृपति को स्त्री का वेश धारण करके मार डाला। शायद चन्द्रगुप्त ने यह कार्य शकराज के महल में किसी प्रकार प्रवेश पाकर संपन्न किया हो। जिस शक राजा को चन्द्रगुप्त ने परास्त किया उसका नाम रुद्रसिंह तृतीय था इसके पराजय से मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र के समृद्ध प्रदेश गुप्त साम्राज्य के अंग बन गये। उज्जैन बहुत बड़ा व्यापार का केन्द्र बन गया। इस नगरी का धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी बड़ा महत्व था। चन्द्रगुप्त के काल में गुप्त साम्राज्य की एक प्रकार से यह दूसरी राजधानी ही हो गई।

दिल्ली के पास महरौली में कुतुबमीनार के निकट जो लौह स्तम्भ है उस पर चन्द्रगुप्त की कीर्ति अंकित है। उस पर लिखी चन्द्रगुप्त की प्रशस्ति से विदित होता है कि गुप्त साम्राज्य की सेनाओं ने सिन्धु नदी को पार करके बाल्हीकों को पराजित किया था तथा सम्पूर्ण बंगाल भी गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत था।

चन्द्रगुप्त के सोने के सिक्के बड़े सुन्दर हैं। उसके काल के सिक्कों पर कुशाण कालीन प्रभाव समाप्त हो गया और शुद्ध भारतीयता परिलक्षित होने लगी। कुछ सिक्कों पर राजा का शिर, कुछ पर धूत डालते हुए राजा का चित्र और कुछ पर दुर्गा देवी की मूर्ति अंकित हैं। उन सिक्कों पर गरुड़ध्वज और कुछ पर लक्ष्मी मूर्तियां अंकित हैं।

गुप्त नरेश परम भट्टारक महाराजाधिराज कहलाते थे। गुप्तवंश की की परम्परा के अनुसार राजा अपने उत्तराधिकारी का मनोनयन स्वयं कर देता था। राजा के मन्त्री वंश परम्परागत भी होते थे। एक ही मन्त्री कभी-कभी सैनिक और असैनिक दोनों कार्य करता था। समुद्रगुप्त का मन्त्री हरिषेण जो एक महान् कवि भी था एक साथ कुमारामात्य, सन्धि विग्रहक और महादण्डनायक तीनो पदो पर ही काम करता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय का मन्त्री शाव वीरसेन भी कई पदो पर रहकर अधिकार युक्त था।

साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था। इन प्रान्तों को देश या भुक्ति कहते थे। देश या भुक्ति का शासक गोप्ता कहलाता था। गोप्ता का पद युवराजों और उनके छोटे भाइयो लिए सुरक्षित रहता था। तीर भुक्ति (मिथिला) का गोप्ता (शासक) चन्द्रगुप्त द्वितीय का पुत्र गोविन्द गुप्त था। प्रत्येक देश या भुक्ति विषयो (जिलो) मे बँटा हुआ रहता था। प्रत्येक विषय (जिला) का अधिकारी विषयपति कहलाता था। विषयपति गोप्ता के प्रति उत्तरदायी होता था।

प्रत्येक विभाग के अलग-अलग कार्यालय होते थे जिनको अधिकरण कहते थे। बलाधिकरण, रण भाण्डागाराधिकरण, दण्ड पाशाधिकरण आदि कुछ महत्वपूर्ण अधिकरण थे।

विक्रमादित्य के नवरत्न

कालिदास के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के आठ रत्न और थे। उनमे से कुछ के नामो का उल्लेख आवश्यक है, कारण इन महान् व्यक्तियों ने अपनी प्रतिभा से देश को जगमगा दिया और यह उनकी सामूहिक योग्यता, दक्षता और चरित्रबल का ही परिणाम था कि गुप्तकाल मे भारतवर्ष की सर्वाङ्गीण उन्नति हुई।

अमर कोष के निर्माता अमरसिंह का जन्म भी गुप्तकाल में हुआ था। यह बौद्ध धर्म का अनुयायी था। अमर कोष संस्कृत के विद्यार्थियो मे बहुत लोकप्रिय था। उसकी उपयोगिता सर्वविदित है।

धन्वतरि नाम के एक महान् वैद्यराज भी विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे। परन्तु यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि यह वही वैद्यराज थे जिन्हें वैद्य आयुर्वेद का देवता अथवा अधिष्ठाता मानते हैं। धन्वंतरि आयुर्वेद के प्रथम प्रधान आचार्य के रूप में माने जाते हैं। आयुर्वेद का एक ग्रन्थ जिसका नाम नवनीतकम् है और जो चरक, सुश्रुत, हारीत जातुकर्ण, क्षार पाणि और पाराशरसहिता का सार प्रतीत होता है पूर्वी तुर्किस्तान में मिला है, यह ग्रन्थ गुप्तकाल मे लिखा गया प्रतीत होता है।

प्रसिद्ध ज्योतिषी वराह मिहिर भी चन्द्रगुप्त द्वितीय के नवरत्नो में से थे। इनके द्वारा लिखित ग्रन्थो के नाम हैं पचसिद्धान्तिका, बृहज्जातक, और लघुजातक। वराह मिहिर की पुस्तको मे फलित ज्योतिष की विस्तार से चर्चा की गई है। प्रसिद्ध मुसलिम विद्वान् अलबरूनी ने बृहत्सहिता और लघुजातक का अरबी भाषा में अनुवाद किया था। गुप्तकाल मे ज्योतिष के अन्य ग्रन्थो की भी रचना हुई जिनमें सूर्यसिद्धान्त का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। भारतीय ज्योतिषी इस ग्रन्थ को प्रामाणिक मानते हैं तथा इसका उनके द्वारा बहुत उपयोग किया जाता है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आर्यभट्ट भी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नो मे से एक था। वह एक महान् गणितज्ञ था और दशमलव प्रणाली का प्रवर्तक था। अलबरूनी का कथन है कि दशमलव के सिद्धांत का आविष्कार हिन्दुओं ने किया। अरबो ने इसे हिन्दुओं ने सीखा। अरबो से इस सिद्धात को ग्यारवी सदी में यूरोप वालों ने सीखा। आर्यभट्ट का ग्रन्थ आर्यभट्टीयम् बड़ा

महत्वपूर्ण है। इसमें अङ्कगणित, बीजगणित और रेखागणित के अनेक सिद्धान्तों और सूत्रों का प्रतिपादन किया गया है। आर्यभट्ट ज्योतिष का भी महान् ज्ञाता था। प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य निःशङ्कु स्वामी, पाडुरग और आर्यभट्ट लाटदेव आर्यभट्ट के शिष्यों में थे। आगे चलकर लाटदेव बहुत प्रसिद्ध हुए। ज्योतिषियो ने इनको सर्वसिद्धान्त गुरु की उपाधि दी। इन्होंने पौलिस और रोमक सिद्धान्तों की व्याख्या बड़े विशद रूप से की थी। सूर्य और चन्द्र का ग्रहण राहु और केतु के ग्रसने के कारण होता है इस धारणा का खण्डन सबसे पहिले आर्यभट्ट ने ही कर दिया था। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया था कि ग्रहण पृथ्वी की छाया के कारण होते हैं। आर्यभट्ट के प्रतिपादित ज्योतिष सिद्धान्त आधुनिक वैज्ञानिकों के निष्कर्षों के अति निकट हैं, अर्थात् जिन तथ्यों को वैज्ञानिक आज घोषित करते हैं आर्यभट्ट ने उनका दिग्दर्शन अपने काल मे ही कर दिया था।

शासन पद्धति

मौर्यकाल और उसके कुछ समय बाद तक पुराने जनपदों की सत्ता के स्मृति चिह्न अवशिष्ट थे। जनपदो की अपनी शासन-प्रणालियाँ थी और उनके धर्म, चरित्र और व्यवहार पृथक् रूप से थे। इनके न कोई पृथक् राजा थे और न सेनायें थी। परन्तु गुप्तकाल मे सामन्त पद्धति का विकास हुआ। गुप्तकाल में छोटे और बड़े सब प्रकार के सामन्त थे और वे अपनी-अपनी सेनाऐं रखते थे। गुप्त सम्राटों ने इन सामन्तों को जीतकर अपने अधीन तो कर लिया परन्तु उनके स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त न किया। शक, यवन कुषाण आदि विदेशियों के आक्रमणों से जो अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी वही इस पद्धति की जननी थी। सामन्त लोग वंशक्रम के अनुसार अपने-अपने प्रदेश में स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लगे। बहुत से महत्वाकांक्षी शासको ने अशान्ति का लाभ उठाया और अपने बाहुबल से अपने राज्य का विस्तार किया। गुप्त सम्राटो ने इन छोटे बड़े राजाओं और सामन्तों को समाप्त नही किया वरन् अपनी वश्यता स्वीकार करने को बाध्य किया। गुप्त सम्राटो ने कुछ राजाओ को हरा कर उनका राज्य अपने राज्य में मिला लिया और कुछ को आधिपत्य स्वीकार कर लेने पर वैसे ही छोड़ दिया। परिणामतः गुप्तकाल मे एक बड़े साम्राज्य की स्थापना हुई जो कई शताब्दियों तक चली।

गुप्तकाल में और उसके बाद तक प्रत्येक सम्राट महाराजाधिराज परम भट्टारक, परमेश्वर कहलाता था। कभी-कभी सम्राट राजाधिराज चक्रवर्ती और परमदैवत भी कहलाते थे। साम्राज्ञी को महादेवी और युवराज को

कुमार अथवा भट्टारक कहते थे। महासामन्त और महाराज अपने-अपने राज्य में स्वतन्त्र रूप से शासन करते थे परन्तु उन्हें सम्राट महाराजधिराजों की सहायता करनी पड़ती थी। ये लोग सम्राट के दरबार में उच्च पदों पर नियुक्त किये जाते थे और कभी सेनाओं के सेनापति भी होते थे।

कुमारगुप्त प्रथम

सन् ४१३ ई० में महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु हो गई। उनके बाद उनका पुत्र कुमारगुप्त प्रथम राज्यसिंहासन पर बैठा। कुमारगुप्त प्रथम का राज्य सन् ४१३ ई० से ४५५ ई० पर्यन्त रहा। इसके राज्य में गुप्त साम्राज्य को किसी प्रकार की हानि न हुई वरन् कुछ समृद्धि ही हुई। कुमारगुप्त ने भी अश्वमेध यज्ञ किया। इसके राज्य में सन् ४५० ई० में पुष्यमित्रों से जो कि नर्मदा के तट पर रहने वाली एक जाति थी बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ। पहिले तो ऐसा प्रतीत हुआ कि पुष्यमित्रो की विजय हो जायगी और गुप्त साम्राज्य अस्त व्यस्त हो जायगा परन्तु कुमार स्कन्दगुप्त के अद्भुत पराक्रम द्वारा पुष्यमित्रों की पराजय हुई। उसने अपने पिता के राज्य को बचा लिया।

स्कंद गुप्त

अपने पिता की मृत्यु के उपरांत सन् ४५५ ई० में महाराज स्कन्दगुप्त राज्य सिंहासन पर आरूढ़ हुए। इन्होंने ४८० ई० पर्यन्त राज्य किया। सिंहासनारूढ़ होते ही महाराज को हूणो से युद्ध करना पड़ा। हूण लोग टीड़ी दल के सदृश मध्य एशिया से भारत की ओर आये। ये शारीरिक स्थिति में बलवान् परन्तु असभ्य एवं जङ्गली जाति के लोग थे। सम्राट स्कन्दगुप्त स्वयं बड़े प्रवीण और शूरवीर थे। वे युद्ध विद्या में पारंगत थे। अपने पिता के राज्य मे उन्होंने पुष्यमित्रो की एक बड़ी सेना को हराया था। उन्होंने हूणो को करारी हार दी और कुछ वर्षों के लिए भारत को इस बर्बर जाति से मुक्ति मिली। स्कन्दगुप्त ने गोरखपुर के भीतरी नामक ग्राम में हूणों की पराजय के उपलक्ष में एक विजय स्तम्भ का निर्माण कराया। स्कन्द गुप्त ने सौराष्ट्र को पुनः जीता।

यद्यपि हूण कई बार स्कन्दगुप्त द्वारा पराजित हुए परन्तु वे तो टीढी दल के सदृश थे। वे बराबर भारत पर आक्रमण करते ही रहे। उन्होंने भारतीय जनता पर बड़े भीषण और अमानुषिक अत्याचार किये। स्कन्धगुप्त को उनसे निरन्तर युद्ध करना पडा और युद्ध करते-करते उनका समस्त कोष रिक्त हो गया। हूणों के एक सरदार तोरमाण ने महाराज की उपाधि धारण

मर गया और उसके बाद उसका पुत्र मिहिर गुल गद्दी पर बैठा। वह बड़ा दुष्ट और अत्याचारी था।

बालादित्य

स्कन्दगुप्त नि.सन्तान थे। सन् ४८० ई० में उनकी मृत्यु हो गई। उनके बाद उनका भाई पुरुगुप्त राजा हुआ। पुरुगुप्त ने ५ वर्ष राज्य किया और सन् ४८५ ई० में उसकी मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र नरसिंह गुप्त बालादित्य राज्यसिंहासन पर बैठा। बालादित्य ने सन् ५३५ ई० पर्यन्त ५० वर्ष तक राज्य किया। उसने मध्य प्रदेश के राजा यशोधर्मन से संधि कर हूण सरदार मिहिरगुल पर चढ़ाई कर दी और सन् ५३१ ई० में उसे पूर्ण रूप से परास्त कर बन्दी बना लिया। इतिहासकार हूणो की पराजय का सम्पूर्ण श्रेय बालादित्य को देते हैं परन्तु यशोधर्मन ने भी इस विजय के उपलक्ष्य मे एक स्तूप बनवाकर अपनी कीर्ति फैलाई। बालादित्य ने शत्रु पर दया करके उसे बन्धन मुक्त कर दिया और उसे हूण देश की ओर निर्वासित कर दिया। मिहिरगुल ने प्रपंच से काश्मीर हड़प लिया और गांधार का राजा बन बैठा।

कुमारगुप्त (द्वितीय)

सन् ५३५ ई० में बालादित्य का देहान्त हो गया। कुमारगुप्त उसका उत्तराधिकारी हुआ उसके काल में यद्यपि साम्राज्य समाप्त हो गया था परन्तु राज्य चलता रहा। कुमार गुप्त द्वितीय ने विदेशो से धार्मिक सम्बन्ध स्थापित किये। उसने प्राचीन ग्रन्थों की खोज कराई और विद्वानों को विदेशों मे भेजा। परमार्थ नाम के एक ब्राह्मण ने चीन में बहुत से ग्रन्थो का अनुवाद किया।

वस्तुतः गुप्त साम्राज्य का अन्त तो सन् ४८० ई० में सम्राट स्कन्द गुप्त की मृत्यु के बाद ही हो गया। सन् ५५३ ई० में १८ वर्ष राज्य करने के बाद कुमार गुप्त का देहान्त हो गया। इस राजा की मृत्यु के साथ गुप्त वंश का राज्य भी एक तरह से समाप्त हो गया। इसके बाद ऐसा प्रतीत होता है कि इस वंश के लोग मगध और मालवा में पृथक् रूप से छोटे-छोटे राजाओं के रूप में राज्य करते रहे।

गुप्त कालीन सामाजिक दशा

सदर्भ रूप से ऊपर लिखा जा चुका है कि गुप्त काल मे सामाजिक दशा बडी समुन्नत थी। चौथी सदी में गुप्त सम्राटों द्वारा भारत मे एक विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई। राजनीतिक दृष्टि से उस काल में यह देश एकता के सूत्र मे बंध गया। गुप्त सम्राटो के शासनकाल में इस देश ने असाधारण उन्नति की और इस कारण से यह युग भारतीय इतिहास मे स्वर्ण युग कहलाता है।

प्रसिद्ध अङ्गरेज इतिहासकार विसेंट स्मिथ का कथन है "पूर्वीय शासन पद्धति में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पीछे ऐसा सुन्दर राज्य शासन भारत मे फिर कभी न हुआ। बौद्ध धर्म की अहिंसा और दया का विस्तार चहुँ ओर था किन्तु हिन्दू सम्राट होने के कारण बौद्धों और जैनो को कभी यह अनुभव न हुआ कि उनके धर्म पालन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप हो रहा है। प्रजा सुखी थी, अपने धर्म का चयन और पालन करने में पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र थी।" जैसा कि फाह्यान ने लिखा है यज्ञों का प्रचलन था और सम्राट परम भागवत वैष्णव धर्म का पालन करने वाले थे परन्तु वे बौद्ध मठों को प्रचुर मात्रा में धन दिया करते थे। दीनो असहायो की सहायता उनके धर्म का विचार किये बिना ही सरकार द्वारा यथेष्ट परिमाण में होती थी।

हिन्दू राज्य के अनेक गुणों के कारण बौद्ध और जैन धर्मों का ह्रास होने लगा। जनता शासन के सुप्रबन्ध से सुखी थी और वह हिन्दू शास्त्रीय परम्पराओ मे जो उसे अधिक रुचिकर प्रतीत हुई अत्यन्त निष्ठा रखने लगी। बौद्ध और जैन धर्म मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोध था जो जन-साधारण को ग्राह्य न हुआ।

गुप्तकाल मे धर्म और साहित्य के साथ कला की भी बड़ी उन्नति हुई। गुप्तकाल के भग्नावशेष इस बात के सूचक हैं। गुप्तकाल में भारतीय प्रतिभा खूब विकसित थी। गोरखपुर जिले के भीतरी गाँव मे मिट्टी की मूर्तियाँ तथा बनारस के पास सारनाथ तथा दूसरे स्थानो पर बने मन्दिर के अवशेषो में प्राप्त मूर्तियो की कला बड़े उच्च प्रकार की है। समुद्रगुप्त के समय का लोहे का स्तम्भ तत्कालीन निपुणता का परिचायक है। गुप्त काल में बनी गुफाओं के भीतर प्रदर्शित चित्रकारी अलौकिक है। ये गुफाएँ ऐलोरा में हैं और चट्टानों को काट कर बनाई गई हैं। इन गुफाओ की चित्रकारी को देखकर गुप्तकालीन चित्रकारो की प्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है।

"भारतवर्ष का इतिहास" नामक अपने ग्रन्थ में मिश्रबन्धुओ ने लिखा है, "भारत में बुद्ध और जैन मतो के निर्मूल होने कारण गुप्तकालीन उच्च शासन प्रणाली तथा उनके सुन्दर स्वभाव थे। कई शताब्दियो पीछे हिन्दुओं की मानसिक, साहित्यिक एवं अन्य प्रकार की उन्नति इसी समय में हुई, यह सनातन आर्य धर्म तथा भारतवर्ष गुप्त सम्राटों का सदा के लिए ऋणी रहेगा।

गुप्तकाल में हिन्दुओं ने लंका, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया, मलय प्रायद्वीप, अनाम और पूर्वी द्वीप समूह में उपनिवेश स्थापित कर अपनी संस्कृति का प्रसार किया। बाली द्वीप में अब भी बहुत सा ऐसा साहित्य मौजूद है जिसमे

धर्म, राजनीति कला सम्बन्धी अनेकों ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों मे ब्राह्मण और बौद्ध दोनो धर्मों के तत्व हैं।

गुप्तकाल में व्यापार भी सुदूर देशों से होता था। जलयानों द्वारा दूर-दूर से माल आता और भारत से जाता था। इस समय के यूनानी और रोमन लेखकों के आधार पर यह स्पष्ट है कि भारत के तट पर अच्छे-अच्छे बन्दरगाह थे जिनके द्वारा पश्चिम और पूर्व से समुद्री व्यापार प्रचुर मात्रा मे होता था।

हर्षोत्तर भारत में समाज की दशा

सम्राट हर्षवर्द्धन की मृत्यु ६४८ ई० मे हुई थी। परन्तु उसके १००, १५० वर्ष पहिले से ही अर्थात् ५०० ई० से १००० ई० तक भारत पर अरबो के आक्रमण के अतिरिक्त कोई अन्य विदेशी आक्रमण नही हुआ था। सामान्य जनता यवन, शक, कुषाण, हूणों के आक्रमणों को भूल गई। राजाओ मे सामान्य रूप से यह धारणा बद्धमूल हो गई कि भारत पर कोई विदेशी आक्रमण नही हो सकता, वह अजेय है। उनमें इस भावना ने अहङ्कार उत्पन्न कर दिया। अपना अहंभाव शान्त करने के लिए वे अपने ही देश के पड़ोसी राजाओं के साथ निरन्तर युद्ध करते रहते।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल में भारत के अन्तिम गणराज्य नष्ट हो गये। गणराज्यों की प्रजा राजकीय मामलो मे दिलचस्पी लेती थी और उसकी भावनाएँ राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत रहती थी। गणराज्यो की समाप्ति के साथ प्रजा में राष्ट्रीय भावनाओं का अन्त हो गया। वह शिथिलता-ग्रस्त होकर पृथक् सी हो गई और उसमे शासन के प्रति उदासीनता की भावना उत्पन्न हो गई। ५०० ई० के पूर्व यवन, शक, कुषाण और हूणों के आक्रमणों से जनता में राष्ट्रीय चेतना बनी रहती थी। जिन वीर राजाओं ने उन आक्रमणकारियों को पराजय का मुँह दिखाया उनके साथ प्रजा ने सहानुभूति प्रदर्शित की और अपना सहयोग प्रदान किया। दुर्द्धर्ष शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त करने के कारण कुछ राजाओं का प्रभाव तो इतना बढ़ा कि वे चक्रवर्ती सम्राट हो गये। विदेशी आक्रमणों का प्रतिरोध जनता के देश-प्रेम की भावना से होता था। वह भावना अब लुप्त होने लगी थी। यद्यपि ग्राम सभाएँ अब भी पूर्ववत् कार्य कर रही थी परन्तु उनका कार्यक्षेत्र स्थानीय था और देश की शासन व्यवस्था से उनका कोई सम्बन्ध न था।

समाज

सातवी शताब्दी के पहिले एक व्यक्ति एक वर्ण से दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो सकता था। लाखों की संख्या में शक, हूण, यवन हिन्दू धर्म में प्रविष्ट हो गये। हिन्दू धर्म में विदेशियों को आत्मासत् करने की अपूर्व क्षमता थी। परन्तु सातवीं सदी से हिन्दुओ के सभी वर्णों और जातियों में संकीर्णता आ रही थी। लोग अपने वर्ण अथवा जाति की परिधि में रहना सुखकर समझने लगे। परिणाम यह हुआ कि छोटी-छोटी इकाइयाँ बनने लगी। इन इकाइयों मे से प्रत्येक के नियम, उपनियम अलग-अलग बनने लगे। इस प्रकार लोगों में एक दूसरे से पृथक् रहने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। समष्टि भाव के नष्ट होने से समाज का विघटन शुरू हो गया। प्रत्यक्ष है कि इस प्रकार का असङ्गठित समाज किसी व्यवस्थित शत्रु का सामना नही कर सकता था।

इस समय तक ब्राह्मणो की स्थिति अत्यन्त प्रतिष्ठापूर्ण हो चुकी थी। वे वेद और शास्त्र के ज्ञाता थे। वे वेद आदि धर्मग्रन्थ क्षत्रियों को पढाते थे परन्तु वैश्यो और शूद्रो को उनका सुनना भी वर्जित था। इससे जातीय अभिमान और द्वेषपूर्ण भेद-भाव बढने लगा। इस प्रकार के भेद-भाव और अनहंताएे उस समय के सबसे बड़े दोष और अभिशाप थे। इनसे पार्थक्य की भावना बढी और राष्ट्रीय उन्नति मे बाधा आई। समाज असङ्गठित होकर छोटी-छोटी इकाइयों में बँट गया।

अनुलोम विवाह बहुत अर्से तक प्रचलित रहे। ब्राह्मण क्षत्रियो की लडकियो से शादी कर लेते थे। राजशेखर ने चाहमान क्षत्रिय-कन्या अवन्ति सुन्दरी के साथ अपना विवाह किया। काश्मीर के राजा संग्रामराज ने अपनी बहिन का विवाह एक ब्राह्मण के साथ किया। राजवंशो मे विभिन्न धर्मों की कन्याओ के साथ विवाह वर्जित नही था। गोविन्द चन्द्र गाहडवाल ने बौद्ध कन्या कुमार देवी के साथ अपना विवाह किया। मुस्लिम इतिहासकार अलबरूनी (९७३—१०३९ ई०) ने तत्कालीन समाज की दशा का अच्छा चित्रण किया है। वह कहता है कि हिन्दुओ में चार जातियाँ आरम्भ से ही हैं। वह चार जातियो के अतिरिक्त आठ प्रकार के अन्त्यजों का भी उल्लेख करता है। अलबरूनी ने लिखा है कि चार जातियों के लोग रहते तो एक गाँव मे ही पास-पास हैं परन्तु एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों के साथ खान-पान नही रखते। अलबरूनी तो इसी बाधा को मुसलमानो को हिन्दुओ के निकट न आने का मुख्य कारण समझता है।

इस समय की एक बात बड़ी महत्वपूर्ण है। जो लोग बलात् धर्म परिवर्तन द्वारा मुसलमान बना लिए गए थे उन्हें फिर हिन्दू बनने में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई। सिन्ध में अरबों के आक्रमण के बाद कुछ हिन्दू मुसलमान बना लिए गए थे। देवल ने उनकी शुद्धि की अनुमति दे दी। बीस वर्ष के अन्दर के सब लोग कुछ व्यवस्था कर देने के पश्चात् पुनः हिन्दू बना लिए गये। एक राजा ने भी मुसलमान होने के बाद पुनः हिन्दू धर्म अङ्गीकार कर लिया।

उस काल में स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी थी। राजवंश की स्त्रियों में पर्दा प्रथा न थी। दरबारों में जन-साधारण रानियों को देख सकता था। उस काल की कई विदुषी महिलाओं के नाम उल्लेखनीय हैं। मण्डन मिश्र की स्त्री एक महान् विदुषी थी जिसने शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ किया था। लीलावती को गणित का असाधारण ज्ञान था। इस काल में कई महिलाएँ प्रान्तीय राज्यों की शासिकाएँ थी। काश्मीर में क्षेत्रगुप्त की स्त्री रानी दिद्दा ने ६८० से लेकर १००३ ई० तक राज्य किया। काकतीय रानी रुद्राम्बा ने सन् १२६१ से १२६० तक राज्य किया। सोमेश्वर प्रथम की पत्नी मैलादेवी *बनवासी प्रान्त की शासिका थी। विक्रमादित्य छठे की रानी लक्ष्मीदेवी* सन् १०६५ ई० में १८ अग्रहारों पर शासन करती थी। अल्बरूनी लिखता है कि हिन्दुओं में बाल, विवाह प्रचलित हो गया था। दास प्रथा का भी मुस्लिम इतिहासकार द्वारा उल्लेख किया गया था।

धर्म

हिन्दू राजाओं में धार्मिक सहिष्णुता प्रचुर मात्रा मे विद्यमान थी। राजा गोविन्द चन्द्र *गाहड़वाल ने बौद्ध-विहारों को कई गाँव दान में दिये।* चोल राजा राजेन्द्र प्रथम कुलोत्तुङ्ग ने बौद्ध विहारों के संरक्षणार्थ अतुल धन राशि दान में दी। चालुक्य राजागण जैन धर्म को आदर की दृष्टि से देखते थे। राष्ट्रकूट राजे. अमोघवर्ष प्रथम, इन्द्र चतुर्थ, कृष्ण द्वितीय, इन्द्र तृतीय, जैन-धर्म को भी आश्रय प्रदान करते थे। गङ्ग राजागण ने जैन आचार्यों को संरक्षण दिया। महान् विट्टिग विष्णु वर्द्धन होयसल (सन् ११1०—४० ई०) पहिले जैन था फिर रामानुजाचार्य ने उसे वैष्णव धर्म में दीक्षित कर दिया। कुमारपाल के राज्य मे हेमचन्द्र जैन का बडा प्रभाव था।

गुप्तकाल में समाज में जो परिवर्तन हुए उनके फलस्वरूप बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा। इस काल में ब्राह्मणों ने जिस वैदिक धर्म का पुनरुत्थान किया उसका स्वरूप था पौराणिक धर्म और भक्ति मार्ग की सरस

धारा का प्रवाह। वैष्णव, शैव और शाक्त मत भक्ति-मार्ग के संप्रदाय थे। गुप्तकाल से ही भक्ति-मार्ग ने जनता मे अपूर्व जागरण उत्पन्न कर दिया और उसमे उत्साह की लहर दौड़ने लगी। विष्णु और शिव उपासना के मुख्य केन्द्र बने। ब्रह्मा, सूर्य, गणेश, कार्तिकेय, इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण, मरुत आदि देवगण भी वन्दनीय थे। आधुनिक हिन्दू धर्म के स्वरूप का निर्माण उसी काल मे हुआ। देवियों में मातृका, दुर्गा, लक्ष्मी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। मन्दिरो के निर्माण और उनमें देवमूर्तियों के प्रतिष्ठापन का कार्य बड़ी तेजी से चला। निस्सदेह यज्ञों की अपेक्षा उपासना पद्धति और भक्ति मार्ग का अनुसरण अधिक सरल थे। इस कारण यज्ञो का प्रचलन कम हो गया। यज्ञो मे विधि-विधान का बड़ा झंझट था। यज्ञ के सब विधानों को पूर्ण करने के लिए यजमान की अवस्था लम्बी होना अपेक्षित था। अलबरूनी कहता है कि इस काल में अवस्था कम होती थी इसलिए यज्ञो का किया जाना बन्द सा हो गया और यज्ञो का स्थान दान ने लिया अब यज्ञ की अपेक्षा दान मोक्ष प्राप्ति का सुगम मार्ग समझा जाने लगा।

साधारणतया चोल तथा दक्षिण के अन्य शासक सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु थे और वैष्णव अलवार तथा शैव नयनमार दोनो को अपने सिद्धान्तो का प्रचार करने की छूट थी। धर्मोपदेशको ने प्रचलित धर्मों मे अपने उपदेशो द्वारा एक नवीन चेतना उत्पन्न कर दी। कुमारिल भट्ट, शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य तथा माध्वाचार्य जैसे महान् पुरुष दक्षिण भारत की देन थे। उन्होने अपने आत्मबल एव पाण्डित्य के द्वारा हिन्दू धर्म को एक जनप्रिय मोड़ दिया। उनके व्यक्तित्व की छाप हिन्दू धर्म पर सदा के लिए अङ्कित रहेगी।

सातवी शताब्दी में हुयेनसङ्ग ने कई सौ सङ्घाराम और दस हजार भिक्षु देखे। पल्लव राज्य में बौद्ध धर्म बहुत काल तक चलता रहा। आगे चल कर बौद्ध धर्म के मूल स्वरूप मे एक विराट परिवर्तन आ गया था और वह इतना अधिक तान्त्रिक हो गया कि उसकी मौलिकता नष्ट सी हो गई प्रतीत होती थी। भिक्षु लोग विलासी हो गए। भिक्षुणियो के सान्निध्य से व्यभिचार की घटनायें सङ्घ मे व्याप्त होने लगी।

नवी शताब्दी मे वैष्णव धर्म मे भी वाह्याडम्बर और भ्रष्टाचार का समावेश होने लगा। वैष्णव सम्प्रदाय मे गोपी-प्रसङ्ग, अंतरङ्ग समाज, शैव सम्प्रदाय में पाशुपत, कापालिक और अघोरपंथ, शाक्त सम्प्रदाय मे भैरवी चक्र योगियों में सिद्धि मार्ग आदि कुप्रथाओ ने धार्मिक क्रियाओं मे अनैतिकता उत्पन्न कर दी।

काश्मीर, उड़ीसा, बङ्गाल और आसाम का स्वरूप तान्त्रिक हो गया। उसके कई सम्प्रदाय वाम मार्ग की ओर उन्मुख हो गये, जिनमें पञ्च मकारों—मदिरा, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन को धर्म के नाम पर मान्यता प्राप्त हुई।

शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित वेदान्तमार्ग ने प्रचलित धर्म में युगान्तरी प्रभाव उत्पन्न किया। शङ्कराचार्य ने भारत के चार कोनों मे चार मठ स्थापित किये। उत्तर हिमालय में बदरिकाश्रम, दक्षिण में मैसूर के अन्तर्गत शृंगेरी, पूर्व के उड़ीसा प्रान्त में पुरी और पश्चिम के सुराष्ट्र प्रदेश में द्वारका विशेष उल्लेखनीय हैं। इन मठों के अधिष्ठाता परम्परागत शङ्कराचार्य कहलाये। उनका मुख्य कार्य वेदान्त का प्रचार करना था।

शासन-व्यवस्था

यद्यपि राजागण सदैव ही परस्पर युद्ध रत रहते थे, सरकारें सुसङ्गठित थी। युद्ध जन्य परिस्थितियों का शासन के प्रबन्ध पर बहुत कम प्रभाव पडता था। संघर्ष उत्तराधिकार सम्बन्धी भी हो जाते थे परन्तु इन सङ्घर्षों से प्रशासन-कार्य अप्रभावित रहता था। यद्यपि राजनीतिक दृष्टिकोण से स्थितियाँ शान्तिपूर्ण न थी तथापि पाल, चोल और पूर्वी चालुक्य राजागण पूरी चार शताब्दियों तक अपना शासन स्थिर रखने में समर्थ रहे। प्रतीहारो, राष्ट्रकूटों और पश्चिम चालुक्यों में से प्रत्येक ने दो शताब्दी से ऊपर राज्य किया। उस काल में यातायात और परिवहन के साधन सीमित थे फिर भी सुदूर प्रान्तों तक फैला हुआ शासन एक सूत्र में बँधा रहा यह तत्कालीन प्रशासनिक दक्षता का द्योतक है।

गुप्त पूर्व काल में अधिकारियो के पदों का जो नामकरण था उसमे अब कुछ भिन्नता आ गई थी परन्तु अधिकारियों के कर्तव्य पूर्ववत् ही थे। सब राज्यो में शासन-यन्त्र उसी प्रकार का था। राज्य कई प्रान्तो मे विभक्त था। उत्तर में प्रान्त को भुक्ति और दक्षिण में मण्डलम् कहते थे। प्रान्त विषय या भोगों में विभक्त था। कोट्टम या वलनाडु दक्षिण में मण्डल के भाग हुआ करते थे। विषय में कई अधिष्ठान होते थे। दक्षिण में यह नाडु कहलाते थे। अधिष्ठान ग्राम समूहों में बँटा होता था। ग्राम समूह को उत्तर मे अग्रहार और दक्षिण मे कुर्रम कहते थे। सबसे नीचे की इकाई ग्राम थी। शासन यन्त्र को संचालित करने के लिए बहुत से छोटे बड़े केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय कर्मचारीगण थे।

साधारणतया राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी था इस लिये शासन के निर्वाचन का कोई प्रश्न ही न था। कभी ज्येष्ठ पुत्र अयोग्य

होता अथवा कनिष्ठ पुत्र उससे अपेक्षाकृत अधिक योग्य होता तो उत्तराधिकार राजा के छोटे पुत्र को प्राप्त हो जाता था।

जनता द्वारा राजा के निर्वाचन की घटनायें बहुत ही क्वचित् होती थी। सन् ६३६ ई० मे शूरवर्मन की मृत्यु के उपरान्त ब्राह्मणों के एक सम्मेलन ने यश:कर नाम के व्यक्ति को काश्मीर का राजा निर्वाचित किया। आठवी शताब्दी में राजकीय विप्लवों से पीडित जनता ने बङ्गाल मे गोपाल नामक व्यक्ति को वहाँ का राजा घोषित किया। राजा लोग बड़े ठाठ-बाट से रहते थे। उनकी स्वच्छन्दता और निरकुशता अबाध थी। यद्यपि उस काल में मन्त्रियो और अमात्यो का अस्तित्व था परन्तु ऐसी किसी बलशालिनी मन्त्रि परिषद् का उल्लेख नही मिलता जो राजा की स्वच्छन्दता अथवा निरकुशता पर नियन्त्रण रख सके। ऐसे मन्त्री बहुत कम होते थे जो निर्भीकता पूर्वक राजा को परामर्श दें, कदाचित् वे राजा को हाँ में हाँ मिलाकर अपना पद सुरक्षित रखना अधिक उचित समझते थे। इस काल में मन्त्री लोग अधिकतर निर्बल और राजा के भय से त्रस्त हुआ करते थे यद्यपि कुछ उदाहरण दृढ़ प्रतिज्ञ, प्रतिभाशाली और उत्कृष्ट राज्य भक्ति से परिपूर्ण ऐसे महान् व्यक्तियो के भी मिलते हैं जिन्होने बड़ी दक्षता से मन्त्रिपदोको सुशोभित किया।

बहुधा राजा लोग युद्ध में जीते हुए राज्य को अपने राज्य मे नहीं मिलाते थे। विजेता ऐसा करना धर्म और नीति के विरुद्ध समझता था। विजेता द्वारा विजित राज्य पराजित राजवंश के किसी योग्य व्यक्ति को सौप दिया जाता था और वह उस राज्य को विजेता के नाम पर उसके एक सामन्त की स्थिति मे चलाता था। मनु और कौटिल्य दोनो का ही यह मत था कि विजित राज्य पराजित राजवंश को ही सौंपा जाय। पराजित राजा द्वारा विजेता की प्रभुसत्ता स्वीकार कर लेना ही यथेष्ट था। राजवंशो का उन्मूलन स्थानीय प्रजा को सह्य न था। कभी-कभी कुछ साम्राज्यवादी शक्तियों ने विजित प्रदेशो को अपने राज्य में मिला लेने की चेष्टा की परन्तु इसमे उन्हें अधिक सफलता न मिली।

सामन्त अथवा महासामन्त युद्ध में सेना लेकर अपने स्वामी के साथ जाते थे। उनका कर्तव्य था कि सुरक्षा के लिए पर्याप्त सेना रक्खें। इस विधान के कारण प्रभुओं मे उपयुक्त परिमाण में सेना रखने की प्रवृत्ति कम होती गई। वे सामन्तो पर निर्भर रहने लगे। यह व्यवस्था आगे चलकर अभिशाप सिद्ध हुई। जब बाहरी शत्रुओ ने भारत पर आक्रमण किया तब राजाओ को इस घातक व्यवस्था का परिणाम भुगतना पड़ा।

शान्ति सुरक्षा

इस काल में शान्ति सुरक्षा का बहुत ध्यान रक्खा जाता था। राजाओं की वैदेशिक नीति तो युद्धप्रियता से प्रभावित थी ही परन्तु शान्ति एवं सुरक्षा उत्तम प्रकार की गृह नीति की परिचायक थी। इतिहासकार अल सुलैमान प्रतीहार साम्राज्य में फैली हुई शान्ति एवं सुरक्षा से बहुत प्रभावित हुआ। उसने लिखा है, "भारत में ऐसा कोई राज्य नही है जो डाकुओ से इससे अधिक निरापद हो।" इससे दो शताब्दी पूर्व जब हुएनसांग भारत में आया था तो उसे डाकुओं से बड़ा तंग होना पड़ा था।

कर-पद्धति

राजकीय आय का प्रमुख माध्यम भूमि कर था। भूमिकर का निर्धारण करते समय भूमि का उपजाऊपन, सिंचाई सम्बन्धी साधन और राज्य की आर्थिक कठिनाइयों का विचार रक्खा जाता था। सामान्यतया कर की प्राप्ति उपज के रूप मे की जाती थी। कभी-कभी कर नकद रुपये के रूप में भी उगाहा जाता था। भूमि की नाप समय-समय पर की जाती थी और जोत का हिसाब भी रक्खा जाता था।

समान व्यवसाय में लगे हुए लोग अपनी अलग श्रेणी या निकाय बनाते थे जिनके द्वारा उनके धन्धे का नियमन होता था। प्रत्येक श्रेणी का प्रमुख अलग होता था। श्रेणियां कभी-कभी बैंक का काम भी करती थी। श्रेणियां मन्दिरो के सुचारु रूप से संचालन के निमित्त चन्दा भी करती थी। श्रेणियां निश्चित ब्याज की दर पर धन जमा करती थी। श्रेणियो के कार्यकलाप मे शासन का हस्तक्षेप नगण्य था। समाज में अनुशासन बनाये रखने में श्रेणियो की भूमिका महत्वपूर्ण थी।

जनहित के निर्माण कार्य

जनता की सुख समृद्धि के लिए अनेक निर्माण कार्य भी सम्पन्न हुए। चोल राजाओ ने बड़ी-बड़ी सड़को का निर्माण कराया। इससे व्यापारिक सुविधाएँ बढ़ी और सेना के लिए यातायात के मार्ग खुले। इन राजाओ ने अनेक कुओ और तालाबो का निर्माण कराया, कावेरी पर पुल बनवाया तथा नहरी व्यवस्था ठीक कराई। गंगाई कोण्डचोलपुरम् मे कृत्रिम झील खुदवाई जो कोलेरून और वल्लर नदियों के जल से परिपूर्ण की गई। चन्देलो ने महोबा मे मदनसागर और परमारों ने धार में मुंजसागर निर्माण करवाया। काश्मीर मे महाराज अवन्ति वर्मन के मन्त्री सुय्य ने अनेक नहरें बनाईं जिनसे वहाँ के लोग सिंचाई की सुविधा के कारण समृद्ध हो गये।

भाषा और साहित्य

प्रायः ग्यारहवीं सदी तक सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये। कई राजागण ऐसे हुए जिन्होंने स्वयं साहित्य सृजन किया, वे सामान्यतया विद्वानों और कलाकारों को प्रश्रय देते थे। जिन राजाओं ने स्वयं साहित्यिक रचनाएँ की उनकी संक्षिप्त नामावली इस प्रकार है—

राजा का नाम	कृति
वल्लभ सेन ···· ···· ····	दान-सागर, अद्‌भुत सागर।
राजा भोज (परमार) ····	आयुर्वेद सर्वस्व, राज मृगांक, व्यवहार समुच्चय, शब्दानुशासन, समरांगण सूत्रधार, सरस्वती कण्ठाभरण, नाम मालिका, युक्ति कल्पतरु।
अमोघवर्ष प्रथम (राष्ट्रकूट) ··	कविराज मार्ग, प्रश्नोत्तर मालिका।
सोमेश्वर तृतीय (चालुक्य) ···	मानसोल्लास।
विग्रहपाल विसलदेव (चाहमान)	हरकेलि नाटक।

इनके अतिरिक्त पूर्वी चालुक्यों, गंगों और पल्लवों में कई राजे अच्छे लेखक और काव्य निर्माता हो गये हैं। पूर्व मध्यकाल मे विद्वानों द्वारा प्रभूत मात्रा में साहित्य सृजन हुआ। कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थो की तालिका इस प्रकार है—

	ग्रन्थकार	ग्रन्थ
काव्य—	श्रीहर्ष	नैषधचरित
	जयदेव	गीतगोविन्द
	मंख	श्रीकण्ठचरित
	बिल्हण	विक्रमांकदेव चरित
	पद्मगुप्त	नवसाहसांक चरित
	सोमदेव	कीर्ति कौमुदी
	जयानक	पृथ्वीराज विजय
	कल्हण	राजतरंगिणी

अन्तिम पांच ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं।

नाटक—	भवभूति	मालतीमाधव, महावीर चरित, उत्तर रामचरित
	दामोदर	हनुमन्नाटक
	कृष्णमिश्र	प्रबन्ध चन्द्रोदय

	सोमदेव	ललित विग्रहराज
काव्यशास्त्र—	राजशेखर	काव्यमीमांसा
	आनन्दवर्द्धन	ध्वन्यालोक
	मम्मट	काव्यप्रकाश
	धनंजय	दशरूपक
	हेमचन्द्र	काव्यानुशासन
	वैद्यनाथ	प्रतापरुद्रीय
शब्दकोष—	हेमचन्द्र	अभिधान चिन्तामणि
	हलायुध	अभिधान रत्नमाला
	यादवभट्ट	वैजयन्ती माला
आयुर्वेद—	वाग्भट्ट	अष्टांगहृदय
	वृन्द	सिद्धयोग
	शार्ङ्गधर	शार्ङ्गधरसंहिता
नीति—	चन्द्रेश्वर	नीति रत्नाकर
	सोमदेव	नीति वाक्यामृत
व्याकरण—	हेमचन्द्र	हेमव्याकरण
	शकटायन	शकटायन व्याकरण
	क्रमदीश्वर	संक्षिप्त सार
विधि—	मेधातिथि	मनुस्मृति (टीका)
	गोविन्दराज	"
	विज्ञानेश्वर	मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य स्मृति)
	लक्ष्मीधर	स्मृतिकल्पतरु
	हेमाद्रि	चतुर्वर्ग-चिन्तामणि
	हलायुध	ब्राह्मण सर्वस्व
दर्शन—	कुमारिल	श्लोक वार्तिक, तन्त्र वार्तिक
	मंडन मिश्र	मीमांसानुक्रमणी, विधि विवेक
	वाचस्पति मिश्र	न्याय कणिक, तत्वबिन्दु, सांख्य तत्व कौमुदी
	शंकराचार्य	उपनिषदों पर भाष्य, आत्म बोध, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य
	रामानुज	वेदान्तसार, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य
	उदयन	कुसुमांजलि
	मध्वाचार्य	तत्वसार संग्रह
	हेमचन्द्र	प्रमाणमीमांसा

इसके अतिरिक्त प्राकृत में भी उत्कृष्ट रचनाएँ की गईं जिनमें निम्न-लिखित उल्लेखनीय हैं। वाक्पतिराज कृत 'गौडवहो', राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी', भोज का 'कूर्मशतक', हेमचन्द्र कृत 'कुमारपाल चरित्' और सोमप्रभा का 'कुमारपाल प्रबोध' उत्कृष्ट प्राकृत रचनाएँ हैं।

पूर्व मध्यकाल में राजकीय पत्र, प्रशस्तियां, दानपत्र और उत्कीर्ण लेख संस्कृत भाषा में हुआ करते थे। इस काल में कुछ प्रान्तीय भाषाओं का विकास भी हुआ। 'भारतीय इतिहास की भूमिका' नामक अपने ग्रन्थ में पृष्ठ ३३६ पर डा० राजबली पांडेय इस प्रकार लिखते हैं, "संस्कृत की प्रधानता होते हुए भी प्रान्तीय भाषाओं—हिन्दी, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलगु आदि का विकास इसी काल के अन्तिम भाग में प्रारम्भ हुआ। राजनैतिक विकेन्द्रीकरण और बाहरी आक्रमणों से उत्पन्न परिस्थिति ने आगे चलकर इस प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया। विदेशी राजनीति और भारत की संस्कृति, इतिहास और धर्म की भाषा को देश के पुनरुत्थान के भय से सहन नहीं कर सकते थे। वे प्रान्तीय बोलचाल की भाषा को, जिसमें साधारण काम-काज हो सकते थे, प्रोत्साहन देते थे। जनता की ऊँची आकांक्षाएं दबी रहती, अतः वह इसी भाषा से संतोष करती थी।"

कला

यद्यपि इस काल मे राजागण परस्पर युद्धरत रहे और एक केन्द्रीय शासन का अभाव था तथापि इस काल में हिन्दुओं ने ललित कलाओं में बड़ी उन्नति की। जिस प्रकार संस्कृत भाषा के अन्तर्गत प्रभूतमात्रा मे साहित्य का निर्माण हुआ उसी प्रकार अभिनय, संगीत, नृत्य, वाद्य आदि कलाओं की भी महती उन्नति हुई। धर्म और उपासना पद्धति से ललित कलाएँ प्रभावित हुई। देवमण्डल का विस्तार हुआ। मन्दिरों का बड़ी संख्या मे निर्माण हुआ। उनमे अगणित मूर्तियां प्रतिष्ठापित हुई। मौर्य-गुप्त काल मे कलाकृति सजीव एव सरल थी। उसमें शालीनता तो थी ही लालित्य और हस्तकौशल का भी अभाव न था। परन्तु इस काल की कला अलंकरण की प्रचुरता से दब सी गई थी। इसमे मौलिकता और प्राकृतिकता का अभाव था। यह सब होते हुए भी उसमें सौन्दर्य और कला-प्रदर्शन की कमी न थी। मन्दिर देवालयों के निर्माण की तीन शैलियाँ थी (१) नागर शैली (ऊँचे शिखरों से युक्त निर्माण) (२) बेसर शैली (चालुक्यों की स्थापत्य कला) (३) द्रविड़ शैली सुदूर दक्षिण की शैली जिसमें विशाल मन्दिरो के ऊपर विमान और रथ बने रहते थे। इस काल की स्थापत्य कला में अलंकारिता और सजावट अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। चन्देल राजाओं द्वारा निर्मित खजुराहो के मन्दिर, उड़ीसा मे

भुवनेश्वर के मन्दिर, काश्मीर का मार्तण्ड मन्दिर, हिन्दचीन में बोरोबुदुर का मन्दिर उत्तर भारत की स्थापत्य कला की उत्कृष्ट कृतियां हैं। जावा और सुमात्रा के मन्दिर भी उत्तरी भारत की कला के अङ्ग हैं। अजन्ता और इलोरा के गुहा मन्दिर दक्षिण कृतियों के रूप में दर्शनीय स्थल है।

मूर्तियों का निर्माण बहुत बड़े परिमाण में हुआ। ब्राह्मण, बुद्ध और जैन तीनों धर्मों से सम्बन्धित मूर्तियों की रचना हुई। विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य, ब्रह्मा, गणेश, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व आदि की मूर्तियां बौद्ध धर्म की थी। कुछ मूर्तियां धातु की भी होती थी। पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, पुष्पादि के चित्र भी पत्थरों पर सजावट की दृष्टि से उत्कीर्ण किये जाते थे। सौन्दर्य उस समय की कला का प्रधान अङ्ग था।

हर्षोत्तर भारत के प्रान्तीय राज्य

हर्ष की मृत्यु के बाद उत्तर भारत की राजनीतिक एकता भंग हो गई। मौर्य, गुप्त सम्राटों के समय में तथा इनके बाद हर्ष के समय में भी विदेशों और खास तौर से एशियाई देशों से दौत्य सम्बन्ध अविकल रूप से स्थापित थे। हर्ष की मृत्यु के बाद एक विचित्र दुर्घटना हुई। उसके ही एक अमात्य अर्जुन (जिसको इतिहास मे अरुणाश्व भी लिखा है) ने कान्यकुब्ज के राज्य को हड़प लिया। हर्ष के उत्तराधिकारी की अनुपस्थिति में अर्जुन द्वारा राज्य पर अधिकार किया जाना तो कोई असाधारण घटना न थी परन्तु उसी काल में आये हुए चीन के दूतमण्डल के साथ उसका व्यवहार एकदम निन्द्य था। वांग-हुसेन-सी के नेतृत्व मे आये चीनी मण्डल के कुछ सदस्यो का तो अर्जुन ने वध करा दिया और कुछ को बन्दी बना लिया। वांग-हुयेन-सी और उनके कुछ साथी रात्रि के अंधकार मे नैपाल की ओर भाग निकले। अर्जुन ने मण्डल की समस्त सामग्री जिसमें भारतीय राजाओं द्वारा प्रदत्त अनेक उपहार भी थे, लूट ली।

उस समय के नैपाल के राजा की लड़की तिब्बत के राजकुमार को ब्याही गई थी। वांग-हुयेन-सी के प्रति इस दुर्व्यवहार से क्रोधित होकर नैपाल नरेश ने ७००० अश्वारोही और तिब्बत के शासक ने १२०० छटे हुये प्रशिक्षित सैनिक वांग-हुयेन-सी को कान्यकुब्ज से बदला लेने के लिये दिये। कामरूप के राजा भास्कर वर्मन ने भी सैन्य बल देकर उसकी सहायता की। इस सम्मिलित सैन्यबल से चीनी दूत ने अर्जुन की सेनाओं को तिरहुत में परास्त कर दिया। तीन हजार भारतीय सिपाहियों का कत्लेआम हुआ, दस हजार के

करीब नदी में डूब गये, अर्जुन परास्त हुआ और बन्दी बना लिया गया। वांग-हुयेन-सी ने बड़ी लूट मार की, अनेक लोगों का वध किया, लगभग १२ हजार सैनिक बन्दी बनाये और अर्जुन को चीन ले गया जहाँ पर कि उसका वध कर दिया गया।

ऐसी डाँवाडोल परिस्थिति में उत्तरी भारत में एकतन्त्र शासन न रहा और इसके परिणाम स्वरूप अनेक राज्यो का उदय हुआ। कोई आश्चर्य नही कि इन राज्यों मे आधिपत्य के लिये परस्पर संघर्ष रहने लगा। चार राज्यों में मुख्य संघर्ष हुआ वे थे कन्नौज, काश्मीर, मगध और राष्ट्रकूट। कुछ समय तक प्रतीहार लोग शक्ति सम्पन्न रहे। पीछे उनका स्थान पाल राजाओ ने ले लिया। पालो के अन्त के बाद उत्तरी भारत अन्हिलवाड़ा के चालुक्य, जेजाकमुक्ति के चन्देल ग्वालियर के कच्छपघट, दहल के चेदि, मालवा के परमार, दक्षिणी राजपूताना के गुहिल और शाकम्बरी के चाहमान राज्यों की शक्तियों में विभाजित था।

कान्यकुब्ज (कन्नौज)

हर्ष की मृत्यु उपरांत ६५० ई० से सन् ७२५ ई० तक कान्यकुब्ज के राज्य का इतिहास अन्धकार के गर्त में है। सन् ७२५ ई० में यशोवर्मन् कान्यकुब्ज का राजा हुआ। इसके नाम के पीछे वर्मन लगा होने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह मौखरी वंश का राजा था। वाक्पति रचित प्राकृत ग्रन्थ गौड़वहो में यशोवर्मन के दिग्विजय का पता चलता है। उस ग्रन्थ के अनुसार यशोवर्मन ने मगध, बंग, मलय, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, मरु, पजाब (श्रीकण्ठ) और हिमाचल प्रदेश पर विजय प्राप्त की। उत्तर रामचरित, मालतीमाधव और महावीर चरित्र के प्रणेता भवभूति और गौडवहो प्राकृतग्रन्थ के रचयिता वाक्पति को यशोवर्मन की सभा में आश्रय प्राप्त था। एक बार यशोवर्मन को काश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड़ से पराजित होना पड़ा।

यशोवर्मन की मृत्यु के बाद उसके तीन वशजों ने राज्यपद प्राप्त किया परन्तु उनके राज्य के विषय में कोई ऐतिहासिक घटना ज्ञात नही।

मौखरी वश के बाद आयुधवंशीय तीन राजा हुए। उनके नाम हैं वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध। इन्होने सन् ७७० ई० से ८१६ ई० तक राज्य किया। वज्रायुध को काश्मीर के राजा जयापीड़ ने युद्ध में परास्त किया। वज्रायुध की मृत्यु के उपरान्त एक बार राष्ट्रकूट राजा ध्रुव ने इन्द्रायुध को हराया। कुछ समय बाद बंगाल के राजा धर्मपाल ने 'इन्द्रायुध को राज्यच्युत करके चक्रायुध को कान्यकुब्ज का राज्य सोप दिया। चक्रायुध के

समय में कान्यकुब्ज पर विजय प्राप्त करने के लिये पाल, राष्ट्रकूट और प्रतीहार राजागण ने त्रिकोण संघर्ष आरम्भ कर दिया जिसमें अन्ततोगत्वा प्रतीहार वंशीय राजाओं को सफलता प्राप्त हुई। सन् ८१६ ई० प्रतीहार राजा नागभट्ट द्वितीय ने चक्रायुध को गद्दी से उतार कर कान्यकुब्ज पर अपना राज्य स्थापित कर दिया।

प्रतीहार वंश

प्रतीहार वंशीय राजा गुर्जर थे। ये श्रीराम के भाई लक्ष्मण को अपना पूर्वज मानते थे। कान्यकुब्ज पर अधिकार जमाने के पहिले प्रतीहार अवन्ति के स्वामी थे। नागभट्ट द्वितीय का पिता वत्सराज अवन्ति पर शासन करता था। वत्सराज के पूर्वज नागभट्ट प्रथम ने अरबों को भारत मे घुसने नही दिया और उनके आक्रमण को सिन्ध तक ही सीमित करने का श्रेय नागभट्ट प्रथम को है। एक दान लेख से पता चलता है कि उसने शक्तिमान् म्लेच्छराज की सेनाओं को भयङ्कर रण में परास्त किया। यह म्लेच्छराज और कोई नही अरब लुटेरे थे। नागभट्ट प्रथम को ध्रुवराज राष्ट्रकूट से पराजय का मुँह देखना पड़ा।

वत्सराज के बाद उसका पुत्र नागभट्ट द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसने अपनी राजधानी अवन्ति से हटाकर कान्यकुब्ज (कन्नौज) मे कर ली। नागभट्ट द्वितीय ने पहिले तो चक्रायुध को हटा कर कान्यकुब्ज पर अपना अधिकार कर लिया फिर चक्रायुध के सरक्षक बङ्गाल के राजा धर्मपाल को मुंगेर के पास घोर युद्ध के बाद परास्त किया। इससे उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई और आस-पास के राजाओ ने उसके पास उसकी अधीनता स्वीकार करने के सन्देश भेजे। भोज की ग्वालियर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने आनर्त (काठियावाढ), मालवा, मत्स्य (पूर्वी राजपूताना), किरात (हिमाचल प्रदेश) तुरुष्क (सिन्ध के अरब) और वत्स (कौशाम्बी) पर विजय प्राप्त की।

नागभट्ट द्वितीय के बाद रामभद्र राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसका शासन निर्बल था। उसके शासन काल मे सामन्तो ने सिर उठाया और वे अपने आपको स्वतन्त्र समझने लगे। रामभद्र के उत्तराधिकारी मिहिर भोज (सन् ८३६ ई० से ८८५ ई० तक) ने बहुत शीघ्र अपना स्वत्वाधिकार स्थापित कर लिया। उसने अपने राज्य का विस्तार करना चाहा। बङ्गाल मे राजा देवपाल का दृढ शासन था इसलिए वह बङ्गाल की ओर कुछ प्रगति न कर सका। परन्तु दक्षिण पश्चिम मे नर्मदा और सुराष्ट्र तक उसका राज्य फैल गया। पूर्वी पंजाब भी उसके राज्य में सम्मिलित था। उसने अपने वंश के

पुराने शत्रु राष्ट्रकूट शासक ध्रुवधारा वर्ष और कृष्ण द्वितीय से भी संघर्ष जारी रखा। अरब यात्री सुलेमान ने सन् ८५१ ई० में भोज के शक्ति व प्रबन्ध की बड़ी प्रशंसा की है। वह लिखता है कि भोज मुसलमानो का शत्रु था और उसके पास अपार अश्वारोही सैनिक बल था। उसके राज्य मे जनता सुखी तथा समृद्ध थी।

महेन्द्रपाल प्रथम (सन् ८८५ ई० से ९१० ई०) के समय मे प्रतीहारों की शक्ति स्थिर रही। उसने पाल राजाओं को परास्त कर पूर्व में मगध, उत्तर बिहार और उत्तर बङ्गाल को उनसे छीन कर अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। काश्मीर के राजा शङ्करवर्मन् से उसे हार माननी पड़ी और उसके राज्य का कुछ भाग निकल गया। महेन्द्रपाल के दरबार में कवियो और साहित्यकारो को प्रश्रय प्राप्त था। राजशेखर महेन्द्रपाल की सभा के जाज्वल्यमान नक्षत्र थे, जिन्होंने काव्यमीमासा, कर्पूरमंजरी, बालरामायण और बालभारत की रचना की थी।

महीपाल (९१० से ९४४ ई० तक)—महेन्द्रपाल का उत्तराधिकारी महीपाल हुआ। राजशेखर ने महीपाल को सम्पूर्ण उत्तर भारत का महाराजाधिराज कहा है। "प्रचण्ड पाण्डव" के एक श्लोक से विदित होता है कि महीपाल मुरल (नर्मदा प्रदेश के निवासी) मेखल (अमरकण्टक के निवासी) कलिङ्ग, केरल, कुलूत, कुतल तथा रमठ का विजेता था। परन्तु राष्ट्रकूट जो कि प्रतीहारो के पुराने शत्रु थे महीपाल के समय मे प्रबल वेग से आक्रमण करने लगे और प्रतीहार शक्ति का महीपाल के राज्य के अन्तिम दिनो मे ह्रास होने लगा।

महीपाल का पुत्र महेन्द्रपाल द्वितीय हुआ। उसने किसी प्रकार राज्य को सुरक्षित रक्खा। उसके उत्तराधिकारी देवपाल के समय में जेजाकभुक्ति का चन्देल राजा यशोवर्मन् स्वतन्त्र हो गया। उसने विष्णु की एक बहुमूल्य मूर्ति देवपाल से बलपूर्वक ग्रहण कर खजुराहो के एक मन्दिर में स्थापित की। देवपाल के बाद साम्राज्य का विघटन आरम्भ हो गया। प्रतीहारो के सामन्तो ने अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया। उनमे प्रमुख ग्वालियर के कच्छपघाट, दहल के चेदि, मालवा के परमार, मेवाड के गुहिल और शाकम्बरी के चाहमान थे। दशवी शताब्दी के अन्त में राज्यपाल प्रतीहारों के राज्यसिंहासन पर बैठा। उसके काल में महमूद गजनवी के आक्रमण शुरू हो गये। काबुल और पंजाब के शाही राजा जयपाल और उसके पुत्र आनन्दपाल ने तुर्कों का सामना करने के लिये एक संघ बनाया था उसमे राज्यपाल ने भी अपनी सेना भेजी। परन्तु संघ की सेनाएं पराजित हुईं और सन् १०१८ में

पंजाब पर आक्रमण करते हुए महमूद ने कान्यकुब्ज पर चढ़ाई की। राज्यपाल निर्बल और आत्मविश्वास से रहित था। वह गङ्गापार भाग गया और पीछे उसने महमूद की अधीनता स्वीकार कर ली। चन्देल राजा गण्ड कान्यकुब्ज के अधिपति द्वारा इस कायरतापूर्ण आत्मसमर्पण से बड़ा अप्रसन्न हुआ और उसने अपने पुत्र युवराज विद्याधर के सेनापतित्व में एक सेना भेजी जिसने राज्यपाल को युद्ध में परास्त किया। राज्यपाल युद्धक्षेत्र में मारा गया और युवराज विद्याधर ने उसके पुत्र त्रिलोचन पाल को कान्यकुब्ज के राज्य सिंहासन पर बैठा दिया। महमूद ने यह सुनकर पुनः कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया। त्रिलोचनपाल भाग गया। सन् १०३६ ई० में अन्तिम राजा यशपाल के बाद प्रतीहार वंश का मूलोच्छेद हो गया।

गहड़वाल वंश

प्रतीहारों के पतन के बाद मध्यदेश में अराजकता फैल गई। चेदि के कलचुरि, राष्ट्रकूट और मालवा के परमारों ने कन्नौज पर आक्रमण करने शुरू कर दिए। नियाल्तिगिन अहमद पंजाब के तुर्क शासक ने भी कन्नौज पर धावा बोला। उसका धावा गांगेयदेव चेदि के राज्य काशी तक पहुँचा। इसी अराजक परिस्थिति में गहड़वाल वंश का उदय हुआ। इतिहासकारों का मत है कि ये राष्ट्रकूटो अथवा राठौरों की शाखा के थे। कुछ ऐतिहासिक इनको चन्द्रवंशीय कहते हैं। चन्द्रदेव इनके कुल का संस्थापक था। उसने कान्यकुब्ज मे गहड़वाल कुल की स्थापना की। उसके अभिलेखों से ज्ञात है कि उसने परम भट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि सम्राट परक उपाधियाँ धारण की। अभिलेखों मे उसको काशी, उत्तरकोशल (फैजाबाद) कुशिक (कन्नौज) और इन्द्रस्थान (दिल्ली) आदि तीर्थस्थानो का त्राता लिखा है। इस प्रकार उसका राज्य आधुनिक समस्त उत्तरप्रदेश पर था। उसने बङ्गाल के विजयसेन के आक्रमणों को भी रोका। लगभग ११०० ई० मे उसकी मृत्यु हो गई।

गोविन्दचन्द्र—चन्द्रदेव के पुत्र मदनपाल के विषय में कुछ ज्ञातव्य नही। उसके बाद उसका पुत्र गोविन्द सन् १११४ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने पिता के जीवनकाल में ही तुर्कों का वीरतापूर्वक सामना किया था। पालो की क्षीणशक्ति का लाभ उठाकर उसने मगध का पश्चिमी भाग अपने अधिकार में ले लिया। काश्मीर, गुजरात और चोल राज्य उसके मित्र थे। गोविन्दचन्द्र कलाओं का आश्रयदाता और दानवीर था। उसकी रानी कुमारदेवी की आस्था बौद्ध धर्म में थी। उसने सारनाथ में एक बिहार बनवाया।

विजयचन्द्र—गोविन्दचन्द्र का पुत्र विजयचन्द्र सन् ११५४ मे कान्यकुब्ज की गद्दी पर बैठा। उसने भी तुर्कों को पीछे ढकेलने और राज्य का विस्तार करने मे अपूर्व साहस का परिचय दिया। उसके राज्यकाल मे चाहमान के आक्रमण के परिणाम स्वरूप दिल्ली उसके हाथ से निकल गई।

जयचन्द्र—विजयचन्द्र के बाद जयचन्द्र कान्यकुब्ज का राजा हुआ। उसने अनेकों युद्ध किये और उसकी विशाल सेनाओं ने देवगिरि के यादवों, गुजरात के सोलंकियों और तुर्कों को बुरी तरह परास्त किया। उसने अपनी विजयों की कीर्ति के स्मारक स्वरूप राजसूय यज्ञ किया और अपनी पुत्री संयोगिता का स्वयंवर रचा। स्वयंम्वर में चाहमान सम्राट पृथ्वीराज ने संयोगिता का अपहरण कर लिया। इससे गहड़वालों और चाहमानों की शत्रुता और भी कटुतापूर्ण हो गई। सन् ११६३ ई० मे जब शहाबुद्दीन गोरी ने भारत पर आक्रमण किया तो जयचन्द्र ने पृथ्वीराज का साथ नही दिया वरन् आक्रान्ता की सहायता की। उसकी इस चाल ने भारत को दासता के पाश में बांध दिया और जयचन्द्र ने अपना नाम भारतीय इतिहास में सदा के लिए कलंकित कर लिया। सन् ११६३ में शहाबुद्दीन गोरी से युद्ध मे पृथ्वीराज की पराजय हुई और वह मारा गया। सन् ११६४ मे शहाबुद्दीन गोरी ने काण्यकुब्ज पर भी धावा बोल दिया। जयचन्द्र मारा गया तथा गोरी ने कान्यकुब्ज राज्य को भंग कर वहाँ भीषण लूटमार की। इतिहासकारों का मत है कि कन्नौज और बनारस की लूट मे वह १४०० ऊँटो पर सोने, चाँदी और अनेक रत्न आभूषण ले गया।

नैषधचरित और खण्डनखण्ड आदि काव्यो का रचयिता श्रीहर्ष जयचन्द्र के दरबार में रहता था।

जयचन्द्र की मृत्यु के बाद उसका पुत्र राज्य का अधिकारी बना। सन् १२२५ ई० मे अल्तमश ने कन्नौज को अपने अधिकार मे कर लिया और उसी समय से गाहड़वाल वंश का लोप हो गया।

चाहमान वंश

हर्षोत्तर भारत के इतिहास मे चाहमान वंश के राज्य का उदय महत्वपूर्ण है। इस वंश की स्थापना सूर्यवंशीय चाहमान नामक व्यक्ति ने की। कुछ राजपूत कुलो ने तुर्कों और अरबो को देश में न घुसने देने की प्रतिज्ञा अग्नि के सम्मुख की थी। चाहमान वंशीय राजागण भी उस प्रतिज्ञा मे सम्मिलित थे। इस कारण चाहमान वंश के अजयराज नाम के राजा ने बारहवी शताब्दी के प्रथम चरणो मे अजयमेरु (अजमेर) नगर बसाया। उसने

उसमें बहुत से मन्दिर और राजमहल बनवाये। बारहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की समाप्ति पर चाहमान वंश में विग्रहराज वीसलदेव (सन् ११५३-६४) का आविर्भाव हुआ। वीसलदेव ने गहड़वालो से दिल्ली जीत ली और उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। यह महान् कवि, नाटककार एवं विद्याव्यसनी था। उसके लिखे नाटक के कुछ अंश अजमेर में 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' नामक मस्जिद के पत्थर पर लिखे मिले है। वीसलदेव ने एक भव्य भवन का निर्माण किया था जिसमें उसने संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना की थी। उसी महाविद्यालय को मुसलमानों ने मस्जिद मे परिर्वातित कर दिया जिसको अढाई दिन का झोपड़ा कहते हैं। विग्रहराज वीसलदेव ने हरकेलि नाटक और ललितविग्रहराज नामक दो नाटक लिखे थे।

चाहमान वंश का सबसे प्रसिद्ध और अन्तिम राजा पृथ्वीराज था जो अनुश्रुति में पृथ्वीराज चौहान के नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्राट की वीरता, सुन्दरता और प्रेम सम्बन्ध मे विशाल काव्य की रचना हुई है। पृथ्वीराज अपने समय का सर्वोच्च वीर पुङ्गव था। उसने राज्यसिंहासन पर बैठते ही दिग्विजय करना आरम्भ कर दिया और कान्यकुब्ज के राठौरों, जैजाक मुक्ति के चन्देलों और गुजरात के सोलङ्कियों के साथ युद्ध किए। जयचन्द्र द्वारा आयोजित स्वयंम्वर से उसने बलपूर्वक संयोगिता का हरण किया। इस काण्ड के बाद पृथ्वीराज और जयचन्द्र की शत्रुता अत्यन्त कटुतापूर्ण हो गई। यह इस देश का दुर्भाग्य था, कि जिस समय राजपूत राजागण गृहयुद्ध में संलग्न थे उसी समय तुर्क लोग भारत में प्रवेश करने की योजना बना रहे थे। शहाबुद्दीन गोरी ने भारत पर अनेक बार आक्रमण किया और पृथ्वीराज के हाथों कई बार उसकी पराजय हुई। हमीरहठ के वर्णनों से पता चलता है कि पृथ्वीराज ने एक महान् वीर की भाँति पराजित और शरण में आये हुए शत्रु को बार बार छोड़ दिया। यदि पृथ्वीराज इस प्रकार की उदारता न दिखाता और शत्रु को उसके असली रूप मे समझकर उसका वध कर देता तो शायद भारतवर्ष का इतिहास कुछ और ही होता। सन् ११९१ मे शहाबुद्दीन गौरी को तलावड़ी के मैदान में पृथ्वीराज और अन्य राजपूत राजाओं की सम्मिलित सेनाओं ने करारी मात दी। शहाबुद्दीन परास्त हुआ और शरणागत होकर दया की प्रार्थना करने लगा। पृथ्वीराज ने उसे क्षमादान की और उसका यह कार्य भारत के लिए घोर हानिकर सिद्ध हुआ। कुछ इतिहासकार हमीर हठ में वर्णित इस तथ्य को मिथ्या मानते हैं। उनका कहना है कि शहाबुद्दीन गोरी रणक्षेत्र में घायल होकर अचेत हो गया था-और उसको इस

दशा में उसका सेवक युद्धक्षेत्र से भगा ले गया था। जो भी हो यदि क्षमादान की बात सत्य है तो यही कहा जायगा कि यह महान् राजनीतिक भूल थी।

इतिहासकारों ने यह भी कहा है कि शहाबुद्दीन गोरी इस पराजय से बड़ा क्षुब्ध हुआ और बदला लेने की भयङ्कर अग्नि उसके चित्त में धधकने लगी। सन् ११६३ में उसने बड़ी तैयारी के साथ एक विशाल सेना सुसज्जित होकर चढ़ाई कर दी। कहते हैं उसकी सेना में एक लाख बीस हजार चुने हुये अश्वारोही सैनिक थे। पृथ्वीराज की सेना पहिले की अपेक्षा अब की बार कम थी। शहाबुद्दीन के विरुद्ध राजपूत राजाओ का जो सघ पृथ्वीराज के नेतृत्व मे पहिले बन गया था वह अब की बार न बन सका। अब की बार थोड़े ही राजाओं ने पृथ्वीराज का साथ दिया। गहड़वाल राजा जयचन्द्र जो कि एक प्रधान राज्य शक्ति थी युद्ध से अलग रहा। कुछ इतिहासकार तो यह भी कहते हैं कि उसने गोरी को पृथ्वीराज से युद्ध करने को निमन्त्रण भेजा था परन्तु इस तथ्य की प्रामाणिकता संदिग्ध है। सर जदुनाथ सरकार ने अपनी पुस्तक मिलीटरी हिस्ट्री आफ इण्डिया में इस युद्ध का बड़ा लोमहर्षक वर्णन दिया है। उन्होने लिखा है कि जब शहाबुद्दीन हिन्दू सेना के लगभग दस मील दूरी पर आ पहुँचा तब पृथ्वीराज ने उसके पास समाचार भेजा, "हिन्दुओ की वीर सेना का अनुभव आपको पहिले हो चुका है, व्यर्थ अपने सैनिकों को कटवाने से क्या लाभ है, यदि तुम सन्धि करना चाहो तो मैं तुम्हारी सेना को बिना किसी बाधा से निकल जाने दूँगा।" शहाबुद्दीन ने अपने सेनापतियो से गुप्त मन्त्रणा की, उसने उन्हें सम्बोधित कर कहा कि युद्ध में धोखा देना धर्म है। अतः उसने पृथ्वीराज के पास समाचार भेज दिया कि वह सन्धि की शर्तें गोर के बादशाह के पास स्वीकृति के लिए भेज रहा है तब तक युद्ध स्थगित रक्खा जाय। राजपूत पूरी तरह से धोखे मे आ गये। वे युद्ध स्थगित समझकर निश्चित हो गये। उधर शहाबुद्दीन ने उसी रात्रि को युद्ध की तैयारी पूर्ण कर प्रातः आक्रमण कर दिया। जिस समय उसका आक्रमण शुरू हुआ राजपूत सोकर उठे थे, कुछ शौच होने के लिए मैदान में जा रहे थे और कुछ स्नान की तैयारी कर रहे थे। जल्दी में बिना नैमित्तिक कार्य किये उन्हें निराहार लड़ने को बाध्य होना पड़ा। इसके अतिरिक्त गोरी उन्हें धोखे से नचाता रहा। जब वे भूखे-प्यासे बिल्कुल थक गये तब उसने १२००० तैयार अश्वारोहियो से भीषण आक्रमण करा दिया। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू सेना अस्त-व्यस्त होकर भाग खड़ी हुई। सेनापति गोविन्दराज तथा अनेक हिन्दू राजाओं का बध हो गया। पृथ्वीराज भी लड़ते-लड़ते सरस्वती के किनारे पर मारे गये। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि इस युद्ध में सेना का भीषण नर

संहार हुआ और कम से कम १५० हिन्दू राजा पृथ्वीराज सहित खेत रहे। वे राजपूत जो युद्ध में शत्रु के साथ भी विश्वासघात न करते थे विश्वासघात के ही शिकार हुए। गोरी ने पृथ्वीराज के पुत्र को अनुवर्षीय कर देने की प्रतिज्ञा करने पर अजमेर का राज्य सौंप दिया। कुछ ही दिनों बाद पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने अपने भतीजे को राज्य च्युत कर दिया और स्वयं राजा बन बैठा। गोरी के सेनापति ने कुछ काल बाद हरिराज को परास्त कर चाहमान वंश का अन्त कर दिया।

कुछ इतिहासकार पृथ्वीराज को पृथ्वीराज तृतीय भी कहते हैं। इसके राज्य में पृथ्वीराज रासो का रचयिता चन्दवरदाई भी हुआ है। चन्दवरदाई को आधुनिक हिन्दी का जनक कहते हैं।

चण्देल राज्य

बुन्देलखण्ड प्रदेश मे चन्देल वंश के राजा राज्य करते थे। पहिले ये प्रतीहारों के करद सामन्त थे। प्रतीहारो की शक्ति क्षीण होने पर इन्होने अपने आप को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इस वंश का प्रथम राजा मन्नुक हुआ। इसकी शक्ति हर्षदेव चन्देल के समय से बढ़ी। मन्नुक के पुत्र जयसिंह उपनाम जेजा के नाम पर इस प्रदेश को जेजाक भुक्ति भी कहते हैं। इस वंश की राजधानी खजुराहो थी। यशोवर्मन् इस वंश में बड़ा प्रतापी राजा हुआ है। उसने प्रतीहार राजा देवपाल से विष्णु की मूर्ति बलात् उपहार-स्वरूप लेकर खजुराहो के मन्दिर में प्रतिष्ठापित की। उसने चेदि, मालवा और महाकोशल पर आक्रमण किया और अपने राज्य का विस्तार किया। प्रतीहारो के दुर्ग कालिंजर पर भी इसने अधिकार कर लिया।

यशोवर्मन का पुत्र धंग (६५०-१००२ ई०) बड़ा प्रतापी हुआ। उसने प्रतीहारों से अपने आपको पूर्ण रूप से स्वतन्त्र ही घोषित नही किया वरन् उनके दुर्ग गोपाद्रि जिसको आजकल ग्वालियर कहते हैं पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में ले लिया। सन् ६६८ ई० के दानपत्र से ज्ञात होता है कि धंग का राज्य पश्चिम में ग्वालियर, पूर्व मे बनारस और उत्तर मे यमुनातट से चेदि मालवा तक फैला हुआ था। धंग भी तुर्कों का भारत आना अच्छा न समझता था और शाही राजा जयपाल ने तुर्कों के प्रतिरोध में संघ बनाया था उसमें इसने सक्रिय भाग लिया था। इसका पुत्र गंड भी सन् १००८ में महमूद गजनी के विरुद्ध बने संघ के सम्मिलित हुआ। अब की बार संघ जयपाल के पुत्र आनन्दपाल ने बनाया था। जब जयपाल प्रतिहार ने महमूद का आधिपत्य स्वीकार करने की कायरता दिखाई तो गंड ने अपने पुत्र ...

विद्याधर को सेना सहित भेजा। उसने जयपाल को सिंहासन से हटाकर उसके पुत्र त्रिलोचनपाल को सिंहासनारूढ़ कर दिया। इससे महमूद गजनी बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने दो बार चन्देलों पर आक्रमण किया। दोनों बार लम्बे घेरे डालने के बाद भी उसे मुँह की खानी पड़ी और वह वापिस लौट गया। यदि हिन्दू राजे सम्मिलित होकर उसका सामना करते तो भारत का इतिहास ही भिन्न होता।

गण्ड का उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मा हुआ। कीर्तिवर्मा ने कलचुरियों को हराया। कलचुरि तुर्कों के आक्रमणों का अनुचित लाभ उठा रहे थे और चन्देलों पर आक्रमण करते थे। इसके राज्य में प्रबन्ध चन्द्रोदय का रचयिता कृष्ण मिश्र हुआ था।

इस वंश का अन्तिम राजा परमाल हुआ इसको परमर्दि भी कहते हैं। ये राजा स्वयं तो इतना वीर न था परन्तु इसके कई सामन्त बड़े वीर थे। इनमें से दो का नाम आल्हा और ऊदल था। ऊदल का एक मौसेरा भाई मलखान भी था जो राजा परमाल की तरफ से सिरसा का शासक था। ये तीनों भाई बड़े वीर थे। इनकी वीरता की कहानियाँ अनुश्रुति में बहुत प्रचलित हैं। राजा परमाल के चौहान सम्राट पृथ्वीराज से कई युद्ध हुए जिनमें उसके सामन्त आल्हा और ऊदल ने सदैव बड़ी वीरता दिखलाई। इन सामन्तों से लड़ते-लड़ते पृथ्वीराज की शक्ति क्षीण हो गई और वह सहज ही मुसलमानों की आक्रात्मक शक्ति का ग्रास बन गया। सन् १२०३ ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने कालिंजर पर आक्रमण किया, यद्यपि परमाल ने भीषण विरोध किया तथापि वह कुतुबुद्दीन की सेनाओं को हरा न सका। कालिंजर और महोबा दोनों चन्देलों के हाथों से निकल गये। चन्देलों का एक छोटा सा राज्य दक्षिण बुन्देलखण्ड में चलता रहा जब कि सन् १५६४ ई० में अन्तिम रानी दुर्गावती मुगल सम्राट अकबर की सेनाओं से लड़ती हुई वीरगति को प्राप्त हुई। खजुराहो, महोबा और कालिंजर के सुन्दर नगरों की स्थापना चन्देलों की सुरुचि का परिणाम थी। इन नगरों में अनेक भव्य मन्दिरों और सरोवरों का निर्माण कराया गया। खजुराहो का ऐतिहासिक मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

कलचुरि वंश

कलचुरि लोग हैहय जातीय क्षत्रियवंश के थे। वे अपने को कार्तवीर्य अर्जुन का वंशज कहते थे। नवीं शताब्दी के अन्त में कोकल्ल देव ने इस वंश की स्थापना की। कलचुरियों ने चन्देलों, राष्ट्रकूटों, परमारों और प्रतीहारों से

वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। इस वंश में राजा गांगेयदेव (गंग) सबसे प्रसिद्ध हुआ। वह सन् १०१९ ई० में सिंहासन पर बैठा। उसने राज्य विस्तार के लिये दिग्विजय किया। उसने प्रयाग, बनारस, और कांगड़ा को अपने राज्य में मिलाया। बहुत शीघ्र उसने तीरभुक्ति (तिरहुत) पर भी अपना अधिकार कर लिया। गंगदेव ने उत्कल (उड़ीसा) और कुंतल (कर्णाटक) के राजाओं को युद्ध में हराया। उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की जो कि उसकी महान् विजयों की पृष्ठभूमि मे उचित थी। उसके बाद उसका पुत्र लक्ष्मी कर्ण भी बड़ा प्रतापी हुआ। उसने बनारस मे कर्ण मेरु नाम का मन्दिर बनवाया। बंगाल के पाल और परमारों के राजाओं को उसने युद्ध मे परास्त किया। ग्यारहवी शताब्दी के मध्य में चारो दिशाओं मे परमारों, चालुक्यों और चन्देलों से राजा कर्ण को युद्ध करना पड़ा। एक प्रकार से इन सबने मिल कर उस पर चढ़ाई कर दी। परिणाम स्वरूप कलचुरियों की शक्ति क्षीण हो गई। इनकी एक छोटी शाखा महाकोशल में बारहवी शताब्दी के अन्त तक चलती रही।

परमार वंश

राजस्थान और उसके आस-पास के चार क्षत्रिय राजाओं ने मुसलमान आक्रान्ताओं से अपने देश की रक्षा करने के लिये अग्नि के आगे शपथ खाई थी। इसी कारण ये सभी राजे अग्निकुलीय कहलाये। परमार भी इन्ही क्षत्रिय राजाओं मे थे, अतः ये भी अग्निकुलीय कहलाते थे। प्राप्त अभिलेखों के अनुसार परमार राष्ट्रकूट जाति के थे। सम्भव है किसी काल में परमार राजा राष्ट्रकूटों के सामन्त रहे हों। यद्यपि इस कुल का संस्थापक उपेन्द्र अथवा कृष्णराज था परमारों का महत्व सन् ९४९ ई० में सीयक-हर्ष के सिंहासनारूढ़ होने के काल से आरम्भ होता है। सीयक-हर्ष ने कई युद्धो में विजय प्राप्त की और हूणो के एक राजा को भी परास्त किया।

वास्तव में मालवा के परमारो की शक्ति का आरम्भ वाक्पतिमुंज के समय में हुआ। उसने अपनी अनेक विजयों के स्वरूप श्रीवल्लभ और अमोघवर्ष की उपाधियां धारण कीं। उसने गुजरात, कर्णाटक, चोल और केरल के राजाओं को परास्त किया। कल्याणी के राजा तैलप द्वितीय को युद्ध मे ६ बार हराया। वह स्वयं बड़ा विद्वान् और लेखकों तथा कवियो का आश्रयदाता था। उसके दरबार में अनेकों रत्न जैसे परिमल गुप्त, धनंजय धनिकभट्ट, हलायुध, अमितगति आदि रहते थे। उसने अनेक मन्दिर और सरोवर बनवाये। मन्त्रियो के मना करने पर भी उसने चालुक्यो से सातवी बार

युद्ध टाला। तैलप द्वितीय ने बदले के लिये सन् ९९३ ई० में उसने गोदावरी पार कर उसके प्रदेश पर धावा बोल दिया। इस युद्ध में वह बन्दी बना लिया गया। छः बार के पराजित शत्रु ने उसका अन्त भी कर दिया।

वाक्पतिमुंज के बाद नवसाहसांक नामक उसका भाई उत्तराधिकारी हुआ। परिमलगुप्त ने 'नवसाहसांक चरित' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसका दूसरा नाम सिन्धुराज भी था। इसने गजरपाल के हूणों, लाट के चालुक्यों तथा अन्य पड़ोसी राजाओं को युद्ध में परास्त किया।

राजाभोज—सिन्धुराज के बाद उसका पुत्र भोज सन् १००८ ई० में सिंहासन पर बैठा। इस राजा का अनुश्रुतियों में अगाध यशवर्णन है। अपने चचा वाक्पतिमुंज के वध का बदला लेने के लिये इसने कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य चतुर्थ पर आक्रमण कर दिया। कलचुरि के राजा गांगेयदेव को युद्ध में परास्त किया। उसने उत्तर में प्रतीहारों के कान्यकुब्ज राज्य पर भी कुछ दिनों तक अधिकार रक्खा। बिहार प्रदेश के अन्तर्गत आराप्रान्त का परमारों के अधिपत्य के कारण ही 'आरा' नाम पड़ा और उसके आस-पास का प्रदेश भोजपुर कहलाया। जब गुजरात और सौराष्ट्र पर तुर्कों का आक्रमण हुआ तो भोज ने उन्हें भगाया। गुजरात के सोलंकियों से भी उसका युद्ध हुआ। चन्देल राजा विद्याधर से युद्ध में उसकी पराजय भी हुई।

राजाभोज की राजनीतिक उपलब्धियों से अधिक उसकी ख्याति एक आदर्श न्यायकारी महान् शासक के रूप में थी। वह स्वयं महान् पण्डित और लेखक था। साहित्य, कला और विद्या का वह आश्रयदाता था। उसकी आदर्श शासन व्यवस्था, न्यायप्रियता आदि की अनेक कथाएँ अनुश्रुतियों में आज भी प्रचलित हैं। उसने साहित्य, व्याकरण, कोष, धर्म, दर्शन, गणित, वैद्यक, वास्तुकला आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ रचे। एक ऐसे योद्धा द्वारा जो आजीवन युद्धों में व्यस्त रहा हो अनेक विषयों पर इतने ग्रन्थ लिखा जाना कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। सम्भव है इनमे कुछ ग्रन्थ उसके आश्रित विद्वानो ने लिखे हों। सरस्वती कण्ठाभरण, शब्दानुशासन, युक्तिकल्पद्रुम, समरांगण सूत्रधार, आयुर्वेद सर्वस्व आदि भोज के लिखे हुए प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। उसने सरस्वतीकण्ठाभरण नामक एक विद्यालय की भी स्थापना की जो आज तक भोजशाला कहलाता है। धर्मान्ध मुसलमानों ने उसको मसजिद में बदल दिया। उसके राज्यकाल में उज्जयिनी और धारा दो नगरियों की बड़ी प्रतिष्ठा हुई। उसने भोज सागर नामक एक बहुत बडी झील बनवाई जिससे बहुत बड़े भू-भाग पर सिंचाई होती थी। बहुत समय बाद मेडू के

सुलतान शाह हुसेन ने उसके बाँध तुड़वाकर ताल को सुखवा दिया और इस प्रकार अपनी मूर्खतापूर्ण धर्मान्धता का परिचय दिया।

भोज की राजनीतिक गतिविधियों से उसका कोष बिल्कुल रिक्त हो गया और उसके जीवन के उत्तरार्द्ध में उसकी शक्ति शिथिल हो गई। इसका लाभ उठाकर उसके पुराने शत्रु गुजरात के सोलंकियों और त्रिपुरि के कलचुरियों ने उस पर धावा बोल दिया। इस युद्ध में भोज का निधन हो गया और शत्रुओं ने मालवा की डटकर लूट की। भोज की मृत्यु को लेकर एक अनुश्रुति इस प्रकार चली आती है।

"अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती,
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराज दिवंगते।'

अर्थात् भोज के स्वर्गवासी होने पर धारा निराधार, सरस्वती आश्रयहीन और पण्डित सब खण्डित हो गये।' भोज ने ५५ वर्ष राज्य किया।

भोज के उत्तराधिकारी निर्बल हुए। राज्य का सूक्ष्मांश सन् १३०५ तक चलता रहा जब अलाउद्दीन खिलजी के वज़ीर ऐनुलमुल्क ने मालवा पर आक्रमण कर उसको मुसलमानी शासन मे मिला दिया।

चालुक्य अथवा सोलंकी राज्य

गुजरात का वलभी राजा ध्रुवसेन पहिले चालुक्य सम्राट पुलकेशिन् के प्रभाव में था, फिर हर्ष के प्रभावक्षेत्र में आ गया। इसके बाद इस प्रदेश पर प्रतीहारों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। दशवी शताब्दी मे प्रतीहारो का अन्त होने पर यहाँ चालुक्यों की एक शाखा का राज्य हुआ। राजधानी अन्हिलवाड़ा थी।

इस वंश का पहिला राजा मूलराज था जो लगभग ९४१ ई० मे गद्दी पर बैठा। इसने सारस्वत (गुजरात का एक भाग) पर अधिकार कर लिया। कच्छ के राजा को परास्त किया। इसका शाकम्भरी के चाहमान राजा से युद्ध भी हुआ। यह शैव था। इसने बहुत से मन्दिर बनवाये। इसका ९९५ ई० में देहान्त हो गया।

दूसरा प्रसिद्ध राजा इस वश मे भीम (१०२१-१०६३ ई०) हुआ। इसी के शासनकाल मे महमूद गजनी ने सोमनाथ पर चढाई की। भीम ने महमूद का सामना नही किया। सोमनाथ मन्दिर के रक्षको ने महमूद का प्रतिरोध किया परन्तु वे नियमित सेनाओं के आगे अधिक नही डट सकते थे। बहुत से हिन्दू मारे गए। महमूद ने अपार धन सम्पत्ति लूट में प्राप्त की। मूर्ति को

युद्ध ठाना । तैलप द्वितीय से लड़ने के लिये सन् ६६३ ई० मे उसने गोदावरी पार कर उसके प्रदेश पर धावा बोल दिया । इस युद्ध मे वह बन्दी बना लिया गया । छः बार के पराजित शत्रु ने उसका अन्त भी कर दिया ।

वाक्पतिमुंज के बाद नवसाहसांक नामक उसका भाई उत्तराधिकारी हुआ । परिमलगुप्त ने 'नवसाहसांक चरित' नामक ग्रन्थ लिखा है । इसका दूसरा नाम सिन्धुराज भी था । इसने राजस्थान के हूणों, लाट के चालुक्यों तथा अन्य पड़ोसी राजाओं को युद्ध में परास्त किया ।

राजाभोज—*सिन्धुराज के बाद उसका पुत्र भोज सन् १००८ ई० में सिंहासन पर बैठा । इस राजा का अनुश्रुतियों में असीम यशवर्णन है ।* अपने चचा वाक्पतिमुंज के बध का बदला लेने के लिये इसने कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य चतुर्थ पर आक्रमण कर दिया । कलचुरि के राजा गांगेयदेव को युद्ध में परास्त किया । उसने उत्तर में प्रतीहारों के कान्यकुब्ज राज्य पर भी कुछ दिनों तक अधिकार रक्खा । विहार प्रदेश के अन्तर्गत आराप्रान्त का परमारो के अधिपत्य के कारण ही 'आरा' नाम पड़ा और उसके आस-पास का प्रदेश भोजपुर कहलाया । जब गुजरात और सौराष्ट्र पर तुर्कों का आक्रमण हुआ तो भोज ने उन्हें भगाया । गुजरात के सोलकियों से भी उसका युद्ध हुआ । चन्देल राजा विद्याधर से युद्ध में उसकी पराजय भी हुई ।

राजाभोज की राजनीतिक उपलब्धियों से अधिक उसकी ख्याति एक आदर्श न्यायकारी महान् शासक के रूप में थी । वह स्वयं महान् पण्डित और लेखक था । साहित्य, कला और विद्या का वह आश्रयदाता था । उसकी आदर्श शासन व्यवस्था, न्यायप्रियता आदि की अनेक कथाएे अनुश्रुतियों मे आज भी प्रचलित है । उसने साहित्य, व्याकरण, कोष, धर्म, दर्शन, गणित, वैद्यक, वास्तुकला आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ रचे । एक ऐसे योद्धा द्वारा जो आजीवन युद्धों में व्यस्त रहा हो अनेक विषयों पर इतने ग्रन्थ लिखा जाना कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होता है । सम्भव है इनमें कुछ ग्रन्थ उसके आश्रित विद्वानों ने लिखे हों । सरस्वती कण्ठाभरण, शब्दानुशासन, युक्तिकल्पद्रुम, समरांगण सूत्रधार, आयुर्वेद सर्वस्व आदि भोज के लिखे हुए प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं । उसने सरस्वतीकण्ठाभरण नामक एक विद्यालय की भी स्थापना की जो आज तक भोजशाला कहलाता है । धर्मान्ध मुसलमानो ने उसको मसजिद में बदल दिया । उसके राज्यकाल में उज्जयिनी और धारा दो नगरियों की बड़ी प्रतिष्ठा हुई । उसने भोज सागर नामक एक बहुत बड़ी झील बनवाई जिससे बहुत बड़े भू-भाग पर सिंचाई होती थी । बहुत समय बाद मेहू के

सुलतान शाह हुसेन ने उसके बांध तुड़वाकर ताल को सुखवा दिया और इस प्रकार अपनी मूर्खतापूर्ण धर्मान्धता का परिचय दिया।

भोज की राजनीतिक गतिविधियों से उसका कोष बिल्कुल रिक्त हो गया और उसके जीवन के उत्तरार्द्ध में उसकी शक्ति शिथिल हो गई। इसका लाभ उठाकर उसके पुराने शत्रु गुजरात के सोलंकियों और त्रिपुरि के कलचुरियों ने उस पर धावा बोल दिया। इस युद्ध में भोज का निधन हो गया और शत्रुओं ने मालवा की डटकर लूट की। भोज की मृत्यु को लेकर एक अनुश्रुति इस प्रकार चली आती है।

"अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती,
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराज दिवंगते।"

अर्थात् भोज के स्वर्गवासी होने पर धारा निराधार, सरस्वती आश्रय-हीन और पण्डित सब खण्डित हो गये।' भोज ने ५५ वर्ष राज्य किया।

भोज के उत्तराधिकारी निर्बल हुए। राज्य का सूक्ष्मांश सन् १३०५ तक चलता रहा जब अलाउद्दीन खिलजी के वज़ीर ऐनुलमुल्क ने मालवा पर आक्रमण कर उसको मुसलमानी शासन मे मिला दिया।

चालुक्य अथवा सोलंकी राज्य

गुजरात का बलभी राजा ध्रुवसेन पहिले चालुक्य सम्राट पुलकेशिन् के प्रभाव मे था, फिर हर्ष के प्रभावक्षेत्र मे आ गया। इसके बाद इस प्रदेश पर प्रतीहारों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। दशवी शताब्दी मे प्रतीहारो का अन्त होने पर यहाँ चालुक्यो की एक शाखा का राज्य हुआ। राजधानी अन्हिलवाडा थी।

इस वंश का पहिला राजा मूलराज था जो लगभग ९४१ ई० में गद्दी पर बैठा। इसने सारस्वत (गुजरात का एक भाग) पर अधिकार कर लिया। कच्छ के राजा को परास्त किया। इसका शाकम्भरी के चाहमान राजा से युद्ध भी हुआ। यह शैव था। इसने बहुत से मन्दिर बनवाये। इसका ९९५ ई० मे देहान्त हो गया।

दूसरा प्रसिद्ध राजा इस वंश मे भीम (१०२१-१०६३ ई०) हुआ। इसी के शासनकाल में महमूद गजनी ने सोमनाथ पर चढाई की। भीम ने महमूद का सामना नही किया। सोमनाथ मन्दिर के रक्षकों ने महमूद का प्रतिरोध किया परन्तु वे नियमित सेनाओं के आगे अधिक नही डट सकते थे। बहुत से हिन्दू मारे गए। महमूद ने अपार धन सम्पत्ति लूट मे प्राप्त की। मूर्ति को

गोपाल ने बहुत शीघ्र प्रायः पूरे बंगाल और मगध में अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उसको जनता का सहयोग प्राप्त था। उसका शासन ७२५ से ७७० ई० तक रहा। वह बौद्धधर्मावलम्बी था। उसने उदन्तपुर नामक स्थान पर एक विशाल महाविहार का निर्माण कराया। उसने ४५ वर्ष तक बड़ी योग्यता से राज्य किया।

धर्मपाल—गोपाल का पुत्र धर्मपाल भी बड़ा शक्तिशाली था। कान्य-कुब्ज का राजा चक्रायुध उसके आश्रित था। उत्तर भारत के स्वामित्व के लिए उसके प्रतीहारों और राष्ट्रकूटों से अनेक युद्ध हुए। उसकी प्रवृत्ति धार्मिक थी। उसके राज्य में विद्या और कला को प्रचुर आश्रय प्राप्त हुआ। ४५ वर्ष राज्य करने के बाद ८१५ ई० में इसकी मृत्यु हो गई।

देवपाल—यह धर्मपाल का उत्तराधिकारी हुआ। पालवंश में देवपाल सबसे अधिक शक्तिशाली था। इसने उत्कल को तो शीघ्र अपने राज्य में मिला लिया और आसाम के राजा को अपनी प्रभुसत्ता स्वीकार करने को बाध्य किया। इसका प्रतीहार वंशीय प्रसिद्ध राजा मिहिरभोज से बड़ा तुमुल युद्ध हुआ। उत्कीर्ण लेखो से विदित होता है कि इसका बहुत बड़े प्रदेश पर अधिकार था। देवपाल का बर्मा, सुमात्रा, जावा आदि पूर्वी देशों से राज-नैतिक सम्बन्ध था। इसने अनेकों चैत्यों, महाविहारों और संघारामों का निर्माण कराया तथा नालन्दा महाविहार और विक्रमशिला दोनों को प्रचुर मात्रा में दान दिया। इसकी ८८५ ई० के लगभग मृत्यु हो गई।

नारायणपाल—देवपाल का उत्तराधिकारी उसका पुत्र नारायणपाल हुआ। वह शैव था और उसने हजारों शैव मन्दिर बनवाये। प्रतीहारों से हुए संघर्ष में उसने अपने राज्य का कुछ भाग खोया परन्तु शीघ्र ही उस भाग को पुनः प्राप्त कर लिया। प्रतीहार राजा महेन्द्रपाल प्रथम ने उसके समय में उत्तर बङ्गाल और मगध पर आक्रमण किया था। नारायणपाल का ९१२ ई० में देहान्त हो गया।

महीपाल—नारायणपाल के बाद उसका पुत्र महीपाल राज्यसिंहासन पर बैठा। इसके समय में चोलराजा राजेन्द्र ने बंगाल और बिहार पर चढ़ाई की। महीपाल ने उससे युद्ध में खोये हुए भू भाग पुनः प्राप्त कर लिये। बौद्ध धर्मावलम्बी होने के कारण महीपाल ने सारनाथ मे कई चैत्य बनवाये। उसने मूलगंधकुटी, धर्म राजिका स्तूप और धर्मचक्र का जीर्णोद्धार किया।

नयपाल—महीपाल का उत्तराधिकारी नयपाल हुआ। उसका चेदिराज लक्ष्मीकर्ण से घोर युद्ध हुआ। महाबोधि विहार के अधिष्ठाता दीपङ्कर श्रीज्ञान

तोड़ा और उसके भग्नावशेषों को जामा मस्जिद की सीढ़ी में लगाने के लिये गज़नी ले गया। महमूद के लौट जाने पर भीम ने युद्ध मे अनेक विजय प्राप्त की। जब वह सिन्ध पर आक्रमण कर रहा था तो उसकी अनुपस्थिति में परमार राजा भोज के सेनापति कुलचन्द्र ने कलचुरियों से मैत्री कर भोज से युद्ध छेड़ दिया। भीषण युद्ध में भोज मारा गया। फिर भीम और कलचुरि राजा लक्ष्मी कर्ण का भी युद्ध हुआ जिसमें कलचुरि राजा परास्त हुआ। कर्ण का उत्तराधिकारी जयसिंह सिन्धुराज (१०९३-११४३ ई०) बड़ा वीर और विजयी हुआ। उसने मालवा के राजा नरवर्मन को हरा कर अवन्तिनाथ की पदवी धारण की। इसका चन्देल राजा मदनवर्मा से भी युद्ध हुआ। कलचुरि और गहड़वाल राजाओं से इसका मैत्री सम्बन्ध था। यह शैव था और विद्या तथा कलाओं का आश्रयदाता था। जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि इसके राज्यकाल में हुआ।

कुमारपाल—सिन्धुराज का उत्तराधिकारी कुमारपाल (११४४-११७१ ई०) हुआ। यह बड़ा यशस्वी था। इसने सोमनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया। इसको उत्कीर्ण लेखो में शैव तथा जैन ग्रन्थो मे जैन लिखा है। इसने अनेक युद्धो मे विजय प्राप्त की। यद्यपि इसकी सेनाओं ने शाकम्भरी के चाहमानों, आबू के परमारों तथा अन्य राजाओं को युद्ध मे नीचा दिखाया इसकी ख्याति कोंकड़ की विजय से बहुत बढ़ गई। कोकण का राजा मल्लिकार्जुन युद्ध मे बुरी तरह परास्त हुआ था। कुमारपाल विद्या और कला को प्रश्रय देने के लिये भी बहुत प्रसिद्ध था।

कुमारपाल के बाद भी अन्हिलवाडा में चालुक्यो का राज्य तेरहवी सदी तक चलता रहा जब कि अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति उलुग खाँ ने उसे अन्तिम युद्ध में समाप्त करके मुसलमानी राज्य मे मिला लिया।

बंगाल के पालवंशीय राजागण

हर्ष के समय बंगाल का राजा शशांक था। इसका राज्य उत्कल और कलिंग तक फैला हुआ था। यह बडा शक्तिशाली था। शशांक की मृत्यु के उपरान्त उसका राज्य हर्ष के साम्राज्य में विलीन हो गया। हर्ष के उपरान्त ६४८ ई० मे यह राज्य आसाम के राजा भास्कर वर्मन के आधिपत्य मे चला गया। कुछ समय बाद काश्मीर, आसाम और कान्यकुब्ज तीनो राज्य बगाल के स्वामित्व के लिये प्रतिद्वन्दिता करने लगे। निरन्तर आक्रमणों के परिणामस्वरूप बंगाल में अराजकता फैल गई और विवश होकर वहाँ की जनता ने गोपाल नामक एक साहसी व्यक्ति को अपना राजा चुना। नाम के अन्त मे पाल होने के कारण उसके वंश का नाम पाल वंश पड़ा।

गोपाल ने बहुत शीघ्र प्रायः पूरे बंगाल और मगध में अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उसको जनता का सहयोग प्राप्त था। उसका शासन ७२५ से ७७० ई० तक रहा। वह बौद्धधर्मावलम्बी था। उसने उदन्तपुर नामक स्थान पर एक विशाल महाविहार का निर्माण कराया। उसने ४५ वर्ष तक बड़ी योग्यता से राज्य किया।

धर्मपाल—गोपाल का पुत्र धर्मपाल भी बड़ा शक्तिशाली था। कान्य-कुब्ज का राजा चक्रायुध उसके आश्रित था। उत्तर भारत के स्वामित्व के लिए उसके प्रतीहारों और राष्ट्रकूटों से अनेक युद्ध हुए। उसकी प्रवृत्ति धार्मिक थी। उसके राज्य मे विद्या और कला को प्रचुर आश्रय प्राप्त हुआ। ४५ वर्ष राज्य करने के बाद ८१५ ई० में इसकी मृत्यु हो गई।

देवपाल—यह धर्मपाल का उत्तराधिकारी हुआ। पालवंश में देवपाल सबसे अधिक शक्तिशाली था। इसने उत्कल को तो शीघ्र अपने राज्य में मिला लिया और आसाम के राजा को अपनी प्रभुसत्ता स्वीकार करने को बाध्य किया। इसका प्रतीहार वंशीय प्रसिद्ध राजा मिहिरभोज से बड़ा तुमुल युद्ध हुआ। उत्कीर्ण लेखों से विदित होता है कि इसका बहुत बड़े प्रदेश पर अधिकार था। देवपाल का बर्मा, सुमात्रा, जावा आदि पूर्वी देशों से राज-नैतिक सम्बन्ध था। इसने अनेकों चैत्यों, महाविहारों और संघारामों का निर्माण कराया तथा नालन्दा महाविहार और विक्रमशिला दोनों को प्रचुर मात्रा मे दान दिया। इसकी ८८५ ई० के लगभग मृत्यु हो गई।

नारायणपाल—देवपाल का उत्तराधिकारी उसका पुत्र नारायणपाल हुआ। वह शैव था और उसने हजारों शैव मन्दिर बनवाये। प्रतीहारों से हुए संघर्ष में उसने अपने राज्य का कुछ भाग खोया परन्तु शीघ्र ही उस भाग को पुनः प्राप्त कर लिया। प्रतीहार राजा महेन्द्रपाल प्रथम ने उसके समय में उत्तर बङ्गाल और मगध पर आक्रमण किया था। नारायणपाल का ९१२ ई० में देहान्त हो गया।

महीपाल—नारायणपाल के बाद उसका पुत्र महीपाल राज्यसिंहासन पर बैठा। इसके समय में चोलराजा राजेन्द्र ने बंगाल और बिहार पर चढाई की। महीपाल ने उससे युद्ध में खोये हुए भू भाग पुनः प्राप्त कर लिये। बौद्ध धर्मावलम्बी होने के कारण महीपाल ने सारनाथ में कई चैत्य बनवाये। उसने मूलगंधकुटी, धर्म राजिका स्तूप और धर्मचक्र का जीर्णोद्धार किया।

नयपाल—महीपाल का उत्तराधिकारी नयपाल हुआ। उसका चेदिराज लक्ष्मीकर्ण से घोर युद्ध हुआ। महाबोधि विहार के अधिष्ठाता दीपङ्कर श्रीज्ञान

ने उस दोनो में सन्धि करा दी और चेदिराज लक्ष्मीकर्ण ने अपनी पुत्री यौवनश्री का विवाह नयपाल के पुत्र विग्रहपाल के साथ कर दिया। विग्रहपाल के पुत्रों में उत्तराधिकार के लिये संघर्ष हुआ। उसका पुत्र रामपाल शक्तिशाली और प्रसिद्ध हुआ। उसने अनेक उपद्रवों को दबाया और कैवर्त राजा दिव्वोक के पुत्र भीम से उत्तरी बङ्गाल पुनः वापिस लिया।

पालवंश भारतीय इतिहास में एक ऐसा प्रसिद्ध राजवंश है जिसने चार शताब्दी तक बड़ी प्रतिष्ठा के साथ राज्य किया। पालों के समय में बङ्गाल का एक समृद्ध और शक्ति सम्पन्न राज्य था। पालवंशीय अधिकाश राजे बौद्ध-धर्मावलम्बी थे। उन्होने अनेको चैत्य, विहार और संघाराम बनवाये। शिक्षा और विद्या की उनके समय में बड़ी उन्नति हुई। स्थापत्य और मूर्तिकला का भी खूब विकास हुआ। प्रजा सुखी और समृद्ध थी। शासन सुव्यवस्थित था। राज्य की ओर से विद्वानो और कलाकारो को प्रश्रय प्राप्त था।

सेन वंश

सामन्तदेव सेन वंश का संस्थापक था। उसने ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य मे उडीसा में काशीपुरी नामक नगरी में एक राज्य की स्थापना की। सामन्त सेन के बाद उसका पुत्र हेमन्तसेन सिंहासन पर बैठा। हेमन्तसेन के राज्य मे कोई उल्लेखनीय घटना न हुई। उसके बाद उसका पुत्र विजयसेन बडा प्रतापी राजा हुआ है। उसने पूर्व की ओर बढ कर बङ्गाल पर आक्रमण किया और पालो से दक्षिण और दक्षिणापूर्व बङ्गाल छीनकर पूर्वी बङ्गाल में विक्रमपुर को अपनी राजधानी बनाया। बारहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे उसने पालो से उत्तरी बङ्गाल भी ले लिया। कलिगराज चोलगग उसका मित्र था। इसी सुदृढ स्थिति के कारण उसने ४० वर्ष तक निर्विघ्न शासन किया। उसके बाद उसका पुत्र बल्लालसेन गद्दी पर बैठा। उसने पिता के राज्य को सुरक्षित रक्खा परन्तु कोई नई विजय प्राप्त नही की। वह परम विद्वान् था। उसने दानसागर और अद्भुतसागर नामक ग्रन्थो की रचना की। इसके समय मे बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ। बल्लालसेन वृद्धावस्था मे प्रयाग गया और वहां जीते जी गङ्गा मे प्रविष्ट होकर उसने प्राणविसर्जन कर दिया।

लक्ष्मणसेन—बल्लालसेन के बाद उसका लड़का लक्ष्मणसेन अन्तिम शक्तिशाली राजा हुआ। उसने कामरूप (आसाम) और कलिग पर आक्रमण कर दिया। इन युद्धो मे उसकी जीत हुई और उसने विजय के फलस्वरूप प्रयाग मे जयस्तम्भ नामक एक विशाल स्मारक बनवाया। गीतगोविन्द के रचयिता

जयदेव को इसी के दरबार में आश्रय प्राप्त था। उसके अन्तिम समय में सेन वंश की शक्ति में ह्रास शुरू हो गया था। लक्ष्मणसेन का पुत्र माधवसेन सेनवंश का अन्तिम राजा था। ११९९ ई० मे मुहम्मद बिन बख्तियार ने बङ्गाल पर आक्रमण किया और थोड़े ही काल में सेनवंश का अन्त हो गया।

गंग वंश

गंगवंश की स्थापना कलिंग में आठवी शताब्दी के आरम्भ में हुई। ग्यारहवी शताब्दी में अवन्तिवर्मन नाम का एक राजा गंगवंश में अत्यन्त प्रसिद्ध एवं प्रतापी हुआ। वह तत्कालीन सेनवंशीय राजा विजयसेन का मित्र था। उसने पुरी का विख्यात विष्णु मन्दिर बनवाया। उसने गोदावरी और गङ्गा के बीच के प्रदेशों पर राज्य किया। उसने वेंगी के चालुक्य राजा पर भी चढाई की। तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ मे मुसलमानों के आक्रमण से इस वंश का पतन हो गया।

केशरी वंश के राजा

केशरी वंश के राजाओं की राजधानी भुवनेश्वर थी। इन पर बङ्गाल और आसाम के राजाओ के निरन्तर आक्रमण होते रहे। धर्म और कला के क्षेत्रों में इन राजाओं ने महान् योगदान किया। भुवनेश्वर के मन्दिर इनके समय की स्थापत्य और मूर्तिकला के अद्भुत् नमूने हैं। ग्यारहवी शताब्दी में इस वंश के प्रसिद्ध राजा लिंगराज ने एक विशाल मन्दिर बनवाया जो आज तक विद्यमान है और अपनी मूर्तिकला के लिए अनुपम है तेरहवी शताब्दी में ओड़ प्रदेश मुसलमानी सत्ता मे विलीन हो गया।

कामरूप (आसाम)

आसाम के राजा अपने आपको महाभारत में वर्णित राजा भगदत्त की सन्तान बतलाते हैं। आसाम का राजा भास्कर वर्मन बङ्गाल के गौड़राजा शशांक से आतंकित रहता था। इस कारण उसने सम्राट हर्ष का आधिपत्य स्वीकार कर अपनी सुरक्षा की व्यवस्था कर ली थी। इस वंश के राजाओं का बंगाल के पाल राजाओं से संघर्ष रहा। बंगाल पर मुसलमानो का शासन हो जाने पर भी आसाम में हिन्दू शासन स्थिर रहा। सन् १२०५ ई० में जब मुहम्मद बिन बख्तियार ने तिब्बत पर आक्रमण किया तब आसामियों ने उस महत्वपूर्ण पुल को नष्ट कर दिया जो उसके पीछे पड़ता था। इसके परिणाम स्वरूप एक विशाल मुसलमानी सेना नष्ट हो गई। सन् १२२८ ई० में आहोम नामक एक शानवंशी जाति का आसाम मे आधिपत्य हो गया जो१८२५ ई० तक बना रहा। कदाचित् इस जाति के नाम पर ही इस प्रदेश का नाम आसाम पड़ा।

आसाम राज्य वैदिक धर्म का केन्द्र था। यद्यपि बौद्ध धर्म बंगाल तक आ गया था परन्तु वह आसाम मे कभी प्रवेश न कर सका। आसाम मे शैव या शाक्त सम्प्रदाय का जोर था। 'भारतीय इतिहास की भूमिका' नामक अपने इतिहास ग्रन्थ मे डा० राजवली पाण्डे लिखते हैं, "आसाम के भारतीय इतिहास की यह विशेषता है कि यहाँ वैदिक धर्म का प्राधान्य रहा, इस काल में बौद्ध धर्म यहाँ न घुस सका। हुयेनसंग ने आसाम में एक भी विहार या संघाराम न देखा। यहाँ पर शैव अथवा शाक्त सम्प्रदाय का जोर था, और गोहाटी के पास कामाख्या का मन्दिर आज भी शाक्तधर्म का एक बड़ा तीर्थ है। शाक्तधर्म के तान्त्रिक स्वरूप का यहाँ बहुत प्रचार हुआ जिससे यहाँ की जनता के धार्मिक जीवन मे तन्त्र, मन्त्र, जादू, टोना और गुह्य प्रथाओं का प्रावल्य था। आसाम में आने वाली सभी किरात या मगोल जातियों ने भारतीय धर्म और संस्कृति अपनाई। उनके ऊपर पहिले शाक्त और पीछे वैष्णव धर्म का प्रभाव पड़ा।"

पुष्यभूति वंशीय सम्राट हर्षवर्द्धन

गुप्त साम्राज्य के ह्रास के उपरान्त भारत के राजनीति-गगन में अनेक राज्य-शक्तियाँ उदीयमान हुईं। परन्तु उनमे से कोई भी भारत मे एकसत्तात्मक शासन स्थापित करने मे समर्थ न हुई। गुप्तसम्राटों के बाद हिमालय से कन्या कुमारी और बङ्गाल से गुजरात तक एक छत्र शासन किसी भारतीय हिन्दू सम्राट का न हुआ। गुप्त साम्राज्य के ध्वस्त होने के लगभग ५० वर्ष के भीतर घोर सघर्ष के उपरान्त तीन राज्य शक्तियाँ भारत मे पृथक २ रूप से अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकीं। उत्तर भारत (आर्यावर्त) मे पुष्यभूतियो, दक्षिण भारत मे चालुक्यों और सुदूर दक्षिण द्रविण प्रदेश में पल्लवो ने अपनी राज्यसत्ता स्थापित की। इन तीन बडी शक्तियों के अतिरिक्त मालव-राज्य, वल्लभी राज्य, पूर्वोत्तर भारत तथा उत्तर भारत के अनेक राज्य अस्तित्व मे आये।

गुप्त साम्राज्य के अन्त के बाद पूर्वोत्तर भारत में जिस मुख्य राज्य का उदय हुआ वह था गोड राज्य। इसकी राजधानी कर्णसुवर्ण थी। गोड वशीय राजा शशाङ्क सम्राट हर्षवर्द्धन का समकालीन था। उत्तर भारत के मुख्य राज्यों मे मगध के परवर्ती गुप्तवश का राज्य था। गुप्तवश की ही एक शाखा से उत्पन्न एक व्यक्ति कृष्णगुप्त ने मगध मे अपना राज्य स्थापित किया। गुप्तवश की इस शाखा का गौडों से बराबर सघर्ष रहता था। गुप्तवंशीय राजाओं ने मौखरियो से मैत्री कर गौड़ो के आतङ्क से अपनी रक्षा की। परन्तु

बाद में इनकी मौखरियों से भी चल गई। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा आदित्यसेन हुआ। वह हर्ष की मृत्यु के बाद स्वतन्त्र हो गया और अपनी विशाल वाहिनी के बल पर उसने अनेक आस-पास के राजाओं पर विजय प्राप्त की। उसने प्राचीन हिन्दू परिपाटी के अनुसार अपनी विजयो के स्मारक स्वरूप अश्वमेध यज्ञ भी किया। आदित्यसेन के बाद क्रमशः देवगुप्त, विष्णुगुप्त और जीवित गुप्त सिंहासनासीन हुए। कान्यकुब्ज के मौखरी राजा यशोधर्मन् ने अन्तिम गुप्तवंशीय राजा का वध कर दिया। इसके बाद में मगध पाल वंश का आधिपत्य हो गया।

मौखरी वंश

कान्यकुब्ज (कन्नौज) का मौखरी वंश भी गुप्त साम्राज्य के बाद शक्तिशाली हो गया। इस वंश के प्रारम्भिक राजाओं का मगध के गुप्तवंशीय राजाओ से राजनैतिक और वैवाहिक सम्बन्ध था। इस मैत्री के बल पर इन दोनों ने गौड़वंशीय राजाओ को परास्त किया। परन्तु ईशानवर्मन और सर्ववर्मन् मौखरी राजाओ के समय में मौखरियो का गुप्तों से संघर्ष हो गया। फिर मौखरियो ने स्थाण्वीश्वर के पुष्यभूतियों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिए। एक ओर गुप्तों और गौड़ों का दल हो गया और दूसरी ओर मौखरियों और पुष्यभूतियो का। स्थाण्वीश्ववर (थानेसर) के अधिपति प्रभाकर वर्द्धन ने अपनी पुत्री राज्यश्री का विवाह मौखरीवंशीय गृहवर्मन् के साथ कर दिया। कुछ समय बाद गौड़ाधिपति शशाङ्क और गुप्तवंशीय राजा देवगुप्त ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) पर आक्रमण करके गृहवर्मन् का वध कर दिया। गृहवर्मन् की राज्यश्री से कोई सन्तान न थी अतः उसके उत्तराधिकारी के अभाव में कान्यकुब्ज का राज्य स्थाण्वीश्वर के राज्य मे सम्मिलित हो गया। दो शक्तिशाली राज्यों के सम्मेलन से एक महान् शक्ति का उदय हुआ जिसके द्वारा विघटनकारी तत्वों का दमन हुआ और उत्तर भारत में एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण हो सका। इस विशाल राज्य को स्थाण्वीश्वर और कान्यकुब्ज साम्राज्य भी कहा जाता है। इस साम्राज्य का प्रभुत्व समस्त उत्तर भारत पर था।

पुष्यभूति वंश

पुष्यभूति वंश का संस्थापक वैश्यकुलोत्पन्न था। ऐसा प्रतीत होता है कि पुष्यभूति ने सर्वप्रथम श्रीकण्ठ (पूर्वी पंजाब) मे अपना राज्य स्थापित किया। प्राचीन काल मे जिस प्रकार अनेक क्षत्रिय कर्मानुसार ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो गए उसी प्रकार वैश्य लोग भी क्षत्रिय धर्म कर्म का अनुसरण करने के कारण क्षत्रियत्व को प्राप्त हो गए। गुप्तवंश के सम्राट इस बात के उदाहरण

हैं। वे लोग वैश्यकुलोत्पन्न थे परन्तु राज्यपद प्राप्त करने के उपरान्त क्षत्रियत्व को प्राप्त हो गए। मंजुश्री मूल कल्प नामक बौद्ध ग्रन्थ इस बात की पुष्टि करता है कि पुष्यभूति लोग वैश्य थे। बाण के ग्रन्थ हर्ष चरित के उल्लेखों से भी यही प्रगट होता है।

यद्यपि इस वंश के राज्य की स्थापना तो पहिले से ही हो गई थी परन्तु राजनीतिक महत्व की दृष्टि से इस वंश का भारतीय रंगमंच पर उदय छठवी शताब्दी के आरम्भ से समझना चाहिए। पुष्यभूति के बाद उसका उत्तराधिकारी नरवर्द्धन हुआ। नरवर्द्धन का राज्यवर्द्धन और राज्यवर्द्धन का आदित्य-वर्द्धन उत्तराधिकारी हुआ। आदित्यवर्द्धन ने गुप्तवंश की राजकुमारी महासेन गुप्ता से विवाह कर अपनी स्थिति को प्रबल बनाया।

आदित्यवर्द्धन के पुत्र प्रभाकरवर्द्धन के राज्य में पुष्यभूति राज्य बिल्कुल स्वतन्त्र हो गया। प्रभाकरवर्द्धन ने अनेको पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करके अपना आतङ्क स्थापित किया तथा अपने राज्य के विस्तार को बढ़ाया। सैनिक दिग्विजय करने के उपरान्त उसने महाराजाधिराज, परमभट्टारक, प्रतापशील आदि उपाधियाँ धारण की। अपनी राजनीतिक स्थिति दृढ़ करने के अभिप्राय से उसने अपनी पुत्री राज्यश्री का विवाह कान्यकुब्ज के राजा गृहवर्मन् के साथ कर दिया। इसके राज्य में हूणो का भी आक्रमण हुआ परन्तु उसके पुत्र युवराज राज्यवर्द्धन ने हूणों को मार भगाया।

प्रभाकरवर्द्धन के स्वर्गवासी होने के बाद राज्यवर्द्धन राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। राज्यवर्द्धन सरल स्वभाव का मनुष्य था। वह बौद्ध धर्म के प्रभाव में आ गया था। उसकी सरलता का लाभ उठाकर गौड़ाधिपति शशाङ्क और मालवा के राजा देवगुप्त ने मिलकर कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया और गृहवर्मन् का वध कर डाला। राज्यश्री जो बन्दी बना ली गई थी किसी प्रकार बन्दीगृह से भाग कर वन में चली गई। राज्यवर्द्धन ने अपने बहनोई के वध का बदला लेने के लिए कान्यकुब्ज पर चढ़ाई की और सुगमता से देवगुप्त को परास्त कर उसे कान्यकुब्ज से भगा दिया। परिणामस्वरूप कान्य-कुब्ज पर राज्यवर्द्धन का अधिकार हो गया।

गौड़राज शशाङ्क ने राज्यवर्द्धन को फंसाने का एक षड़यन्त्र रचा। उसने राज्यवर्द्धन के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर देने का आश्वासन देकर उसे अकेले अपने स्कन्धावार (कैम्प) मे आने का निमन्त्रण भेजा। राज्यवर्द्धन वहाँ गया और विश्वासघात का शिकार हुआ। उसने शत्रु के गृह में अपने प्राण छोड़े।

हर्षवर्द्धन

राज्यवर्द्धन के विश्वासघात से वध किए जाने पर उसका भाई हर्षवर्द्धन श्रीकण्ठ के राज्यसिंहासन पर बैठा। उत्तराधिकार प्राप्त होने पर हर्ष को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। प्रथम तो उस बड़े राज्य का प्रबन्ध था जो कान्यकुब्ज और श्रीकन्ठ दो बड़े राज्यों का सम्मिलित साम्राज्य था। दूसरे इस साम्राज्य के शत्रु चारों ओर उपद्रव मचा रहे थे। तीसरे हर्ष के घरेलू मामले थे। हर्ष के हृदय मे अपने भाई और बहनोई के वध का बदला लेने और राज्यश्री का पता लगाने की महान् उत्कण्ठा थी। हर्ष के मन में आस-पास के उपद्रवकारी राजाओं का अन्त करके एक बड़े साम्राज्य का निर्माण करने की इच्छा बलवती हुई।

अपने प्रजाजनों और अमात्यों के सामने हर्ष ने अपने पिता के चरणों की शपथ खाकर एक महान् प्रतिज्ञा की कि वह शीघ्र समस्त उपद्रवकारी राजाओं को परास्त करके भारत में चक्रवर्ती शासन की स्थापना करेगा। उसकी इस दिग्विजयी प्रतिज्ञा का प्रजा में अपूर्व स्वागत हुआ। हर्ष इसके बाद निरन्तर युद्धरत रहा। वह सन् ६०६ ई० में राजसिंहासन पर बैठा था। सन् ६३४ ई० तक उसका अधिकांश समय युद्धक्षेत्र में ही व्यतीत हुआ। हर्ष चरित्र और शिलालेखों से स्पष्टतया सिद्ध है कि गौड़, उत्कल, मिथिला, सिन्धु, नैपाल, सुराष्ट्र सब उसके वशवर्ती हो गए। काश्मीर से आसाम और नैपाल से नर्बदा तक उसके राज्य का विस्तार हो गया। उसने सुराष्ट्र के राजा ध्रुवसेन द्वितीय को हराकर उसको उसका राज्य वापिस कर दिया और अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ करके राजनैतिक मैत्री स्थापित की। हर्ष की विजयों का उल्लेख डा० राजबली पाण्डेय अपनी पुस्तक भारतीय इतिहास की भूमिका में इस प्रकार करते हैं—

"ह्युयेनसङ्ग ने अपने यात्रा वर्णन में लिखा है कि हर्ष पूर्व की ओर बढा उसने उन राज्यों पर आक्रमण किया जिन्होंने उसका आधिपत्य अस्वीकार किया था और लगातार युद्ध करता रहा जब तक कि छः वर्ष के भीतर उसने पाँच गौडों (पाँच इण्डिया) को अपने अधीन नहीं कर लिया। ये पञ्चगौड उत्तर भारत के पाँच मण्डल थे। (१) सारस्वतमण्डल, (काश्मीर-पंजाब), (२) गौड़ (दिल्ली के आस-पास का प्रदेश), (३) कान्यकुब्ज (पूरा संयुक्त प्रान्त, दक्षिण में विन्ध्य पर्वत तक और बिहार का अधिकांश) (४) पूर्वोत्तर (मिथिला, बिहार, बङ्गाल, आसाम) (५) उत्कल (बिहार का दक्षिणी छोर, उड़ीसा, कलिङ्ग), इसमे ६ वर्ष की अवधि तो गलत है किन्तु इसमे सन्देह नहीं कि हर्ष सारे उत्तर भारत का अधिपति (सकलोत्तरापथनाथ) हो गया।"

हर्ष ने दक्षिण की ओर भी अपना कदम बढ़ाया परन्तु चालुक्यराज्य पुलकेशिन् द्वितीय की सेनाओं के आगे उसकी सेनाएँ न ठहर सकी और उसे वापिस आना पड़ा।

शासन प्रबन्ध

गुप्त साम्राज्य की तरह हर्ष का साम्राज्य भी प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्तों को भुक्ति कहते थे। भुक्ति विषयों में विभक्त थे। विषय पठकों में और पठक गांवों में विभक्त थे। प्रान्तों के अधिकारी उपरिक, महाराज, गोप्ता, राजस्थानीय, राष्ट्रीय, राष्ट्रपति, भोगपति आदि कहलाते थे। प्रान्तीय अध्यक्षों की नियुक्ति सम्राट स्वयं करता था। ये लोग अपने अधीनस्थ अधिकारियो की नियुक्ति करते थे। विषय पतियों को भी यथेष्ट अधिकार प्राप्त थे ग्राम का प्रमुख अधिकारी ग्रामिक होता था। विषयपति के नीचे अष्ट कुलाधिकरण, शौल्किक (शुल्क वसूल करने वाला) गौल्मिक (वन उपवनों का निरीक्षक), ध्रुवाधिकरण (भूमिकर विभाग का अध्यक्ष), भाण्डागाराध्यक्ष (भण्डार का स्वामी), तलवाटक (गांव का लेखा रखने वाला), पुस्तपाल, अक्षपटलिक (सरकारी कागजों का संरक्षक) आदि अधिकारी रहते थे।

उपरोक्त विभागीय अध्यक्षों के रहते हुए हर्ष का शासन केन्द्रीय शासन था। राजातिराज, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, चक्रवर्ती, सार्वभौम, परमेश्वर, परमदैवत आदि अनेकों उपाधियों से सम्राट विभूषित था। युद्धक्षेत्र में अथवा शान्ति की दशा में सम्राट ही समस्त सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति था।

राजकीय आय व्यय के साधन

राजस्व के चार प्रधान साधन थे, (१) उद्रङ्ग [भूमिकर], (२) उपरिकर [कृषकों पर] (३) धान्य, (४) हिरण्य [खनिज पदार्थों पर], राज्य की आय का प्रधान स्रोत भूमिकर था। कर हल्के लगाए जाते थे। सम्राट की कर सम्बन्धी नीति उदार थी।

हुयेनसङ्ग के अनुसार आय का व्यय चार प्रकार से होता था। (१) धार्मिक कृत्यों पर, (२) सरकारी अधिकारियों पर, (३) विद्वानों को पुरस्कार और वृत्तियां, (४) दान धर्म।

राजकीय सेना

हर्ष के शासन में एक विशाल सेना का अस्तित्व था, उसकी संख्या लगभग ६ लाख थी। सेना तीन भागो मे विभक्त थी। (१) पदाति, (२) अश्वारोही, (३) गज। प्रधान सेनापति को 'महासन्धिविग्रहाधिकृत' कहते थे,

उसको युद्ध और सन्धि करने का अधिकार था। उसके नीचे 'महाबलाधिकृत' को सैन्य संचालन का पूर्ण अधिकार था। प्रधान सेनापति के अधीनस्थ बलाधिकृत, सेनापति, वृहदश्ववार, कटुक और महाश्वपति आदि थे।

सामान्य दशा

हर्ष की शासन व्यवस्था गुप्तवंशीय आधारों पर ही स्थित थी। आवश्यकतानुसार हर्ष ने उसमें संशोधन और परिवर्द्धन कर लिए थे। ह्वेनसङ्ग ने राजा और प्रजा के सम्बन्धों का वर्णन करते हुए लिखा है कि सरकारी शासन सत्यसंधता के आधारों पर संचालित है अतः प्रजा के राजा के साथ पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे हैं। यही कारण है कि अपराधी थोड़े हैं। ह्वेनसङ्ग लिखता है कि राजद्रोह के लिए आजीवन कारावास, सामाजिक अपराधों के लिए अङ्ग-भङ्ग अथवा देशनिर्वासन आदि का दण्ड दिया जाता था। अभियोगों की जांच में और प्रमाणों के साथ चार प्रकार के दैवी प्रमाणों का भी उपयोग होता था यथा (१) जल, (२) अग्नि, (३) तुला, और (४) विष।

हर्ष अपने व्यक्तिगत सुख की चिन्ता न कर निरन्तर राजकीय और प्रजाहित के कार्यों में ही लगा रहता था। वर्षा ऋतु को छोड़कर वर्ष के अवशिष्ट दिनों में वह बराबर राज्य के प्रदेशों में भ्रमण करता और जनजीवन की कठिनाइयों का स्वयं अनुभव प्राप्त करके उनके निराकरण के उपायों को कार्यान्वित करता था।

हर्ष की दानशीलता भी महान थी। उसने अपने विशाल राज्य में बहुत सी परोपकारी और धर्मार्थ संस्थाओं का निर्माण कराया। अनेकों मन्दिर, चैत्य, विहार और स्तूप बनवाये। वह दान, पुण्य, धार्मिक कृत्यों और अनुष्ठानों पर अपार धन व्यय करता था। उसने प्राचीन हिन्दू राजाओं की उदार धर्मनीति का अनुसरण किया। उसके राज्य में हर पांचवें वर्ष प्रयाग में एक महान् धर्मोत्सव होता था। गङ्गा यमुना का सङ्गम उत्कृष्ट दान भूमि समझी जाती थी। इस अवसर पर लाखों का जनसमूह एकत्रित होता था। साधुओं, भिक्षुओं, अनाथों और दरिद्रों को हर्ष करोड़ों की सम्पत्ति दान करता था। राज्य की पाँच वर्ष की आय को व्यय करने की यह पंचवर्षीय योजना थी। ऐसी अनुश्रुति है कि इस उत्सव से केवल अपने वस्त्र पहिने हुए सम्राट खाली हाथ राजधानी को लौटता था, समस्त राजकीय कोष इस पञ्चवर्षीय दानोत्सव के फलस्वरूप रिक्त हो जाता था।

यद्यपि हर्ष बौद्धधर्म से प्रभावित था इस समय व्यापक एवं सार्वभौम भारतीय धर्म वैदिक ही था। वैदिक धर्म बौद्धधर्म और जैनधर्मों की भी

आत्मसात् करता जा रहा था। हुयेनसङ्ग ने लिखा है कि भारत ब्राह्मणों का देश है। उस समय विष्णु, शिव, सूर्य, दुर्गा, पार्वती आदि की उपासना एवं पूजा होती थी।

हुयेनसङ्ग ने लिखा है कि भारत में वैदिक धर्म के साथ बौद्धधर्म भी प्रचलित था परन्तु उसके अनुयायियो की संख्या में निरन्तर ह्रास हो रहा था। हुयेनसङ्ग ने अपनी यात्रा में बौद्ध संघारामों और विहारों को समस्त देश में पाया। हर्ष के समय में वैदिक धर्म मे भक्ति मार्ग का जोरों से प्रचलन हो रहा था। धर्म के इस स्वरूप से बौद्ध धर्म भी प्रभावित हुआ और उसमें महायान की उन्नति विशेष रूप से हुई। ऐतिहासिक विद्वान् बौद्धधर्म के ह्रास को नीचे लिखे कारणों से सम्बद्ध करते हैं (१) वैदिक धर्म का पुनः अभ्युदय, (२) वैदिक मीमासकों द्वारा बौद्धधर्म की धज्जियां उड़ाया जाना, (३) बौद्ध सघारामो मे भिक्षुओ के उपदेशात्मक जीवन के स्थान पर ऐश्वर्य एवं विलासिता पूर्ण जीवन, (४) भिक्षु भिक्षुणियों के सम्पर्क से जनित व्यभिचार तथा (५) वैदिक धर्म की अन्य धर्मों को आत्मसात् करने की क्षमता।

शिक्षा और साहित्य

शिक्षा गुरुकुल की प्रणाली पर आधारित थी। बौद्ध बिहार और सघाराम भी विद्या के केन्द्र थे। जैसा कि हुयेनसङ्ग ने लिखा है बौद्ध विहार और संघाराम समस्त उत्तर भारत मे फैले हुए थे। नालन्दा महाबिहार शिक्षा का महान् केन्द्र था। इसमे ६ विद्यालयो के विशाल भवन सम्मिलित थे। महाबिहार मे एक विशाल पुस्तकालय था जिसको 'धर्मगंज' कहते थे। महाबिहार का व्यय चलाने के लिए राज्य की ओर से २०० गांवो की आय बांध दी गई थी। इसमे विद्यार्थियो की शिक्षा और भोजन की व्यवस्था नि.शुल्क थी। इस महाबिहार मे एक सहस्र अध्यापक और दस सहस्र विद्यार्थी थे। इस बिहार के विद्यालयो में अध्यात्म, योग, तन्त्र, शिल्प, रसायन, चिकित्सा व्याकरण और न्यायशास्त्र आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। महाविद्यालय के सर्वोच्च अधिकारी को 'धर्मकोष' कहते थे जिसकी कि आधुनिक सज्ञा चासलर है। कर्मदान (प्रो चासलर) स्थविर (वाइस चांसलर) और द्वारपण्डित (रजिष्ट्रार) आदि अन्य शिक्षा-अधिकारी थे।

हर्ष के राज्यकाल मे काव्य, नाटक, कथा, उपाख्यान, दर्शन, अध्यात्म, ज्योतिष आदि विषयो पर अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थों की रचना हुई। हर्ष स्वय एक उत्तम लेखक था। रत्नावली, प्रियदर्शिका, नागानन्द नामक ग्रन्थरत्न हर्ष रचित हैं। हर्ष का लेख अति सुन्दर था। महाकवि बाण हर्ष के

राजकवियों में था। बाण की रचनायें हर्षचरित कादम्बरी, चंडिशतक, पार्वती परिचय आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। बाण का श्वसुर मयूर भी हर्ष के दरबार मे था। इनके अतिरिक्त हरिदत्त, जयसेन, मातङ्गदिवाकर आदि विद्वान् लेखक हर्ष की राजसभा को सुशोभित करते थे। भारवि, कुमारदास, दण्डी, सुबन्धु, रविकीर्ति, भूषण, महेन्द्रवर्मा, कुमारिल, ब्रह्मगुप्त आदि विद्वान् एवं साहित्यकार हर्ष के पार्श्ववर्ती युग में उत्पन्न हुए।

मध्यप्रदेश के रायपुर जिले में सिरपुर का लक्ष्मण मन्दिर और शाहाबाद मे झाबुआ के पास मुन्डेश्वरी देवी का मन्दिर हर्षकाल की वास्तुकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। इस काल में हिन्दू, बौद्ध, जैन अनेक मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण हुआ। अजन्ता की चित्रकला के कुछ भाग का निर्माण इस युग मे हुआ था।

हर्ष ने सन् ६०६ ई० से ६४८ ई० तक ४२ वर्ष तक राज्य किया। उसकी अनियन्त्रित दानशीलता से राज्य सत्ता को आर्थिक क्षीणता का सामना करना पड़ा। इसके परिणाम स्वरूप उसके शासन के अन्तिम दिनों मे कुछ शिथिलता सी आ गई। हर्ष के बाद उसके मन्त्री अरुणाश्व ने राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया, कारण उसकी मृत्यु के उपरान्त विघटनकारी तत्व जोर पकड़ने लगे थे। कान्यकुब्ज राज्य फिर बहुत शीघ्र मौखरियो के अधिकार में चला गया।

दक्षिण भारत का चालुक्य राज्य

दक्षिण भारत में आन्ध्र (सातवाहन) साम्राज्य की समाप्ति के बाद उसकी राजनीतिक एकता भी नष्ट हो गई। सातवाहन साम्राज्य के स्थान पर वाकाटक, इक्ष्वाकु, पल्लव, कदम्ब और अनेक राजवंशो के छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए। वाकाटकों ने मध्य भारत और दक्षिण के अधिकांश भागों पर अधिकार जमाकर एक प्रकार की एकता स्थापित की। उनके बाद गुप्त साम्राज्य ने भी दक्षिण के कुछ भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित किया जिससे एकता बनी रही। परन्तु गुप्तकाल और वाकाटकों के बाद दक्षिण कई राज्यों में विभक्त हो गया। चालुक्यों ने अपनी विजयों से कुछ एकता उत्पन्न की परन्तु उससे स्थायित्व न आ सका और मुसलमानों के आगमन तक दक्षिण भारत अनेक राज्यो में विभक्त रहा। उनमें कुछ प्रमुख राज्यों में चालुक्य वंश भी एक है।

चालुक्यों के पूर्वज उत्तर भारत के एक क्षत्रिय कुल से उत्पन्न थे। वे राजस्थान से कर्नाटक आये। पाँचवीं शताब्दी के अन्त में उन्होंने एक राजवंश की स्थापना की जिसका पहिला राजा जयसिंह नामक था। जयसिंह ने राष्ट्रकूटों और कदम्बों से युद्ध करके अपने लिए राज्य बनाया। उसके पुत्र रणराग के समय में चालुक्यों की विशेष उन्नति नहीं हुई। छठी शताब्दी के मध्य में तीसरे राजा पुलकेशिन् प्रथम के शासन काल में चालुक्यों की शक्ति का प्रसार हुआ। उसने वातापीपुर को अपनी राजधानी बनाया और एक अश्वमेध यज्ञ करके अपनी बढ़ती हुई शक्ति का प्रमाण प्रस्तुत किया। पुलकेशिन् प्रथम का पुत्र कीर्तिवर्मा बड़ा विजयी और महत्वाकांक्षी था। उसने कोंकण के मौर्यों, बनवासी के कदम्बों और मैसूर के गंगों को युद्ध में हराया। उसके मरने पर उसके छोटे भाई मंगलेश ने राज्य पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार मंगलेश ने अपने भतीजे के राज्य का अपहरण कर लिया। उसने अपनी विशाल सेना के बल से चेदि राज्य के कलचुरियों पर विजय प्राप्त की और दक्षिण के पूर्वी तट के भू भाग पर अधिकार कर लिया। मंगलेश के बड़े भाई कीर्तिवर्मा के पुत्र ने जो पुलकेशिन द्वितीय के नाम से विख्यात हुआ अपने पिता के राज्य को प्राप्त करने के लिये अपने मित्रों की सहायता से उससे युद्ध छेड़ दिया जिसमें मंगलेश परलोक सिधारा और पुलकेशिन् द्वितीय राजा घोषित हुआ।

पुलकेशिन् द्वितीय

यह ६०८ ई० मे राज्यसिंहासन पर बैठा। पुलकेशिन् द्वितीय चालुक्य वंश का सबसे प्रतापी और शक्ति सम्पन्न राजा सिद्ध हुआ। उसने श्रीपृथ्वी-वल्लभ सत्याश्रय की उपाधि धारण की। उसके सिंहासनारूढ़ होते ही शत्रुओं ने समझा कि गृह युद्ध ने उसकी सैनिक शक्ति को क्षीण कर दिया है और परिणाम स्वरूप आक्रमण कर दिया। पुलकेशिन् ने राष्ट्रकूट राजा गोविन्द को भीमा नदी के तट पर एक युद्ध में परास्त किया और इसके बाद कदम्बों की राजधानी बनवासी पर अपना अधिकार जमा लिया। उसने मैसूर के गंगों और केरल के अलूपों को भयत्रस्त किया और कोंकण पर आक्रमण कर उसकी राजधानी पुरी पर विजय प्राप्त की। उसने दक्षिण मे अपनी शक्ति दृढ़ करके उत्तर की ओर प्रयाण किया और लाट, मालवा और भृगुकच्छ के गुर्जरों को पराजित किया। पुलकेशिन् की बढ़ती हुई सेनाओं को रोकने के लिए हर्ष ने ६२० ई० के लगभग उस पर आक्रमण किया। पुलकेशिन् हट कर नर्मदा के तट पर आ गया परन्तु उसने हर्ष को नर्मदा पार न करने दिया। हर्ष की पराजय के बाद उसने परमेश्वर और दक्षिणापथेश्वर की उपाधियाँ धारण की।

विन्ध्यों की शृङ्खलाओं में होते हुए उसने महाकोशल, कलिंग, आंध्र और कांची के पल्लवों पर आक्रमण किया। जब उसकी सेनाएँ कावेरी के किनारे पहुँची तब चोल, पाण्ड्य और केरल के राजाओं ने उससे सन्धि कर ली। इस प्रकार सम्पूर्ण दक्षिणापथ पर पुलकेशिन् का आधिपत्य हो गया।

पुलकेशिन् द्वितीय रणनीति में तो कुशल था ही वह राजनीति में भी बड़ा निपुण था। उसने विदेशों से दौत्य सम्बन्ध स्थापित कर अपनी शक्ति दृढ़ की। ईरान के तत्कालीन बादशाह खुसरू द्वितीय के दरबार में उसका दूत रहता था। पुलकेशिन् की अनेक विजयों से उसके राज्य की सीमाएँ इतनी विस्तृत हो गईं कि उसे ६१५ ई० के लगभग पूर्वी प्रान्तों का शासन अपने अनुज विष्णुवर्द्धन विषमसिद्धि के सुपुर्द करना पड़ा। विष्णुवर्द्धन ने तो साम्राज्य-केन्द्र वातापीपुर से सम्बन्ध बनाये रक्खा, परन्तु उसके पुत्र जयसिंह ने अवसर मिलने पर सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। इस राजवंश के वंशज पृथक् रूप से वेंगी के पूर्वी चालुक्य कहलाये।

पुलकेशिन् के दरबार मे चीनी यात्री ह्युयेनसंग गया था। उसने तत्कालीन सामाजिक अवस्था का वर्णन किया। वह लिखता है कि राज्य में प्रजा सुखी और समृद्ध थी। चालुक्य वंश के प्रारम्भिक राजा वैदिक धर्म के अनुयायी थे। पुलकेशिन् पीछे जैन धर्म मानने लगा था। वह विद्या और कलाओं का आश्रयदाता था। उसके समय के चित्रकला और स्थापत्य के नमूने अजन्ता मे पाये जाते हैं। ह्युयेनसंग के एक वर्णन का भावार्थ इस प्रकार है, "यहाँ के निवासी स्वाभिमानी और युद्ध प्रिय हैं। उपकार के प्रति कृतज्ञ और अपकार के प्रति प्रतिशोध वृत्ति वाले हैं। शरणागत के प्रति उनमें आत्म-बलिदान की भावना है। पुलकेशिन् के उदार शासन का बहुत बड़ा विस्तार है और उसके सामन्त आज्ञाकारी हैं।"

पुलकेशिन् के राज्य के अन्तिम वर्ष संकट पूर्ण थे। पल्लव राजा नरसिंह वर्मन प्रथम ने ६४२ ई० मे वातापी पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध मे पुलकेशिन् की हार हुई और सम्भवतः मृत्यु भी। परन्तु चालुक्यवंश का फिर भी अन्त न हुआ। इस अस्थायी संकट के बाद वे लोग फिर उठ खड़े हुए।

विक्रमादित्य प्रथम—पुलकेशिन् द्वितीय के बाद उसका पुत्र सत्याश्रय जिसको विक्रमादित्य प्रथम भी कहते हैं राज्य का अधिकारी हुआ। उसने ६५५ ई० तक पल्लवों को अपना राज्य वापिस करने को बाध्य किया। उसने तीन पल्लव राजाओं से जिनका नाम नरसिंह वर्मन प्रथम, महेन्द्र वर्मन

द्वितीय और परमेश्वर वर्मन हैं निरन्तर युद्ध किया। तथ्य तो यह है कि चालुक्यों और पल्लवों में निरंतर युद्ध होते रहे। विक्रमादित्य प्रथम ने पल्लवों से ही नही वरन् चोल, पाण्ड्य और केरल राज्यों से भी संघर्ष किया और उनकी सेनाओं को पराजित किया। इन युद्धों में उसे अपने पुत्र विनयादित्य और पौत्र विजयादित्य से भी सहयोग प्राप्त हुआ।

विनयादित्य सत्याश्रय (६८० ई० से ६९६ ई० तक) विक्रमादित्य प्रथम की मृत्यु के बाद ६८० ई० में विनयादित्य सत्याश्रय गद्दी पर बैठा। इसके विषय में कुछ अभिलेखों का कथन है कि इसने उत्तरापथ के अनेक राजाओं को परास्त किया और सकलोत्तरापथनाथ को परास्त कर सम्राट के विरुदों को धारण किया परन्तु यह कथन अतिरंजित प्रतीत होता है कारण उस समय उत्तर भारत में कोई सम्राट जिसको सकलोत्तरापथनाथ कह सकें था ही नही। हाँ, उत्तर कालीन गुप्तकुल के एक वंशज का इसके हाथों पराजित होना तो सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि पराजित गुप्तकालीन शासक किसी छोटे राज्य का स्वामी था। गुप्त-सम्राटों का काल तो हर्ष से पहिले ही समाप्त हो चुका था।

विजयादित्य (६९६ से ७३३ ई०) इसके ३७ वर्ष के शासन में कोई उल्लेखनीय घटना ज्ञातव्य नही है।

विक्रमादित्य द्वितीय (७३३ से ७४७ ई०)—यह विजयादित्य का पुत्र था। इसके काल मे पल्लवों से पुनः युद्ध हुआ। चालुक्यों और पल्लवों की पुरानी शत्रुता फिर फूट निकली। विक्रमादित्य द्वितीय ने पल्लवराजा नन्दिवर्मन् को परास्त किया। उसने चोलों, पाण्ड्यों और केरलों से भी युद्ध कर उन्हे पराजित किया। उसकी दो हैहय कुलीन पत्नियों ने दो विशाल शिव मन्दिर बनवाये।

कीर्तिवर्मन् द्वितीय—यह ७४८ ई० मे गद्दी पर बैठा। यह विक्रमादित्य द्वितीय का पुत्र था। इसका पल्लवो से फिर युद्ध हुआ। पल्लवो तथा अन्य राज्य शक्तियों से निरन्तर संघर्षरत रहने के कारण चालुक्य शक्ति क्षीण हो गई थी और आठवी सदी में राष्ट्रकूट राजा दन्ति दुर्ग ने चालुक्यों के मूलवंश का अन्त कर दिया यद्यपि एक छोटे कुल के रूप में उनका राज्य चलता रहा।

धर्म और कला

चालुक्यों के राज्य में धर्म और कला को संरक्षण प्राप्त हुआ। त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु और शिव के अनेक मन्दिर बने। अजन्ता के कुछ भित्ति-चित्रों का सम्बन्ध भी चालुक्यो से बताया जाता है। ठोस चट्टानो को काट कर

मन्दिरों के बनाये जाने का श्रेय औरों के साथ चालुक्यों को भी दिया जाता है। ब्राह्मण धर्म उन्नति पर था। चालुक्य राजा यद्यपि कट्टर ब्राह्मण धर्म के मानने वाले थे तथापि वे जैन धर्म के प्रति भी सहिष्णु थे। उस काल मे जैन धर्म भी खूब फल फूल रहा था। बौद्धों के भी ऐसे विहार अस्तित्व में थे जिनमें हजारों भिक्षुगण निवास करते थे।

कल्याणी का चालुक्य वंश

दक्षिण के चालुक्य-वंश का राज्य तीन स्थानों पर था (१) वातापी (२) कल्याणी (३) वेंगी। चालुक्य वंश को दो भागों में विभाजित करना चाहिये (१) पश्चिमी चालुक्य (२) पूर्वी चालुक्य। पश्चिमी चालुक्य-वंश का इतिहास में दो बार वर्णन आता है अतः इसके भी दो भाग हैं (१) पूर्व कालीन पश्चिमी चालुक्य-वंश (२) उत्तर कालीन पश्चिमी चालुक्य वंश। पूर्व कालीन पश्चिमी चालुक्य वंश ने दक्षिण में छठी शताब्दी से आठवी शताब्दी तक राज्य किया और उस काल में इस राजवंश की राजधानी वातापी थी। वास्तव में यह राज्य छठी शताब्दी के मध्य से आठवी शताब्दी के मध्य तक दो सौ वर्ष तक रहा। इस राज्य को राष्ट्रकूटो के हाथ से पराजित होना पड़ा और पराजय के पश्चात् यह राज्य प्रायः समाप्त हो गया। दसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कल्याणी के उत्तर कालीन पश्चिमी चालुक्य वंश ने राष्ट्रकूटों को परास्त किया और बारहवी शताब्दी तक राज्य किया। वेंगी के पूर्वी चालुक्य वंश ने सातवी शताब्दी से बारहवी शताब्दी तक लगभग ५०० वर्ष राज्य किया।

कल्याणी के चालुक्यो का आशय उत्तर कालीन पश्चिमी चालुक्यों से ही है। इस वंश ने पूर्वकालीन चालुक्यवंश की लुप्त कीर्ति को पुनः प्रतिष्ठापित किया। इस वंश का संस्थापक तैलप अथवा तैलपद्वितीय था। इसने दशवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध अर्थात् ६७३ ई० मे शासन प्राप्त किया। इसका वातापी के चालुक्यो से दूर का सम्बन्ध भी था। ऐसा प्रतीत होता है कि कल्याणी में शासन स्थापित करने के पूर्व तैलप बीजापुर जिले के तर्दवाडि नामक छोटे से प्रदेश पर राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के अधीनस्थ सामन्त रूप से शासन करता था। सम्भव है उसके पूर्वज भी इस प्रदेश पर सामन्तों के रूप में शासन करते रहे हो। धीरे-धीरे अपनी शक्ति मे वृद्धि करके ६७३ ई० में तैलप ने राष्ट्रकूट नरेश कर्क द्वितीय को अपदस्थ कर अपने आपको स्वतन्त्र राज्य का अधिपति घोषित कर दिया।

राज्याधिकार प्राप्त कर तैलप को गंगराज मारसिंह द्वितीय से भी संघर्ष करना पड़ा। मारसिंह द्वितीय ने अपनी बहिन का विवाह राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के एक पुत्र के साथ किया था। मारसिंह द्वितीय अपनी उस बहिन के पुत्र इन्द्रचतुर्थ को राष्ट्रकूट-राज्य का अधिकारी बनाना चाहता था। परन्तु तैलप के आगे उसकी योजना विफल हो गई और उसने अनशन करके अपने प्राण त्याग दिये। इसी प्रकार मारसिंह द्वितीय के एक सामन्त पांचालदेव ने विद्रोह किया और कृष्णानदी के दक्षिण में अपने एक स्वतन्त्र राज्य की घोषणा कर दी। तैलप ने उस पर आक्रमण कर दिया और परिणाम-स्वरूप जो युद्ध हुआ उसमें पांचालदेव खेत रहा। राष्ट्रकूटों का एक अन्य सामन्त रणस्तम्भ भी युद्ध में मारा गया। इन पराजयों से दुःखी होकर राष्ट्रकूटों के वंशज इन्द्रचतुर्थ ने अनशन द्वारा हत्या कर ली। इस प्रकार राष्ट्रकूटों के पतन के बाद तैलप द्वितीय ने दक्षिण में नर्मदा और तुङ्गभद्रा के बीच उस प्रदेश पर अपने राज्य की स्थापना की जो आगे चलकर निजाम का राज्य बना।

९८० ई० के लगभग तैलप का चोल राजा उत्तम से संघर्ष हुआ जिसमें उसकी विजय हुई। इसके बाद उसने दक्षिणी कोंकण के शिलाहारवंशीय राजा अवसर तृतीय पर चढाई कर दी और उससे अपनी अधीनता स्वीकार करा ली। उसने युद्धो में लाटों और गुर्जरों को भी परास्त किया। तैलप ने कुछ भागों को छोड़ कर सम्पूर्ण पुराने चालुक्य राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु उसका वास्तविक संघर्ष मालवा के परमार राजा वाक्पति मुंज से हुआ। कुछ इतिहासकारो का मत है कि वाक्पति मुंज ने तैलप के राज्य पर छः बार आक्रमण किया और प्रत्येक आक्रमण में तैलप को पराजय का मुँह देखना पडा। इसके विपरीत कुछ अन्य इतिहासकारों का मत है कि आक्रमणकारी तो तैलप ही था। हमें यह दूसरा मत ही सही प्रतीत होता है। एक के बाद दूसरे आक्रमण विफल होने के कारण ही तैलप को छः बार आक्रमण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। सातवी बार अपने मन्त्रियो की सलाह के विरुद्ध मुंज ने गोदावरी पार करके राज्य पर जब आक्रमण किया तो विजयश्री तैलप के हाथ लगी। इस अन्तिम युद्ध में मुंज बन्दी बना लिया गया और शत्रु के हाथों उसकी मृत्यु भी हुई। इस प्रकरण में एक अनुश्रुति भी है और वह यह कि बन्दीगृह में मुंज का तैलप की बहिन मृणालवती से प्रेम हो गया था परन्तु जब मृणालवती को यह मालूम हुआ कि मुंज के मन्त्री उसको कारागार से मुक्त कराना चाहते हैं तो उसने सारा वृत्तान्त अपने भाई से कह दिया। तैलप ने मुंज को बहुत अपमानित करके मृत्यु दण्ड दिया।

इस प्रकार निरन्तर युद्धरत रहकर तैलप ने एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया और महाराजाधिराज 'परमेश्वर' आदि के विरुद धारण किये। २४ वर्ष राज्य करने के उपरान्त ९९७ ई० मे उसकी मृत्यु हो गई। ऐसी अनुश्रुति है कि यह कृष्ण का अवतार था। कदाचित् इसके व्यापक प्रभाव को देखकर स्थानीय जनता ऐसा समझने लग गई होगी।

सत्याश्रय—(९९७ ई०—१००८ ई०) ९९७ ई० में तैलप की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र सत्याश्रय गद्दी पर बैठा। सबसे पहिले उसने शिलाहार वंशीय राजा अपराजित के राज्य उत्तरी कोंकण पर आक्रमण करके उस राज्य को नष्ट भ्रष्ट कर डाला। अपराजित ने सत्याश्रय की वश्यता स्वीकार कर ली। इसके बाद सत्याश्रय का गुर्जर नरेश चामुण्डराज से युद्ध हुआ जिसमे गुर्जर नरेश पराजित हुआ। मालवा के तत्कालीन राजा सिन्धुराज से भी इसकी टक्कर हुई। इस युद्ध में सिन्धुराज की विजय हुई और सत्याश्रय को उसके पिता तैलप द्वारा जीते हुई परमार राज्य के कुछ प्रदेश वापिस देने पड़े।

सत्याश्रय के समय में चोलाधिपति राजराज महान ने चालुक्य राज्य पर आक्रमण कर दिया। सत्याश्रय ने क्षति उठा कर भी राज्य को हाथ से न जाने दिया। उसके समय मे वेंगी के चालुक्य चोलों के प्रभाव मे थे। १००६ ई० में सत्याश्रय ने वेंगी पर आक्रमण कर दिया। इसके प्रतिशोध मे चोल महाराज राजराज महान् ने अपने पुत्र राजेन्द्र को एक विशाल सेना लेकर चालुक्यो पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी। चोल राजकुमार राजेन्द्र ने चालुक्यो के सम्पूर्ण राज्य को पदाक्रान्त कर डाला। उसने मान्यखेट को भी तोड़ा फोडा और इस युद्ध में एक भीषण नर संहार जिसमें स्त्री, बच्चे और ब्राह्मण भी सम्मिलित थे हो गया। सत्याश्रय को वेंगी से अपनी सेनाएं हटानी पड़ी परन्तु अन्तिम युद्ध मे सत्याश्रय ने राजराज की सेनाओं को पीछे ढकेल कर अपना राज्य पुनः हस्तगत कर लिया।

इस वंश मे सत्याश्रय ने भी बड़े गौरव के साथ राज्य किया और वह "आहवमल्ल" तथा 'अकलंकचरित' की उपाधियों से विभूषित हुआ।

विक्रमादित्य पंचम—(१००८ ई०—१०१४)

यह सत्याश्रय का भतीजा था। इसने दक्षिणी कोशल के राजा भीमरथ महाभव गुप्त द्वितीय पर आक्रमण करके उसे युद्ध में परास्त किया। अक्कादेवी नाम की इसकी एक बहिन बडी विदुषी थी उसने उसे एक प्रदेश का शासक बनाया था। इसने 'त्रिभुवनमल्ल' और 'वल्लभ नरेश' आदि उपाधियां धारण की।

जयसिंह द्वितीय (१०१५—१०४३)

विक्रमादित्य पंचम के बाद उसके छोटे भाई अय्यण द्वितीय ने १ वर्ष तक राज्य किया। १०१५ ई० में जयसिंह द्वितीय सिंहासन पर बैठा।

वेंगी के चालुक्य चोलो के प्रभाव में थे। जयसिंह द्वितीय को यह बात अरुचिकर थी। उसने वहाँ अपने वशवर्ती विजयादित्य सप्तम को सिंहासन पर बिठाना चाहा। चोलराज राजेन्द्र ने राजराज नामक दूसरे राजकुमार के पक्ष का समर्थन किया। वास्तव मे जयसिंह द्वितीय का चोलों से यह युद्ध वेंगी के उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे था। इस युद्ध में पहिले तो जयसिंह को कुछ सफलता मिली और उसके प्रतिनिधि विजयादित्य ने भी कुछ प्रदेश पर अपना अधिकार किया परन्तु अन्त मे चोलो की विशाल सेना के आगे इसकी एक न चली और चोलराज राजेन्द्र की रुचि का राजकुमार राजराज ही वेंगी के सिंहासन पर आरूढ हुआ।

मालवा के परमार राजा भोज ने अपने पूर्वज वाक्पति मुंज के अपमान और हत्या के प्रतिशोध स्वरूप चालुक्य राज्य पर चढ़ाई कर दी और लाट तथा उत्तरी कोकण पर अधिकार कर लिया 'परन्तु १०२४ ई० मे जयसिंह द्वितीय ने अपने पराक्रम से राजा भोज को परास्त किया और इन प्रदेशों को पुनः प्राप्त कर लिया।

जयसिंह द्वितीय ने अपनी प्रतिष्ठा स्थिर रखने के लिए "जगदेवमल्ल" "त्रैलोक्यमल्ल" और "विक्रमसिंह" की उपाधियां धारण की।

सोमेश्वर प्रथम (१०४३—१०६८ ई०)

जयदेवमल्ल का पुत्र सोमेश्वर प्रथम बडा महत्वाकांक्षी शासक था। इसने अपने २५ वर्ष के लम्बे शासन में बराबर युद्ध जारी रक्खा। सर्व प्रथम उसने मालवा पर आक्रमण कर मांडू तथा धारा की लूट की। परमार राजा भोज उज्जैन की ओर भागा परन्तु इसने उज्जैन पर भी आक्रमण करके उसे लूटा। अन्त में राजा भोज ने आत्म समर्पण कर दिया। तत्पश्चात् कलचुरि नरेश कर्ण और वेंगी के चालुक्य राजा भीम ने मिल कर मालवा पर चढ़ाई कर दी और उस पर अपना अधिकार स्थापित कर दिया। सोमेश्वर प्रथम ने इस अभियान में अपना हस्तक्षेप किया और अपने पुत्र युवराज विक्रमादित्य षष्ठम को मालवा विजय के लिए भेजा। विक्रमादित्य ने कलचुरि नरेश कर्ण और वेंगी के राजा भीम दोनों की सेनाओं को बुरी तरह परास्त किया और मालवा के राज्यसिंहासन पर भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह को आसीन करा दिया।

सोमेश्वर प्रथम का पुत्र युवराज विक्रमादित्य षष्ठम बड़ा वीर था। उसने अपने युवराज काल में ही चालुक्यी सेनाओं का सेनापतित्व करते हुए मिथिला, मगध, अङ्ग, बङ्ग, और गौड़ पर सफल आक्रमण किये। सोमेश्वर प्रथम की सेनाओं का एक सफल अभियान गंगा के दुआब तक पहुँचा। यह सेना चन्देलों और कच्छपघाटों के प्रतिरोध का सामना करते हुए और कान्य-कुब्ज को रौंदते हुए आगे बढ़ी। सोमेश्वर प्रथम को अपने वीर पुत्र से बड़ी सहायता मिली। उसने कांची और चेदि राजाओं पर भी आक्रमण कर उन्हें परास्त किया था।

सोमेश्वर प्रथम की गणना उस युग के महान् राजाओं में की जाती है। उसने मान्यखेट को छोड कर कल्याणी को राजधानी बनाया। जिस भाँति उसने कल्याणी को सजाया उससे उसका कला प्रेम विदित होता है।

अपने शासन के अन्त में वह रुग्ण रहने लगा और एक अनुश्रुति यह भी है कि अपनी बीमारी से दुःखी होकर १०६८ ई० मे उसने तुङ्गभद्रा में डूब कर अपने शरीर का अन्त कर लिया। उसने 'आसवमल्ल,' "त्रैलोक्यमल्ल," "वीर मार्तण्ड" "राजनारायण" आदि उपाधियां धारण करके अपनी कीर्ति बढ़ाई थी।

सोमेश्वर द्वितीय (१०६८—१०७६ ई०)

सोमेश्वर प्रथम की मृत्यु के उपरान्त सोमेश्वर द्वितीय राज्य सिंहासन पर बैठा। यह सोमेश्वर प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र था। इसके छोटे भाई विक्रमादित्य षष्ठम का चोलराज राजेन्द्र की पुत्री से विवाह हो गया था। अतः उत्तराधि-कार के झगड़े में चोलराज ने अपने जामाता विक्रमादित्य का पक्ष लेकर सोमेश्वर द्वितीय पर आक्रमण कर दिया तथा विक्रमादित्य षष्ठम को स्वतन्त्र राजा घोषित कर दिया। इस प्रकार कुछ काल तक चालुक्य राज्य दो भागों में विभाजित रहा। उत्तरी भाग पर सोमेश्वर द्वितीय का राज्य था और दक्षिणी भाग विक्रमादित्य षष्ठम के अधिकार में था।

१०७० ई० में चोलराजा वीर राजेन्द्र की मृत्यु हो गई। चोलराज्य के उत्तराधिकार के लिये संघर्ष हुआ। यह संघर्ष विक्रमादित्य षष्ठम के साले अधिराजेन्द्र और राजेन्द्र द्वितीय कुलोत्तुंग के मध्य हुआ। दोनों चालुक्य भाइयो ने एक एक दावेदार का एक दूसरे के विपरीत पक्ष ग्रहण किया। इस भीषण संघर्ष के परिणामस्वरूप अधिराजेन्द्र की तो जन-विद्रोह में हत्या कर दी गई, राजेन्द्र द्वितीय कुलोत्तुंग चोलराज्य का उत्तराधिकारी बना और सोमेश्वर

जयसिंह द्वितीय (१०१५—१०४३)

विक्रमादित्य पंचम के बाद उसके छोटे भाई अय्यण द्वितीय ने १ वर्ष तक राज्य किया। १०१५ ई० में जयसिंह द्वितीय सिंहासन पर बैठा।

वेंगी के चालुक्य चोलों के प्रभाव में थे। जयसिंह द्वितीय को यह बात अरुचिकर थी। उसने वहाँ अपने वशवर्ती विजयादित्य सप्तम को सिंहासन पर बिठाना चाहा। चोलराज राजेन्द्र ने राजराज नामक दूसरे राजकुमार के पक्ष का समर्थन किया। वास्तव मे जयसिंह द्वितीय का चोलों से यह युद्ध वेंगी के उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे था। इस युद्ध में पहिले तो जयसिंह को कुछ सफलता मिली और उसके प्रतिनिधि विजयादित्य ने भी कुछ प्रदेश पर अपना अधिकार किया परन्तु अन्त में चोलों की विशाल सेना के आगे इसकी एक न चली और चोलराज राजेन्द्र की रुचि का राजकुमार राजराज ही वेंगी के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

मालवा के परमार राजा भोज ने अपने पूर्वज वाक्पति मुंज के अपमान और हत्या के प्रतिशोध स्वरूप चालुक्य राज्य पर चढ़ाई कर दी और लाट तथा उत्तरी कोकण पर अधिकार कर लिया 'परन्तु १०२४ ई० में जयसिंह द्वितीय ने अपने पराक्रम से राजा भोज को परास्त किया और इन प्रदेशों को पुनः प्राप्त कर लिया।

जयसिंह द्वितीय ने अपनी प्रतिष्ठा स्थिर रखने के लिए "जगदेवमल्ल" "त्रैलोक्यमल्ल" और "विक्रमसिंह" की उपाधियाँ धारण की।

सोमेश्वर प्रथम (१०४३—१०६८ ई०)

जयदेवमल्ल का पुत्र सोमेश्वर प्रथम बड़ा महत्वाकांक्षी शासक था। इसने अपने २५ वर्ष के लम्बे शासन में बराबर युद्ध जारी रक्खा। सर्व प्रथम उसने मालवा पर आक्रमण कर मांडू तथा धारा की लूट की। परमार राजा भोज उज्जैन की ओर भागा परन्तु इसने उज्जैन पर भी आक्रमण करके उसे लूटा। अन्त मे राजा भोज ने आत्म समर्पण कर दिया। तत्पश्चात् कलचुरि नरेश कर्ण और वेंगी के चालुक्य राजा भीम ने मिल कर मालवा पर चढ़ाई कर दी और उस पर अपना अधिकार स्थापित कर दिया। सोमेश्वर प्रथम ने इस अभियान मे अपना हस्तक्षेप किया और अपने पुत्र युवराज विक्रमादित्य षष्ठम को मालवा विजय के लिए भेजा। विक्रमादित्य ने कलचुरि नरेश कर्ण और वेंगी के राजा भीम दोनो की सेनाओ को बुरी तरह परास्त किया और मालवा के राज्यसिंहासन पर भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह को आसीन करा दिया।

सोमेश्वर प्रथम का पुत्र युवराज विक्रमादित्य पष्ठम बड़ा वीर था। उसने अपने युवराज काल में ही चालुक्यी सेनाओं का सेनापतित्व करते हुए मिथिला, मगध, अङ्ग, बङ्ग, और गौड़ पर सफल आक्रमण किये। सोमेश्वर प्रथम की सेनाओं का एक सफल अभियान गंगा के दुआब तक पहुँचा। यह सेना चन्देलों और कच्छपघाटों के प्रतिरोध का सामना करते हुए और कान्य-कुब्ज को रौंदते हुए आगे बढ़ी। सोमेश्वर प्रथम को अपने वीर पुत्र से बड़ी सहायता मिली। उसने कांची और चेदि राजाओं पर भी आक्रमण कर उन्हें परास्त किया था।

सोमेश्वर प्रथम की गणना उस युग के महान् राजाओं में की जाती है। उसने मान्यखेट को छोड़ कर कल्याणी को राजधानी बनाया। जिस भाँति उसने कल्याणी को सजाया उससे उसका कला प्रेम विदित होता है।

अपने शासन के अन्त मे वह रुग्ण रहने लगा और एक अनुश्रुति यह भी है कि अपनी बीमारी से दुःखी होकर १०६८ ई० मे उसने तुङ्गभद्रा में डूब कर अपने शरीर का अन्त कर लिया। उसने 'आसवमल्ल,' "त्रैलोक्यमल्ल," "वीर मार्तण्ड" "राजनारायण" आदि उपाधियाँ धारण करके अपनी कीर्ति बढ़ाई थी।

सोमेश्वर द्वितीय (१०६८—१०७६ ई०)

सोमेश्वर प्रथम की मृत्यु के उपरान्त सोमेश्वर द्वितीय राज्य सिंहासन पर बैठा। यह सोमेश्वर प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र था। इसके छोटे भाई विक्रमादित्य षष्ठम का चोलराज राजेन्द्र की पुत्री से विवाह हो गया था। अतः उत्तराधि-कार के झगड़े में चोलराज ने अपने जामाता विक्रमादित्य का पक्ष लेकर सोमेश्वर द्वितीय पर आक्रमण कर दिया तथा विक्रमादित्य षष्ठम को स्वतन्त्र राजा घोषित कर दिया। इस प्रकार कुछ काल तक चालुक्य राज्य दो भागो में विभाजित रहा। उत्तरी भाग पर सोमेश्वर द्वितीय का राज्य था और दक्षिणी भाग विक्रमादित्य षष्ठम के अधिकार में था।

१०७० ई० मे चोलराजा वीर राजेन्द्र की मृत्यु हो गई। चोलराज्य के उत्तराधिकार के लिये संघर्ष हुआ। यह संघर्ष विक्रमादित्य षष्ठम के साले अधिराजेन्द्र और राजेन्द्र द्वितीय कुलोत्तुंग के मध्य हुआ। दोनों चालुक्य भाइयों ने एक एक दावेदार का एक दूसरे के विपरीत पक्ष ग्रहण किया। इस भीषण संघर्ष के परिणामस्वरूप अधिराजेन्द्र की तो जन-विद्रोह में हत्या कर दी गई, राजेन्द्र द्वितीय कुलोतुंग चोलराज्य का उत्तराधिकारी बना और सोमेश्वर

द्वितीय विक्रमादित्य द्वारा बन्दी बना लिया गया। सन् १०७६ ई० में विक्रमादित्य षष्ठम चालुक्य राजा घोषित कर दिया गया।

विक्रमादित्य षष्ठम (१०७६—११२६ ई०)

सिंहासनारूढ़ होने के उपरान्त इसने चालुक्य विक्रम सम्वत् चलाया। इसने अपने पिता सोमेश्वर प्रथम के शासन काल में सैनिक प्रतिभा एवं वीरता के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये थे। इसके शासनकाल में होयसाल नरेश बिटिग (विष्णुवर्द्धन) ने पाण्डयों तथा कदम्बो की सहायता से चालुक्य राज्य पर आक्रमण करके उसके कुछ प्रदेशो पर अपना आधिपत्य जमा लिया। परन्तु कुछ समय बाद उसे विक्रमादित्य के हाथों हार खाकर उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। विक्रमादित्य ने उसके सहयोगी पाण्ड्यो और कदम्बो को भी परास्त किया।

विक्रमादित्य का छोटा भाई जयसिंह बनवासी का शासक था। उसने विद्रोह किया और इसके परिणामस्वरूप जो युद्ध हुआ उसमें विक्रमादित्य ने बनवासी के शासक को पराजित किया।

विक्रमादित्य षष्ठम विद्याओं और कलाओं का महान् आश्रयदाता था। उसके दरबार में काश्मीरी पण्डित विल्हण रहता था जिसने विक्रमाङ्कदेव चरित नामक काव्य ग्रन्थ रच कर अपने स्वामी का यशगान किया था। याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा टीका का प्रणेता विज्ञानेश्वर भी इसी की सभा का सभासद था। इसके ५० वर्ष के लम्बे शासन में देश में शान्ति रही तथा विद्या और कलाओं की बड़ी उन्नति हुई।

सोमेश्वर तृतीय (११२६ई०—११३८ ई०)

विक्रमादित्य षष्ठम के बाद उसका पुत्र सोमेश्वर तृतीय 'भूलोकमल्ल' चालुक्य राज्य की गद्दी पर बैठा। यह एक शान्ति प्रिय शासक था। इसके शासन-काल में होयसाल के राजा विष्णुवर्द्धन ने न केवल अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी वरन् बनवासी प्रदेश भी चालुक्यो से छीन कर अपने अधिकार मे कर लिया। चोलराज कुलोत्तुग ने भी चालुक्य राज्य का आन्ध्र प्रदेश हड़प लिया। वास्तव मे सोमेश्वर तृतीय के शासन-काल से ही पश्चिमी चालुक्य-शाखा के राज्य का विघटन आरम्भ हो गया था। कुछ शिलालेखों से विदित होता है कि सोमेश्वर तृतीय ने मगध और नैपाल पर भी विजय प्राप्त की परन्तु यह कथन सदिग्ध है।

सोमेश्वर तृतीय एक विद्वान् शासक था। उसने 'मानसोल्लास' नामक एक ग्रन्थ की स्वयं रचना की।

जगदेकमल्ल द्वितीय (११३८—११५१ ई०)

इसका होयसल नरेश से संघर्ष हुआ परन्तु उसमें इसी की विजय हुई। इसने मालवा के राजा पर आक्रमण कर उसे अपदस्थ कर दिया और उसके स्थान पर अपने प्रतिनिधि बल्लाल को वहाँ का राजा बनाया। उसकी गुर्जर नरेश और चोलराज कुलोत्तुंग द्वितीय से भी झड़पें हुई जिनमें विजयश्री उसी के हाथ लगी।

तैल तृतीय (११५१ ई०—११५६ ई०)

जगदेकमल्ल द्वितीय की मृत्यु के बाद तैल तृतीय कल्याणी के राज सिंहासन का स्वामी बना। उसका मन्त्री कलचुरि-वंशीय बिज्जल था। बिज्जल बहुत शक्तिशाली व्यक्ति था, तैल तृतीय उसके हाथ में कठपुतली की भाँति अशक्त हो गया था। ११५७ ई० के लगभग विज्जल ने तैल तृतीय को जो वास्तव में एक बहुत ही अयोग्य शासक था राज्यच्युत करके स्वयं राजसत्ता ग्रहण कर ली। उसने वासव नाम के एक व्यक्ति को अपना मन्त्री बनाया। दक्षिण भारत के इतिहास में वासव एक महत्वपूर्ण व्यक्ति है वह लिंगायत सम्प्रदाय का प्रवर्तक था जिसका दक्षिण भारत मे बड़ा प्रचार हुआ। बिज्जल स्वयं जैन था, अतः राजा और मन्त्री में विरोध उत्पन्न हो गया। कहते हैं वासव ने बिज्जल की हत्या करा दी परन्तु कुछ प्रमाण यह भी मिलते हैं कि बिज्जल की हत्या नहीं हुई, उसने स्वयं अपना राज्य अपने पुत्र सोविदेव के हवाले कर दिया। सोविदेव ने वासव को अपने नियन्त्रण में लाने की चेष्टा की। धार्मिक विरोध के कारण जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी उसका लाभ तैल तृतीय के पुत्र सोमेश्वर चतुर्थ ने उठाया और ११८१ ई० में चालुक्य सत्ता को फिर एक बार बिज्जल के पुत्रों से छीन लिया।

सोमेश्वर चतुर्थ (११८१ ई०—११८९ ई०)

(चालुक्यो का पतन) यद्यपि सोमेश्वर चतुर्थ ने ११८१ ई० में चालुक्य राज्य को फिर से स्थापित कर दिया था परन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक कायम न रह सकी। बिज्जल और सोविदेव के समय में बहुत से राजा और सामन्त जो चालुक्यो के अधीनस्थ थे स्वतन्त्र हो गये। विघटन तो बहुत पहिले ही से आरम्भ हो गया था। ११८९ ई० में देवगिरि के यादव राजा भिल्लम ने चालुक्य राजा सोमेश्वर चतुर्थ पर आक्रमण कर उसे पराजित किया और कल्याणी पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार कल्याणी के उत्तर-कालीन पश्चिमी चालुक्य राजाओं का २०० वर्ष तक बड़ी प्रतिष्ठा के साथ राज्य करने के उपरान्त अन्त हो गया।

दक्षिण भारत का पल्लव राज्य

पल्लवों की उत्पत्ति के विषय में बहुत मतभेद है। कुछ इतिहासकार पल्लव और पह्लव शब्दों को एक ही मानते है। उनकी मान्यता है कि पल्लव लोग पह्लवों के ही वंशज थे। परन्तु पल्लव तो पार्थियन वंश के विदेशी थे जो कभी दक्षिण तक न पहुँच पाये थे और जिनकी गतिविधियाँ पश्चिमोत्तर भारत तक ही सीमित रही थी। अतः यह मत कि पल्लव और पह्लव एक ही थे, भ्रामक है। कुछ लोग पल्लवों को जंगली जातियों में से उत्पन्न बतलाते हैं परन्तु यह मत पल्लव शब्द के शाब्दिक अर्थ पर आधारित प्रतीत होता है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल पल्लवों को उत्तरी भारत के वाकाटक ब्राह्मण राजवश से उत्पन्न मानते हैं। तमिल भाषा में पल्लव शब्द का अर्थ दस्यु अथवा दुष्ट है। इसी संदर्भ मे कुछ लोग पल्लवों को किसी जंगली जाति से निकला हुआ मानते हैं।

पल्लवो की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सबसे विश्वसनीय एक घटना है। एक चोल राजकुमार का मनीपल्लम् के नागराजा की कन्या से विवाह हुआ। नागराजा की कन्या से उत्पन्न पुत्र टौण्डमण्डलम् का राजा बना। टौण्डमण्डलम् की राजधानी कांची थी और कांची के राजवंश का नाम नागकन्या के नगर मनीपल्लम् के नाम पर पल्लव पड़ा। इस प्रकार पल्लवो मे चोल-नाग मिश्रित रुधिर है। पल्लवजन पहले सातवाहनों के सामन्त थे परन्तु सातवाहन वंश के अस्त होने के बाद अपने अधिकृत भाग पर पुनः शासक बन गये। सातवाहनों के पतन के बाद २२५ ई० के लगभग पल्लवों ने अपने स्वतन्त्र राज्य का निर्माण किया।

पल्लवों के आरम्भिक राजाओं में शिवस्कन्दवर्मा का नाम उल्लेखनीय है। इसका राज्य कृष्णा नदी के दक्षिण में पेन्नोर और वेल्लारी प्रदेश तक था। ३५० ई० में पल्लवों ने पूर्वी घाट पर अधिकार करके कांची मे अपना राज्य स्थापित कर दिया। सम्भवतः यह कार्य पल्लवराज विष्णुगोप के नेतृत्व मे हुआ। विष्णुगोप एक शक्तिशाली राजा था। इसका काल ३५० ई० से ३७५ ई० तक था। समुद्रगुप्त द्वारा पराजित बारह राजाओं में एक पल्लव नरेश भी था। इसका उल्लेख प्रयाग के प्रशस्ति-अभिलेख में है। प्रयाग-प्रशस्ति में एक उल्लेख पालक्क राजा उग्रसेन का है जो सम्भवतः पल्लवनरेश विष्णु-गोप का सामन्त था। ४३४ ई० में पल्लववंश के एक राजा सिंहवर्मन् का भी दानपत्रों में उल्लेख मिलता है।

छठवी शताब्दी में पल्लवों का राज्य बड़ी शीघ्रता से बढ़ा। इस वंश में सिंहविष्णु 'अवनिसिंह' राजा बड़ा प्रतापी और शक्तिशाली हुआ इसने सम्पूर्ण चोलमण्डल पर अपना अधिकार कर लिया और अपने राज्य का विस्तार कावेरी तक कर दिया। उसने पाण्ड्वों और सिंहलों से भी युद्ध कर उनको परास्त किया। उसने अपनी विजयों के कारण अवनिसिंह की उपाधि धारण की। सिंहविष्णु वैष्णव था। महाबली पुरम् में सिंहविष्णु की मूर्ति और दोनों रानियों सहित उसका एक ऊर्ध्वांङ्कित चित्र उपलब्ध है।

महेन्द्रवर्मन्—यह छठवी शताब्दी के अन्त में पल्लवों के राज्यसिंहासन पर बैठा। यह सिंहविष्णु अवनिसिंह का पुत्र था। यह अपने पिता की भाँति वीर और पराक्रमी था। इसने अनेक उपाधि धारण की, जिनमें प्रमुख ये हैं "चेत्यकारी" अथवा "चैत्यकारि", "चित्रकार पुल्ली", "मत्तविलास" और "विचित्र चित्त"। ये विभिन्न उपाधियाँ उसकी उन उपलब्धियों की सूचक हैं जो उसकी बहुमुखी प्रतिभा के परिणामस्वरूप सम्भव हुई। यदि महेन्द्रवर्मन् का समसामयिक शक्तिशाली चालुक्य राजा पुलकेशिन् द्वितीय न होता तो महेन्द्रवर्मन् अपने अनेक गुणों के कारण इतिहास में एक महान् शासक के रूप में प्रसिद्ध होता। पुलकेशिन् द्वितीय ने महेन्द्रवर्मन् पर आक्रमण करके पल्लव-राज्य के उत्तरी प्रदेशो पर अधिकार कर लिया। वह तो और भी आगे बढ़कर काची को लेना चाहता था परन्तु भयानक युद्ध के उपरान्त महेन्द्रवर्मन् ने कांची को अपने हाथ से न जाने दिया। पुलकेशिन् ने उत्तरी प्रदेश पर अपने भाई विष्णुवर्द्धन को शासक नियुक्त किया।

महेन्द्रवर्मन् आरम्भ में जैन था परन्तु वह बाद में शैव हो गया था। वह शैव होने के साथ बड़ा सहिष्णु और उदार था, उसने ब्रह्मा, विष्णु और शिव के अनेक मन्दिरो का निर्माण किया। वह संगीत और साहित्य का महान् संरक्षक था। स्थापत्यकला में वह चट्टान काट कर मन्दिर बनाने की कला का प्रवर्तक माना जाता है। उसकी निर्माण शैली महेन्द्र शैली के नाम से विख्यात हुई। वह स्वयं विद्वान् एवं लेखक था। उसका मत्तविलास प्रहसन आज भी प्रसिद्ध है। उसके इस ग्रन्थ से कापालिक, पाशुपत और बौद्ध भिक्षुओ मे फैली हुई बुराइयों का सम्यक् दिग्दर्शन होता है।

नरसिंहवर्मन् प्रथम—महेन्द्रवर्मन् के बाद उसका पुत्र नरसिंह वर्मन् राज्यसिंहासन पर बैठा। यह बड़ा वीर, प्रतापी और महान् विजेता था। ज्योंही उसने शासनसूत्र सम्हाला, पुलकेशिन् द्वितीय ने कांची पर चढ़ाई कर दी। इस युद्ध में नरसिंहवर्मन् ने न केवल पुलकेशिन् को परास्त किया वरन्

उसके पीछे-पीछे अपने सेनापति को वातापी पर आक्रमण करने को भेजा। इस युद्ध में पुलकेशिन् मारा गया और चालुक्यो की राजधानी वातापी पर पल्लवो का अधिकार हो गया। इस विजय से पल्लवों का सम्पूर्ण दक्षिण भारत पर प्रभुत्व स्थापित हो गया। वातापी की विजय के उपलक्ष में नरसिंहवर्मन् ने 'वातापीकोंड' की उपाधि धारण की। नरसिंह वर्मन् ने चालुक्य राज्य के दक्षिणी भाग पर अधिकार करके न केवल द्रविड़ प्रदेश वरन् सम्पूर्ण दक्षिण भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और 'महामल्ल' की उपाधि धारण की। उसने महाबलीपुरम् नामक नगर बसाया, जिसमे उसने अनेक शिव मन्दिर बनवाये।

उसको लका की ओर किये गये समुद्री अभियान में भी सफलता मिली। इस अभियान का उद्देश्य अपने आश्रित (लका के राज्यसिंहासन के दावेदार) मारवर्मन् को सहायता पहुँचा कर उसको लका का अधिपति बनाना था।

नरसिंहवर्मन् के समय में चीनी यात्री हुयेनसंग कांची आया था। उसके अनुसार पल्लव राज्य की भूमि उपजाऊ और प्रजा सुखी एवं समृद्ध थी। जनता में विद्या, कला और सदाचारिता की ओर रुचि थी। कांची की परिधि लगभग ६ मील थी और नगर में १०० से अधिक बुद्ध विहार थे जिनमें लगभग दस हजार से अधिक बौद्धभिक्षु रहते थे। विद्वानो का आदर था। पल्लवराज्य की परिधि लगभग १००० मील थी। नवनिर्मित नगर महाबली पुरम् कांची के निकट एक बन्दरगाह था जिसको महामल्लपुरम् भी कहते थे। 'धर्मराज रथ' सहित अनेक पत्थर के बने मन्दिर इस नगर की शोभा बढ़ाते थे।

नरसिंह वर्मन् ने चोलो, चेरों, कलभ्रो और पाण्ड्यों को हराया था। उसके शासनकाल में पल्लव वंश बडा शक्तिशाली हो गया।

महेन्द्रवर्मन् द्वितीय—नरसिंहवर्मन् की मृत्यु के बाद उसका पुत्र महेन्द्र वर्मन् द्वितीय ६६८ ई० में गद्दी पर बैठा। वह चालुक्य नरेश विक्रमादित्य द्वारा पराजित हुआ। २ वर्ष शासन करने के उपरान्त ६७० ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

परमेश्वरवर्मन् प्रथम—यह महेन्द्रवर्मन् द्वितीय का पुत्र था। इसके राज्य मे पल्लव चालुक्य युद्ध हुआ। चालुक्य नरेश विक्रमादित्य ने पाण्ड्य नरेश मारवर्मन् की सहायता से परमेश्वर वर्मन् पर आक्रमण किया। परमेश्वर वर्मन् पराजित हुआ और उसकी राजधानी कांची पर चालुक्यों का अधिकार हो गया। इस विपत्ति के समय में परमेश्वर वर्मन् ने साहस का परिचय दिया।

उसने अपनी सैनिक शक्ति को पुनर्गठित करके पेरुवडनल्लुर के युद्ध में चालुक्य राजा विक्रमादित्य को अपनी राजधानी कांची को वापिस करने को बाध्य किया।

पल्लवों और चालुक्यों में निरन्तर संघर्ष होता रहता था, कभी पल्लव चालुक्यों की राजधानी वातापी पर अपना अधिकार कर लेते और कभी चालुक्य पल्लवो की राजधानी कांची पर। परन्तु यह अधिकार अस्थिर ही रहता, कारण थोड़े समय बाद ही प्रत्येक राजवंश अपनी राजधानी पुनः प्राप्त करने में समर्थ हो जाता था।

परमेश्वर वर्मन् शिव का भक्त था। उसने कांची के निकट शिव मन्दिर बनवाया। उसने महाबली पुरम् में भी अनेक स्मारक बनवाये। उसने ६६५ ई० तक राज्य किया।

नरसिंहवर्मन् द्वितीय—यह परमेश्वर वर्मन् का पुत्र और उत्तराधिकारी था। परमेश्वर वर्मन् ने जो युद्ध कर लिये थे, उनके परिणामस्वरूप इसके शासनकाल में शान्ति रही। कारण उन युद्धो ने पल्लवों के पक्ष में निर्णय कर दिया था। इसका अभिलेखो में 'राजसिंह' 'अगमप्रियं,' 'शंकरभक्त' आदि उपाधियों से उल्लेख मिलता है। इसने कांची में कैलाशमन्दिर बनवाया। महान् संस्कृत कवि दण्डिन् इसका राज कवि था। इसने चीन को एक दूतमण्डल भेजा। यह महान् विद्याप्रेमी था।

परमेश्वरवर्मन् द्वितीय—यह नरसिंह वर्मन् द्वितीय का पुत्र था। इसके शासनकाल मे विक्रमादित्य द्वितीय चालुक्यराज ने कांची पर आक्रमण कर दिया और इस युद्ध में परमेश्वरवर्मन् द्वितीय पराजित हुआ। उसने गंगनरेश श्री पुरुष से युद्ध छेड़ दिया। उसमें भी उसकी पराजय हुई और वह वीरगति को प्राप्त हुआ। परमेश्वर वर्मन् द्वितीय शिव का उपासक था। उसने तिरुवाडि मे शिवमन्दिर का निर्माण कराया।

नन्दिवर्मन् द्वितीय—परमेश्वर वर्मन् द्वितीय के कोई पुत्र न था अतः उसी वंश की उपशाखा के एक राजकुमार नन्दिवर्मन् को मन्त्रियों ने राज-सिंहासन पर बैठा दिया। इसने ७३० ई० से ८०० ई० तक ७० वर्ष राज्य किया। पल्लवों और चालुक्यों में फिर युद्ध हुए। चालुक्य नरेश विक्रमादित्य द्वितीय ने कांची पर अधिकार कर लिया परन्तु पल्लव उसे फिर लौटाने में समर्थ हुए। नन्दिवर्मन् वीर एवं महत्वाकांक्षी था, उसने पल्लव शक्ति का पुनर्गठन कर लिया और पुनः सत्ता प्राप्त की। नन्दिवर्मन् द्वितीय के शासनकाल

में पल्लवों के पाण्ड्यों से भी युद्ध हुए। एक राजकुमार चित्रमाप का पक्ष लेकर पाण्ड्य नरेश मारवर्मन् राजसिंह प्रथम ने नन्दिवर्मन् से युद्ध छेड़ दिया। नन्दिवर्मन् के सेनापति उदयचन्द्र ने आक्रमणकारियो को परास्त किया और चित्रमाप की हत्या कर दी। नन्दिवर्मन् को गगों के विरुद्ध भी विजय प्राप्त हुई। गगनरेश श्रीपुरुष परास्त हुआ। इस विजय में नन्दिवर्मन् को पर्याप्त धन मिला।

चालुक्यो से युद्ध में नन्दिवर्मन् को विक्रमादित्य के पुत्र कीर्तिवर्मन् से पराजय का मुँह देखना पड़ा। पाण्ड्य राजा राजसिंह ने नन्दिवर्मन् के उस संघ को जो उसने पाण्ड्यो के विरुद्ध बनाया था परास्त करके नष्ट कर दिया। नन्दिवर्मन् की पहिली विजय स्थिर न रह सकी, इसका एक कारण यह भी था कि राष्ट्रकूट दक्षिण मे सत्ता के लिये सघर्ष कर रहे थे। वे बड़े वीर और संगठित थे।

नन्दिवर्मन् बडा कला प्रेमी था। उसने कांची में बैकुण्ठ पेरुमल के प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण कराया तथा अनेक पुराने मन्दिरो का भी जीर्णोद्धार किया। वह वैष्णव था। तिरुमङ्गइ अलवार इसके समय मे आचार्य था।

नन्दिवर्मन् द्वितीय के बाद क्रमशः दन्तिवर्मन्, नन्दिवर्मन् तृतीय, नृपतुंग-वर्मन् और अपराजित पल्लव वंश के राजा हुए। इनके समय मे पल्लवों का चालुक्यो, राष्ट्रकूटो, पाण्ड्यों और चोलो से बराबर संघर्ष चलता रहा। अपराजित वर्मन् इस वंश का अन्तिम राजा था जिसने ८७६ से ८६५ ई० तक राज्य किया। इसने गगों की सहायता से पाण्ड्यों को परास्त किया परन्तु चोलराज आदित्य प्रथम से इसका अन्तिम युद्ध हुआ जिसमें कि इसे वीरगति प्राप्त हुई। पल्लवो का राज्य कोण्डमण्डलम् सदा के लिये चोल साम्राज्य मे विलीन हो गया। इस प्रकार ८६७ ई० के लगभग पल्लव शक्ति का सदा के लिये अन्त हो गया।

शासन व्यवस्था

पल्लवो की शासन व्यवस्था बहुत उत्तम थी। राजा शासन का सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न व्यक्ति होता था। परामर्शदायिनी परिषद के रूप में मन्त्रिमण्डल भी होता था। मन्त्रियों को 'रहस्यादिकद' भी कहते थे। मन्त्रियों की नियुक्ति राजा स्वयं करता था। राजा सेना की देखभाल करता तथा अन्य राज्यों से सन्धि, विग्रह आदि के निर्णय भी राजा ही लेता था। राजाओं द्वारा अपने महत्वपूर्ण कार्यों के अनुसार उपाधि धारण करने की एक प्रथा भी चल पड़ी थी। 'परम भट्टारक' सर्वश्रेष्ठ उपाधियों में से एक थी। जनकल्याणकारी कार्यों

की व्यवस्था, मन्दिर, विद्यालय, तालाब आदि का निर्माण राजा के प्रधान कर्तव्यों मे गिने जाते थे।

राजा का पुत्र युवराज कहलाता था। अपने पिता के शासनकाल में वह राजकीय कार्यों में अपने पिता का हाथ बँटाता था। राजा के निकट सम्बन्धी व बन्धु बान्धव भी राज्यशासन में महत्वपूर्ण पदो पर अथवा प्रदेशों के शासक नियुक्त किये जाते थे।

पल्लवों के शासन में युद्धों का बाहुल्य रहा। चालुक्यों और पाण्ड्यों से सदैव संघर्ष रहता था। परिणामस्वरूप सेना की देखभाल बहुत थी। समस्त सेना का अध्यक्ष एक सेनापति भी होता था। पल्लवो के पास एक विशाल जहाजी बेड़ा भी था, जिसके माध्यम से उन्होने लंका पर कई सैनिक अभियान सफलतापूर्वक किये। जहाजी बेड़ा पल्लवों के वृहत्तर भारत से सम्बन्ध स्थापित करने का एक बड़ा साधन था।

साम्राज्य राष्ट्रों में विभाजित था और राष्ट्र विषयों में विभक्त होते थे। विषयों मे कोट्टम् और ग्राम हुआ करते थे। राष्ट्रो में सामन्त शासन करते थे, वे 'राष्ट्रीय' कहलाते थे। विषय के स्वामी को विषयक कहते थे। ग्राम व कोट्टम् का अधिकारी 'वपित्र' कहलाता था। कर मण्डपी नामक कर संग्राहको द्वारा उगाहा जाता था। वन विभाग के अध्यक्ष को ग्रमिक कहते थे। ब्राह्मणो से उनके द्वारा दान मे प्राप्त हुई वस्तुओं पर कर नही लिया जाता था।

ग्रामो में स्वायत्त शासन था। ग्राम सभायें सामाजिक कार्यों मे दिलचस्पी लेती थी। वे भूमि का नाप करती तथा मुकदमों का निर्णय करती थी।

धार्मिक अवस्था

पल्लवो के शासनकाल में बौद्ध और जैन धर्म ह्रासोन्मुख थे। प्रमुख धर्म वैदिक था। शैवधर्म भी प्रचलित था। राजाओं ने वैदिक यज्ञ किये। राजाओं ने शिव और विष्णु के अनेक मन्दिर बनवाये। भक्तिमार्ग का प्रचलन जोरों पर था। धार्मिक सहिष्णुता तो हिन्दू शासन की एक महान् विशेषता के रूप में अत्यन्त प्राचीन काल से ही चली आती है। पल्लव राजागण भी अत्यन्त सहिष्णु एवं उदार व्यक्ति थे। हुएनसंग ने लिखा है कि बौद्ध धर्मावलम्बी अपनी इच्छानुसार अपने धर्म का आचरण करते हैं। किसी प्रकार के कोई प्रतिबन्ध नहीं थे। बौद्धों के कांची में १०० विहार थे, जिनमें दस हजार भिक्षु निवास करते थे।

साहित्य

पल्लव राजे विद्या के महान् प्रेमी थे। शासन में विद्वानों का आदर था। उस काल मे साहित्य की महती उन्नति हुई। राजाओं ने संस्कृत के अध्ययन और उसकी उन्नति मे अपना महान् योगदान दिया। पल्लव शासन के अभिलेख संस्कृत भाषा में ही प्राप्त होते हैं। संस्कृत के साथ ही तमिल साहित्य की भी बहुत उन्नति हुई। संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित दण्डिन् नरसिंह वर्मन् के दरबार मे रहता था। भास और शूद्रक के संस्कृत नाटको का अभिनय राजसभा में होता था। नरसिंह वर्मन् ने 'अगमप्रिय' की उपाधि धारण की जिसका अर्थ विद्याप्रेमी होता है। महेन्द्रवर्मन् ने मत्तविलास प्रहसन नाम का ग्रन्थ जो आज तक प्रसिद्ध है स्वयं लिखा। यह ग्रन्थ हास्यरस प्रधान है और तत्कालीन सामाजिक दशा पर अच्छा प्रकाश डालता है।

कला

पल्लव शासन मे वस्तुकला की चार शैलियां प्रमुख थीं जो पल्लव राजाओं के नाम पर प्रसिद्ध हुईं। वे इस प्रकार हैं—

महेन्द्रवर्मन् शैली ६०० से ६२५ ई० तक
मामल्ल शैली ६२५ से ६७४ ई० तक
राजसिंह शैली ७०० से ८०० ई० तक
उत्तराजित शैली अन्तिम

इन चार शैलियो में दूसरी और तीसरी प्रमुख हैं। कलाकारों ने वास्तुकला को काष्ठकला और कन्दराकला में प्रचलन से एक नया मोड़ दिया। समुद्रतट पर बने पाँच मठ जिन्हे पाँचों पाण्डवों के नाम से पुकारा जाता है इस शैली की उत्कृष्ट रचनायें हैं। कांची के कैलाशनाथ का मन्दिर और वैकुण्ठ पेरुमल राजसिंह शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं।

मन्दिरों के अतिरिक्त मूर्तिनिर्माण कला का भी पल्लवों के काल में बहुत विकास हुआ। पल्लवों के कुछ मन्दिर तो चट्टानों को काट कर बनाये गये हैं और कुछ पत्थर तथा ईंट से बने हुए हैं। ये बड़े विशाल हैं तथा वास्तुकला की श्रेष्ठता के लिए आज तक प्रसिद्ध हैं। गंगावतरण, शेषशायी, गोवर्द्धनधारण आदि की प्रतिमायें बड़ी सुन्दरता से पत्थरों में उत्कीर्ण हैं और अपनी कृति के लिए आज भी दर्शनीय हैं।

दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट

दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट-राजाओ के विषय में कुछ विद्वानों का कहना है कि ये लोग यादवो के वंशज थे। अशोक के समय में इनका रष्ट्रिक अथवा रठिक के नामो से अस्तित्व सिद्ध होता है। ये पहिले महाराष्ट्र में रहते थे और फिर छठवी सदी में कर्णाटक आकर सामन्तों के रूप में रहने लगे। चालुक्य राजा कीर्तिवर्मा के पहिले तक तो वे करद-सामन्त के रूप में चालुक्यो के अधीन रहे, परन्तु कीर्तिवर्मा के जीवनकाल में उन्होंने अधीनता का जुआ उतार कर फेंका और अपने आप को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। डाक्टर अल्तेकर के अनुसार इनकी मातृभाषा कन्नड़ थी। इस राजवंश का इतिहास दन्तिदुर्ग से प्रारम्भ हुआ समझना चाहिए। दन्तिदुर्ग चालुक्य राजकुमारी भवनागा का पुत्र था जिसे इन्द्रराज वैवाहिक कार्यक्रम मे से बलात् उठाकर ले आया था। तत्कालीन अभिलेखों से पता चलता है कि दन्तिदुर्ग एक महान प्रतापी शासक तथा विजेता था। उसने चालुक्य शक्ति का विनाश किया और कांची, श्री शैल, मालव घाट, टंका और कलिंग राज्यों पर विजय प्राप्त की। उसने उज्जयिनी मे एक विशाल यज्ञ किया जिसमे गुर्जर वशी राजाओ को द्वारपाल का स्थान दिया। ७३८ ई० के लगभग चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय और पुलकेशिन् जब अरबों को गुजरात से मार भगाने का अभियान चला रहे थे उस समय दन्तिदुर्ग ने एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इन तीनों राज्य शक्तियो के सम्मिलित प्रयास से अरबो की पूर्णरूप से पराजय हो गई और उनका पुनः गुजरात पर आक्रमण करने का साहस न हुआ।

दन्तिदुर्ग के कोई पुत्र न था अतः उसकी मृत्यु के बाद ७५८ ई० मे उसका चाचा कृष्णप्रथम गद्दी पर बैठा। सबसे पहिले कृष्णप्रथम ने चालुक्य राज कीर्तिवर्मन् द्वितीय को परास्त कर चालुक्य शक्ति को क्षीण किया। इसके पश्चात उसने मैसूर के गंगवश को परास्त कर उसकी राजधानी पर अपना अधिकार जमा लिया। वेंगी के चालुक्य राजा पर आक्रमण करने के लिये उसने अपने पुत्र गोविन्द को भेजा। कोकड़ की विजय के बाद उसने मध्यप्रदेश के मराठी भाषा वाले भाग पर भी अपना अधिकार स्थापित किया। अनेक युद्धो के विजेता से भी अधिक उसकी ख्याति एक महान् निर्माता के रूप में है। कृष्णप्रथम ने ऐलोरा के जगत विख्यात शिव मन्दिर का निर्माण करवाया। यह मन्दिर ठोस चट्टान को काटकर बनवाया हुआ है। प्रसिद्ध इतिहासकार डाक्टर विंसेण्ट स्मिथ इस मन्दिर को भारतीय वास्तुकला की सर्वोत्कृष्ट

अद्भुत कृति कहते हैं। कृष्णप्रथम ने राजाधिराज और परमेश्वर की उपाधियाँ धारण की।

गोविन्द द्वितीय (७७३—७८० ई०)—७७२ ई० में कृष्ण प्रथम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र गोविन्द द्वितीय (प्रभूतवर्ष) गद्दी पर बैठा। कृष्ण प्रथम के शासनकाल मे युवराज की स्थिति में गोविन्द द्वितीय ही ने वेंगी के पूर्वी चालुक्यराज विष्णुवर्द्धन चतुर्थ को परास्त किया था। राज्य-शासन प्राप्त कर गोविन्द द्वितीय ने कोई उल्लेखनीय कार्य नही किया। वह अत्यधिक विलासी था। उसने अपना राज्यकार्य मन्त्रियों और अपने छोटे भाई ध्रुव पर छोड़ दिया था। अवसर पाते ही ध्रुव ने उसे अपदस्थ कर दिया और स्वयं राजसिंहासन पर बैठ गया।

ध्रुवधारावर्ष (७८०—७९३ ई०)—लगभग ७८० ई० मे अपने भाई को अपदस्थ करके ध्रुवधारावर्ष गद्दी पर बैठा। यह इतिहास में निरुपम 'कालिवल्लभ' और 'श्रीवल्लभ' के विरुदों से प्रसिद्ध है। इसको 'धरवर्ष' अथवा 'धारावर्ष' की उपाधियो से भी पुकारा जाता है। इसने सबसे पहिले अपने बड़े भाई के शत्रु गंगवडी के गंगवशी राजा शिवमार मुत्तरास को युद्ध मे परास्त कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया और स्तम्भ नामी अपने पुत्र को वहाँ का शासक नियुक्त कर दिया। कांची के पल्लव नरेश दन्तिवर्मन को उसने अपने कौशल से नतमस्तक किया। दन्तिवर्मन् ने ध्रुव को पर्याप्त संख्या में हाथी भेंट किये। दक्षिण भारत के युद्धों के बाद उसने उत्तरी भारत की ओर अपना विजयाभिमान अग्रसर किया। उसने उज्जैन के प्रतीहार राजा वत्सराज को परास्त कर उसे राजपूताने की ओर भागने को विवश किया। कन्नौज के राजा इन्द्रायुध के काल में ध्रुव ने गंगा यमुना के दुआब पर भी आक्रमण किया और ध्वजा पर अपने अन्य विरुदों में गंगा यमुना की आकृतियाँ भी सम्मिलित कर दी। इसी अभियान मे सम्भवतः उसने पाल राजा धर्मपाल को भी परास्त किया। यद्यपि मध्यप्रदेश के आक्रमण का कोई चिरस्थायी परिणाम न निकला तथापि उससे ध्रुव की एक महान विजेता के रूप में यशः कीर्ति स्थापित हो गई।

ध्रुवधारा वर्ष राष्ट्रकूट राजाओं में एक महान् शक्तिशाली राजा हुआ। उसने १३ वर्ष के अपने छोटे से राज्यकाल में न केवल दक्षिण भारत में राष्ट्रकूट सत्ता स्थापित कर दी वरन् सातवाहन साम्राज्य के लगभग नौ शताब्दी बाद अपनी सेनाओं को विन्ध्याचल के उस पार मध्यप्रदेश पर आक्रमण करने के लिये भेजा। ध्रुव के समय से राष्ट्रकूट साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में

उभरने लगे। ध्रुव के चार पुत्र थे, स्तम्भ, कर्क, गोविन्द और इन्द्र। अपनी मृत्यु के उपरान्त पुत्रों में उत्तराधिकार के लिए संघर्ष न हो इसलिए ध्रुव ने गोविन्द तृतीय को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दिया था। सन् ७९३ ई० के लगभग ध्रुव की मृत्यु हो गई।

गोविन्द तृतीय (७९३ ई०—८१४ ई०)—७९३ ई० में गद्दी पर बैठते ही गोविन्द तृतीय जगत्तुंग को अपने भाई स्तम्भ के विद्रोह का सामना करना पड़ा। ध्रुव की मृत्यु के समय स्तम्भ गंगवड़ी का शासक था। स्तम्भ के विद्रोह में १२ राजाओं ने उसका साथ दिया। गंगवड़ी के पहिले राजा शिवमार ने भी गोविन्द तृतीय की परतन्त्रता से मुक्त होकर स्तम्भ के साथ गोविन्द तृतीय के विरुद्ध अपनी शक्ति लगाई। उत्तराधिकार के इस युद्ध में गोविन्द की विजय हुई। उसने दयार्द्र होकर स्तम्भ के अपराध को क्षमा कर दिया और उसे पुनः गंगवड़ी का शासक नियुक्त कर दिया। उसने कांची के पल्लवों से लेकर मालवा तक अपनी शक्ति का विस्तार किया। पूर्वी गुजरात (लाट प्रदेश) में अपने भाई इन्द्रराज को राजा बनाकर वहाँ पृथक् राष्ट्रकूट वंश की स्थापना की। उसने कान्यकुब्ज के राजा चक्रायुध और बङ्गाल के राजा धर्मपाल को युद्ध में परास्त किया। उत्तरी अभियान में उसे व्यस्त देखकर चोलों और पाण्ड्यों ने गंगवड़ी और चेर के राज्यों के साथ मिलकर उसके विरुद्ध एक संघ बनाया परन्तु गोविन्द तृतीय पुनः एक बार उस सम्मिलित शक्ति को ध्वस्त करने में समर्थ हुआ। लङ्का के राजा ने उसकी प्रभुसत्ता स्वीकार की।

गोविन्द तृतीय ने हिमालय से लेकर कुमारी-अन्तरीप तक अनेक राजाओं पर विजय प्राप्त की। निस्संदेह गोविन्द तृतीय राष्ट्रकूट वंश के सम्राटों में सबसे योग्य, साहसी और पराक्रमी पुरुष था। वह एक कुशल प्रशासक और महान् राजनीतिज्ञ था। कई अभिलेखों में गोविन्द की तुलना अर्जुन (पार्थ) से की गई है। सन् ८१४ ई० के लगभग उसकी मृत्यु हो गई।

अमोघ वर्ष—(८१४—८७८ ई०)—गोविन्द तृतीय के बाद उसका पुत्र अमोघ वर्ष प्रथम राज्यसिंहासन का अधिकारी हुआ। राज्यारोहण के समय अमोघ वर्ष बालक था अतः राज्य संचालन का कार्यभार राष्ट्रकूट वंश के एक सामन्त कर्क पर आ पड़ा। शासक की अल्पवयस्कता के कारण राज्य में चारों ओर अराजकता फैल गई। गंगवडी का राजा स्वतन्त्र हो गया और वेंगी के राजा विजयादित्य द्वितीय ने आक्रमण कर दिया। कर्कराज ने इस बिगडी हुई स्थिति को अमोघवर्ष के युवावस्था प्राप्त होने तक सम्हाला। युवा होने पर अमोघवर्ष

ने चालुक्य राजा गुणग विजयादित्य को हराया तथा अन्य पड़ोसी राजाओं को जो उत्पात मचाये हुए थे अपने नियन्त्रण में लाया। इसके समय में राजधानी मयूरखण्ड से मान्यखेट मे आई।

अमोघवर्ष का लम्बा शासन-काल सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण न था। उसकी साहित्य और धर्म के प्रति विशेष रुचि थी। उसका झुकाव जैन धर्म की ओर था। जिनसेन आचार्य उसके गुरू थे। वह स्वयं बड़ा विद्वान् और लेखक था। उसके दरबार में अनेकों विद्वानों को आश्रय प्राप्त था। महावीराचार्य और शकटायन नामी दोनों प्रसिद्ध विद्वान् जिन्होने 'गणितसारसंग्रह' और 'अमोघवृत्ति' नामक ग्रंथ लिखे उसकी सभा मे विद्यमान थे। वह स्वय 'प्रश्नोत्तर मालिका' तथा कन्नड़ भाषा मे 'कविराजमार्ग' नामी ग्रन्थ का रचयिता था। वह महालक्ष्मी का परम भक्त और उदार दानी था। अमोघवर्ष की हिन्दू धर्म के प्रति भी महान् आस्था थी। ८५१ मे अलमुलैमान ने इसकी संसार के चार मुख्य राजाओ मे गणना की थी। (१) बगदाद का खलीफा (२) चीन का सम्राट (३) कुस्तुनतुनियां का शासक (४) बल्हरा (वल्लभराय राष्ट्रकूट)। अलसुलैमान इसको बल्हरा या बल्लभराय के नाम से पुकारता है।

अमोघवर्ष का जीवन अधिकतर धार्मिक कृत्यों, स्वाध्याय, धर्म चिन्तन आदि मे व्यतीत होता था। ८७८ ई० तक उसने ६० वर्ष से अधिक राज्य किया।

कृष्ण द्वितीय अकाल वर्ष (८७८—९१४ ई०)—यह सन् ८७८ ई० मे अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी के रूप मे राष्ट्रकूट गद्दी पर बैठा। इसने 'श्री वल्लभ' और 'शुभतुङ्ग' आदि विरुद धारण किये। उसने कलचुरिराज कोक्कलदेव की पुत्री से विवाह कर अपनी स्थिति सुदृढ की। कृष्ण द्वितीय के शासनकाल में गुजराती राष्ट्रकूट शाखा की शक्ति नष्ट हो गई। उसके समय मे गुजरात की उस उपशाखा का राजा कृष्ण था। कृष्ण द्वितीय ने गुजरात की उपशाखा का शासन छीनकर अपने हाथ मे ले लिया और प्रचण्ड नामक अपने प्रतिनिधि को वहाँ का शासक नियुक्त किया। सैनिक दृष्टि से वह एक असफल शासक था। वह चालुक्य राजा भीम द्वारा पराजित हुआ और अपने पिता की विजयों को स्थिर न कर सका।

कृष्ण द्वितीय जैन धर्म का पालक था। जैन आचार्य गुणभद्र उसका गुरू था। उसकी मृत्यु ९१४ ई० में हुई। इन्द्र तृतीय (९१४ ई० से ९२२ ई०) यह कृष्ण द्वितीय का पौत्र था और उसकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी हुआ। इसके पिता का नाम जगत्तुंग था जो अमोघवर्ष की कलचुरि पत्नी लक्ष्मी से

उत्पन्न हुआ था। जगत्तुङ्ग अपने पिता अमोघवर्ष के जीवनकाल में ही मर चुका था। इन्द्र तृतीय एक विजयी और प्रतापी राजा था। उसकी 'कीर्ति नारायण,' 'राजमार्तण्ड' और 'नित्यवर्ष' आदि उपाधियाँ थीं। इसके शासन-काल के आरम्भ में परमार राजा उपेन्द्र ने नासिक जिले में गोवर्द्धन पर चढाई कर दी और वह इन्द्र तृतीय के हाथों परास्त हुआ। इन्द्र तृतीय ने उत्तरी भारत पर आक्रमण करके कान्यकुब्ज पर अपना आधिपत्य स्थापित कर दिया। प्रतिहार-वंशी राजा महिपाल भाग गया और इन्द्र तृतीय के सेनापति ने प्रयाग तक उसका पीछा किया।

इन्द्र तृतीय एक कुशल सेनापति था जिसने राष्ट्रकूट वंश के गौरव की पुनः प्रतिष्ठा स्थापित की। दैवयोग से वह अधिक जीवित न रहा अन्यथा राष्ट्रकूट शक्ति मे बहुत वृद्धि हो जाती। अमोघवर्ष द्वितीय (९२२ ई०)—यह इन्द्र तृतीय की मृत्यु के उपरान्त उत्तराधिकारी हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि एक वर्ष के भीतर ही इसके छोटे भाई गोविन्द चतुर्थ ने इसकी हत्या कर दी अथवा इसको अन्य प्रकार से राज्याच्युत कर दिया।

गोविन्द चतुर्थ (९२३ ई० से ९३६ ई० तक)—इसने अमोघवर्ष द्वितीय को अपदस्थ करके शासनसूत्र सम्हाला। यह बड़ा विलासी था, इसके चारों ओर नर्तकियों का झुण्ड रहता था। इसकी विलासप्रियता के परिणाम-स्वरूप मन्त्रियों में असन्तोष व्याप्त हो गया और शासनसूत्र में शिथिलता आ गई। प्रतिहार नरेश महिपाल ने पुनः शक्ति प्राप्त की। चालुक्य राजा भीम द्वितीय ने भी उसे युद्ध मे परास्त किया। राज्य मे विद्रोह के दृश्य उपस्थित होने लगे। ऐसी स्थिति में उसके चाचा अमोघवर्ष तृतीय ने उसे राज्यच्युत कर दिया और स्वयं राज्याधिकार प्राप्त कर लिया।

अमोघवर्ष तृतीय (९३६ ई० से ९३९ ई० तक)—इसको सिंहासन का मोह न था। वह अपनी न्यायप्रियता और धर्म निष्ठता के कारण विख्यात था। उसने त्रिपुरी के कलचुरि राजा केयूरवर्ष की कन्या के साथ अपना विवाह किया और अपनी बहिन का विवाह गंगवंशीय राजकुमार भूतुंग द्वितीय के साथ कर दिया। उसे राज्य कार्य में विशेष रुचि न थी, राज्य कार्य को उसका पुत्र कृष्ण तृतीय ही उसके जीवनकाल में देखता था।

कृष्ण तृतीय (९३९ ई० से ९६८ ई०)—अमोघवर्ष तृतीय का उत्तराधिकार कृष्ण तृतीय को प्राप्त हुआ। यह बड़ा प्रतापी राजा था। उसने परम भट्टारक, महाराजाधिराज, कीर्तिनारायण और राजमार्तण्ड आदि की उपाधियाँ धारण की। इन विरुदों से प्रकट होता है कि उसने अनेक सफल विजय

अभियान किये होंगे। गंगनरेश भूतुंग की सहायता से उसने युद्ध के बाद चोलों से कांची और तंजोर के प्रदेश हस्तगत किये। इस युद्ध में चोल राजकुमार राजादित्य का वध हो गया। कलचुरि नरेश के भी परास्त किये जाने का उल्लेख अभिलेखों से प्राप्त है। एक अभिलेख के अनुसार कृष्ण तृतीय ने पाण्ड्यों, केरलों और सिंहल नरेश को भी युद्ध में हराया। कृष्ण तृतीय ने अपनी विजय यात्रा रामेश्वरम् तक की और वहाँ उसने एक विजयस्तम्भ भी बनवाया। अपनी विजयों की स्मृतिस्वरूप उसने रामेश्वरम् के निकट 'कृष्णेश्वर' और 'गण्डमार्तण्डादित्य' के मन्दिरों का निर्माण कराया। नर्मदा नदी के दक्षिण के प्रायः सम्पूर्ण भारत पर कृष्ण तृतीय ने अपना आधिपत्य स्थापित किया था। राष्ट्रकूट वंश मे इसके समान दक्षिण भारत का पूर्ण विजेता दूसरा राजा उत्पन्न न हुआ था। इसने उत्तरी भारत की ओर भी अपना अभियान बढ़ाया परन्तु वहाँ उसे विशेष सफलता प्राप्त न हुई। यद्यपि उसने वेंगी के चालुक्य राजा और परमारवंशीय राजा सीयक को रणक्षेत्र में परास्त किया तथापि उसकी ये विजय चिरस्थायी सिद्ध न हुईं। वास्तव मे कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट वंश का अन्तिम प्रतापी राजा था।

खोत्तिग—(९६८ ई० से ९७२ ई०)—कृष्ण तृतीय के बाद उसका अनुज खोत्तिग सन् ९६८ में राज्य का अधिकारी बना। इसके समय में राजा सीयक का परमार राज्य बड़ा शक्तिशाली हो गया था। सीयक ने राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण करके खोत्तिग को पराजित कर दिया और राजधानी मान्यखेट की खूब लूट की। कदाचित् इस युद्ध के परिणाम स्वरूप ही खोत्तिग की सन् ९७२ ई० मे मृत्यु हो गई।

कर्क द्वितीय (९७२ ई० से ९७३ ई०)— खोत्तिग के बाद उसके उत्तराधिकारी के रूप मे कर्क द्वितीय जो खोत्तिग का भतीजा था राष्ट्रकूट-वंश का राजा हुआ। कर्क द्वितीय के शासन सूत्र सम्हालते ही अनेक उपद्रव और उठ खड़े हुए। राष्ट्रकूटो के अधीनस्थ एक सामन्त तैल द्वितीय ने एक वर्ष में ही अपना राज्य खो दिया और इसके साथ ही राष्ट्रकूट-वंश का भी अन्त हो गया।

राष्ट्रकूटों का सैन्य संगठन

राष्ट्रकूटो ने अपनी सेना के संगठन पर अधिक ध्यान दिया। निरन्तर युद्धो की स्थिति बनी रहने से सेना के सुव्यवस्थित और शक्तिशाली होने की बडी आवश्यकता रहती थी। राष्ट्रकूटो के पास पैदल, घुड़सवार, हाथी आदि से युक्त अपार सैनिक शक्ति विद्यमान थी। डा० अल्टेकर के अनुसार राष्ट्रकूटों

की सेना की संख्या ५ लाख से भी अधिक थी। सभी जातियों और धर्म के लोग सेना में लिए जाते थे।

प्रशासन

राज्य का प्रमुख केन्द्र-स्तम्भ राजा हुआ करता था, जो वंश परम्परागत राज्य का अधिकारी होता था। साधारणतया बड़ा पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता था। कभी-कभी छोटा पुत्र अथवा अन्य सम्बन्धी भी राजपद प्राप्त कर लेता था। परन्तु ऐसा बड़े भाई की अयोग्यता अथवा अन्य परिस्थितियों वश ही सम्भव होता था। राष्ट्रकूट इतिहास में कभी-कभी उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए गृह-युद्ध भी हुए। ध्रुवधारावर्ष ने अपने भाई गोविन्द चतुर्थ को राज्यच्युत कर दिया था। राजा बड़ी शान से रहता था और अपनी सैन्य-विजयों के अनुसार अनेक उपाधियां धारण करता रहता था। सम्राट की परामर्शदात्री मन्त्रि-परिषद होती थी। मन्त्रि-परिषद में सेनापति, महामात्य, महासंधिविग्रहिक, भान्डागारिक, महाक्षपतिक और पुरोहित आदि हुआ करते थे। समस्त राज्यशक्ति सम्राट में ही निहित थी, मन्त्रि-परिषद का अस्तित्व केवल परामर्शदात्री के रूप मे था।

राष्ट्र अनेक इकाइयों में विभक्त था। राष्ट्र में अनेक विषय हुआ करते थे। विषय में एक हजार से पांच हजार ग्राम तक होते थे। विषय का अधिकारी विषयपति कहलाता था। प्रत्येक विषय अनेक भुक्तियों में विभक्त रहता था। एक भुक्ति में पचास से सत्तर ग्राम होते थे। भुक्ति का अधिकारी भोगिक या भोगपति होता था। नगर के शासक को नगरपति या नगरपाल कहते थे।

ग्रामों में पंचायत राज्य था। ग्राम का प्रधान व्यक्ति मुखिया होता था। करों का वसूल करना, सार्वजनिक निर्माण-कार्य तथा ग्रामस्तर के विवादों का हल करना ये पंचायतों के मुख्य कर्त्तव्य थे।

राज्य की आय का प्रमुख माध्यम भूमिकर था। यह उपज का चौथाई भाग होता था। यह अन्न के रूप में प्राप्त किया जाता था। नदी पुल, वनों, क्रय-विक्रय, चुंगी आदि के द्वारा भी राजस्व प्राप्त किया जाता था।

धार्मिक स्थिति

राष्ट्रकूटों के समय में पौराणिक हिन्दू-धर्म दक्षिण में भी प्रचलित हुआ। विष्णु और शिव की अनेक मूर्तियां मन्दिरों में प्रतिष्ठापित हुईं। अनेको मन्दिरों का निर्माण हुआ। कृष्ण प्रथम निर्मित ऐलोरा का प्रसिद्ध शिव मन्दिर आज तक मौजूद है। अमोघवर्ष प्रथम, इन्द्र चतुर्थ और कृष्ण द्वितीय के राज्यों में

जैनधर्म का भी प्रचार हुआ। यद्यपि जैन धर्म को राज्य की ओर से संरक्षण प्राप्त था तथापि राज्य-नीति धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्तो पर आधारित थी। बौद्ध धर्म इस समय अवनत अवस्था में था।

राष्ट्रकूटों के समय में हिन्दू धर्म की प्रधानता दिखाई देती है। अनेकों यज्ञ भी हुए, कुमारिल ने श्रौतयज्ञ और उज्जयिनी में दुन्तिदुर्ग ने 'हिरण्यगर्भ' यज्ञ किया। शंकराचार्य का भी विशेष स्थान था। उन्होने सन्यास का प्रचार किया परन्तु वह अधिक लोकप्रिय न हो सका।

ऐलोरा के कैलाश मन्दिर के अतिरिक्त राष्ट्रकूट काल में कला की अधिक उन्नति न हुई। डा० अल्टेकर का कथन है कि जिस प्रकार मौर्य, गुप्त और पल्लव राज्यो में कला का विकास हुआ राष्ट्रकूट कला की उन्नति के प्रति अपना योगदान करने मे विफल रहे।

राष्ट्रकूट शासन दक्षिण में ७३६ से लेकर ९७५ ई० तक लगभग सवा दो सौ वर्ष तक रहा। यह दक्षिण भारत के इतिहास का शोभनीय अध्याय है। अठारहवीं सदी मे मराठों से पहिले दक्षिण की किसी राज्यशक्ति ने भारत के इतिहास में ऐसा प्रमुख भाग नही लिया था। राष्ट्रकूट-वंश के ध्रुव, गोविन्द और इन्द्र तृतीय तीन ऐसे शासक हुए जिन्होने अपने विजय अभियान उत्तरी भारत के मध्य तक चलाये और भारत की राजनीतिक स्थिति को प्रभावित किया। कृष्ण तृतीय ने अपनी विजय वैजयन्ती धुर दक्षिण में रामेश्वरम् तक फहरायी।

राष्ट्रकूटों की विदेशी नीति भारत के अनुकूल सिद्ध न हुई। कान्यकुब्ज के प्रतीहार राजा राष्ट्रकूटों व अरबों के समान रूप मे शत्रु थे। प्रतीहारो से शत्रुता का प्रतिकार राष्ट्रकूटो ने अरबो से सन्धि करके किया। उन्होने अरबो को व्यापार सम्बन्धी अनेक सुविधायें प्रदान की। उन्होने उन्हें मस्जिद आदि मज़हबी स्थान बनाकर अपने धर्म के अनुसार जीवनयापन करने की अनेक सुविधायें देकर उनके पैर भारत मे जमा दिये। एक दृष्टि से उनकी यह नीति अदूरदर्शिता पूर्ण थी।

दक्षिण भारत का चोल साम्राज्य

चोल शब्द की उत्पत्ति 'चूल' से है जिसका अर्थ है भ्रमणशील। कुछ इतिहासकार तंजोर त्रिचनापल्ली और पुदुकोट्टा के प्रदेशों के सम्मिलित क्षेत्र को चोल मण्डल के नाम से पुकारते हैं। चोलमण्डल के अति प्राचीन इतिहास की विशेष जानकारी नही है। ईसा से एक शताब्दी पूर्व और तीन शताब्दी बाद तक एक चोल वंश दक्षिण भारत मे राज्य करता था जिसका कुछ काल

बाद पाण्ड्य तथा चेर वंश के शासन के विकास के कारण अन्त हो गया। दूसरी शताब्दी में राजा करिकाल बडा प्रतापी हुआ था। करिकाल ने उसके विरुद्ध बने पाण्ड्यो और चेरों के संघ को युद्ध में परास्त किया। उसने लंका पर भी चढ़ाई की और बारह हजार मनुष्यो को वहाँ से अपने राज्य में ले आया। करिकाल ने जनहित के भी अनेक कार्य किये। उसने वनों को साफ कराया तथा अनेक नहरों और तालावों का निर्माण कराके कृषि की उन्नति की। करिकाल के बाद इस राज्य पर पल्लवों तथा वातापी के चालुक्यों के निरन्तर आक्रमण होते रहे जिनके कारण यह राज्य पनप न सका। कई शताब्दियों तक उसमें कोई ऐसा सामर्थ्यशाली व्यक्तित्व भी नहीं हुआ जो इस राज्य का उत्कर्ष करता।

चोल राज्य की नये सिरे से नीव विजयालय के समय से पड़ी जो कि ८६४ ई० के लगभग राज्य का अधिपति हुआ। इससे पहिले चोल राजा पल्लवों के सामन्तो के रूप में थे। नवी शताब्दी में जब पल्लवों का ह्रास होने लगा तब चोल वंश को अपनी स्थिति दृढ करने का अवसर प्राप्त हुआ। सब से पहिले विजयालय ने चोल राज्य को पल्लवों की अधीनता से मुक्त किया और स्वतन्त्र राज्य की घोषणा की। विजयालय के राज्यकाल में पल्लवों का युद्ध चल रहा था। विजयालय ने तंजोर पाण्ड्यों से छीन कर अपने अधिकार में कर लिया और उसे अपनी राजधानी बनाया। विजयालय की मृत्यु ८७१ ई० में हुई।

आदित्य प्रथम (८८०—९४७ ई०)—विजयालय की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र आदित्य प्रथम चोलमण्डल का स्वामी बना। उसके राज्य-काल में पाण्ड्यराज वरगुणवर्मन् द्वितीय ने चोलों पर आक्रमण कर दिया। आदित्य प्रथम ने पल्लवों और गंगो के साथ चोलों का संघ बनाकर पाण्ड्यों का सामना किया। इस युद्ध में संघ विजयी हुआ। इस विजय मे आदित्य प्रथम का महान् योगदान था, अतः पल्लव नरेश नृपतुंग वर्मन् ने प्रसन्न होकर आदित्य प्रथम के उस राज्य में जो उसे अपने पिता से मिला था कुछ प्रदेश और मिला दिये।

सन् ८९५ ई० के लगभग आदित्य प्रथम ने पल्लव-राज अपराजित वर्मा को परास्त कर कांची पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इससे उसके राज्य की सीमाएँ राष्ट्रकूटो की राज्य-सीमाओ से जा मिलीं। उसने तलकाड के गग राज्य पर भी आक्रमण कर गगों को परास्त किया और उन्हे अपने अधीनस्थ सामन्त बनने पर बाध्य किया। वह शैव था, उसने अनेक शिव मन्दिरों का निर्माण कराया।

परान्तक प्रथम (९०८ —९४९)—आदित्य की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र परान्तक चोल राज्य के सिंहासन पर बैठा। उसने मदुरा के पाण्ड्यों पर चढ़ाई की और उन्हें परास्त किया। लंका की ओर भी उसने अपना सैनिक अभियान अग्रसर किया लेकिन इसमें उसे सफलता न मिली। परान्तक ने पल्लवों पर ऐसा घातक प्रहार किया कि वह उनके लिए अन्तिम सिद्ध हुआ। उसके बाद उन्होने फिर कभी उठने का साहस न किया।

परान्तक को शीघ्र ही राष्ट्रकूटो के रूप में एक नये शत्रु का सामना करना पड़ा। राष्ट्रकूट वास्तव मे दक्षिण पथ के स्वामी थे, उन्हें चोलो की बढ़ती हुई शक्ति असह्य थी। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय (९४०—९६८) ने चोलो पर चढाई कर दी और काची पर अपना अधिकार जमा लिया। तजोर पर भी आक्रमण कर उसे जीता और 'तोडमण्डलम्' की उपाधि धारण की। इस युद्ध मे परान्तक का पुत्र युवराज राजादित्य मारा गया। राष्ट्रकूटो के उत्थान के कारण चोलो की प्रगति कुछ मन्द सी पड़ गई। राष्ट्रकूट-विजयो ने उनकी स्थिति अधीनस्थ सामन्तो की सी कर दी। ९५५ ई० में परान्तक की मृत्यु हो गई।

राजराज प्रथम (९८५—१०१२)—परान्तक की मृत्यु के बाद तीस वर्ष तक अराजकता रही। ९८५ ई० मे राजराज प्रथम गद्दी पर बैठा। इस समय राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण हो रही थी। चालुक्य वंश ने राष्ट्रकूटो का अन्त करके कल्याणी में अपनी राजधानी स्थापित कर ली थी। वास्तव मे इस अवसर का जब कि दक्षिणापथ में सत्ता का एक राजवश से दूसरे राजवश को हस्तांतरण हो रहा था राजराज प्रथम ने पूरा लाभ उठाया और चोल राज्य का विस्तार किया। सर्व प्रथम उसने पाण्ड्यों की राजधानी मदुरा पर विजय प्राप्त कर पाण्ड्य राजा अमरभुजग को बन्दी बनाया। उसने चेर राज्य पर भी आक्रमण कर चेरों की सेनाओ को त्रिवेन्द्रम के निकट हराया। पाण्ड्यों के मित्र राज्य लंका पर भी उसने आक्रमण किया और वहाँ के राजा महेन्द्र पंचम को परास्त किया। परिणामस्वरूप लंका का राजा अनुराधापुर से भाग गया और राजराज ने उत्तरी लंका पर भी विजय प्राप्त करके लका के एक नगर में अपनी राजधानी बनाई और वहाँ एक शिव मन्दिर बनवाया।

इसके बाद उसने गग प्रदेश पर आक्रमण कर दिया और सम्भवत: ९९१ ई० में उस पर भी विजय प्राप्त की। फिर राजराज का चालुक्यों से युद्ध छिड गया। चालुक्यों की दो शाखाएँ थीं। पश्चिमी शाखा का राज्य नर्मदा और तुङ्गभद्रा नदियों के बीच के प्रदेश पर था जिस की राजधानी मान्यखेट

थी। उस समय वहाँ तैल द्वितीय का पुत्र सत्याश्रय राज्य करता था। चोल सेना ने सत्याश्रय को परास्त किया और कुछ समय के लिये उसकी राजधानी कल्याण पर राजराज का अधिकार हो गया। परन्तु यह एक अस्थायी विजय अभियान के अतिरिक्त कुछ सिद्ध न हुआ, कारण सत्याश्रय ने थोड़े ही काल बाद चोल सेना को निकालकर अपना आधिपत्य पुनः स्थापित कर लिया। चालुक्यों की पश्चिमी शाखा से युद्ध के उपरान्त राजराज ने पूर्वी शाखा पर चढ़ाई कर दी। चालुक्य राजवंश की पूर्वी शाखा वेंगी के प्रदेश पर राज्य करती थी। चालुक्य राजा शक्ति वर्मा के साथ कई बार युद्ध हुए। शक्तिवर्मा के पुत्र व उत्तराधिकारी विमलादित्य ने निरन्तर युद्धों से हताश होकर राजराज से सन्धि कर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। राजराज ने अपनी मैत्री उससे दृढ़ करने के लिए अपनी पुत्री का विवाह विमलादित्य के साथ कर दिया। उसने कलिंग राज्य पर भी विजय प्राप्त की और एक अभिलेख के अनुसार तो उसने माल द्वीप पर भी अधिकार कर लिया।

राजराज एक महान् प्रतापी और शक्तिशाली राजा था। उसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की और अपने राज्य का विस्तार किया। उसकी विशाल नौ सेना के कारण उसके राज्य की समुद्री शक्ति भी दृढ़ थी। उसने अपने अधीन एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया जिसमें समस्त दक्षिण भारत, माल द्वीप द्वीपसमूह और लंका का कुछ भाग सम्मिलित थे। उसने विद्या और कला का उन्नयन किया। सन् १००० ई० में उसने भूमि का सर्वेक्षण कराया। स्थानीय स्वायत्त शासन उसके राज्य की विशेषता थी जिसकी उन्नति की ओर उसने बहुत ध्यान दिया। तंजोर में राजेश्वर का मन्दिर बनवाया जो उसके गौरव का सर्वोत्कृष्ट स्मृति चिह्न है। उसके दरबार में अनेक विद्वानों को आश्रय प्राप्त था। राजराज एक महान् विजेता और साम्राज्य निर्माता था। उसके समय मे चोल राज्य की बड़ी उन्नति हुई। उसने अनेक शिव मन्दिर और विष्णु मन्दिर बनवाये।

राजेन्द्र प्रथम (१०१२—१०४४ ई०)—राजराज महान् के पश्चात् उसका पुत्र राजेन्द्र प्रथम चोलराज्य के सिंहासन पर बैठा। यह चोलवंश का सबसे प्रतापी राजा था। उसके समय में चोल राज्य की बड़ी उन्नति हुई। पहिले उसने लंका पर चढ़ाई कर दी और उसका पूर्ण रूपेण अपने राज्य मे विलय कर लिया। उसके बाद उसने पाण्ड्यों पर भी अपनी स्थिति दृढ़ करके उन पर अपने पुत्र जयवर्मा को शासक नियुक्त कर दिया। पश्चिमी चालुक्य राजा जयसिंह जगदेवमल्ल से उसके अनेक युद्ध हुए जिनमे जयसिंह की

हार हुई। इसके बाद उसने पूर्वी भारत पर अपना विजय अभियान आरम्भ कर दिया। चोल सेना गोदावरी, बस्तर और उडीसा होकर पश्चिम बंगाल पहुँची। जिन राज्यों ने चोल सेना के हाथ पराजय स्वीकार की उनमें कलिङ्ग, दक्षिण कोनाल दण्डमुक्ति, राढ, पूर्वी बंगाल और गौड सम्मिलित हैं। इसके बाद महीपाल प्रथम से युद्ध करने के लिए सेना ने गंगापार किया। सैनिकों ने महीपाल को परास्त कर गङ्गा जल पिया। अभिलेखों से विदित है कि विजित राजागण अपने सिरों पर रखकर गङ्गाजल लाये जिसको राजेन्द्र प्रथम ने एक सरोवर मे डलवा दिया और उस सरोवर का नाम चोल गगम् रक्खा। इस विजय के बाद उसने 'गगे चोल कोंड' की उपाधि धारण की।

राजेन्द्र प्रथम ने वर्मा और मलाया प्रायद्वीप के अनेक द्वीपो पर भी विजय प्राप्त की। वहाँ पर उस समय राजा संग्राम विजयोत्तुंग वर्मा राज्य करता था। चोल राजाओ ने सुदूर देशो में भारत के व्यापार को बढाने की दृष्टि से शक्तिशाली नौ सेना का निर्माण किया और अपने राज्य का विस्तार बर्मा, मलाया प्रायद्वीप, अण्डमान, निकोबार, लंकाद्वीप, मालद्वीप तक बढ़ाया।

राजेन्द्र प्रथम के समय मे लका, पाण्ड्य और चेर प्रदेशो मे विद्रोह हुए परन्तु उसने सबको दबा दिया। उसने गंगई-कोण्ड चोलपुरम् को अपनी राजधानी बनाया। चीनी सम्राट से मैत्री उसकी विदेशी नीति का एक खास अङ्ग थी। उसने वैदिक पद्धति के अनुसार एक विद्यालय स्थापित किया। राजेन्द्र प्रथम की १०४४ ई० में मृत्यु हुई।

राजाधिराज प्रथम (१०४४—१०५२ ई०)—राजेन्द्र प्रथम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र राजाधिराज राज्य सिंहासन पर बैठा। उसके राज्य-काल में पाण्ड्य, चेर और लका के राज्यो में फिर उपद्रव और विद्रोह हुए, परन्तु चोलराज ने उनको निर्दयता पूर्वक दबा दिया। उसका चोलों के पुराने शत्रु कल्याणी के पश्चिम चालुक्यों से फिर युद्ध हुआ परन्तु अब की बार चोल सेना को सफलता न मिली और राजाधिराज युद्ध मे ही परलोक सिधारे। यह युद्ध चालुक्य राजा सोमेश्वर से हुआ था। राजाधिराज के भाई राजेन्द्र द्वितीय ने युद्ध जारी रक्खा और अन्त में राजेन्द्र द्वितीय की विजय हुई। एक अभिलेख से विदित होता है कि इसके फलस्वरूप राजेन्द्र द्वितीय ने अनेक सामन्तो, सेनापतियों और महारानियो को बन्दी बनाया।

राजेन्द्र द्वितीय (१०५२—१०६३ ई०)—इसका राज्यभिषेक युद्ध भूमि में ही हुआ। राजेन्द्र द्वितीय के समय में चोल—चालुक्य संघर्ष बना रहा। १०६१ मे चालुक्यों की पश्चिमी शाखा के राजा सोमेश्वर ने वेंगी के

पूर्वी चालुक्य राजा की मृत्यु पर शक्तिवर्मन् द्वितीय को वेंगी के सिंहासन पर आसीन किया। उसने एक सेना गंगवड़ी प्रदेश को जो चोल साम्राज्य के अन्तर्गत था विजय करने के हेतु भेजी। घोर युद्ध हुआ और चालुक्य पराजित हुए, उनके सेनापति चामुण्डराज और वेंगी के राजा शक्ति वर्मन् दोनो वीरगति को प्राप्त हुए। राजेन्द्र द्वितीय ने लंका पर भी पुनः चढ़ाई की और उसको चोलों के अधिकार से न निकलने दिया।

वीर राजेन्द्र (१०६३—१०७०)—राजेन्द्र द्वितीय के बाद उसका छोटा भाई वीर राजेन्द्र सिंहासनारूढ़ हुआ। १०६६ ई० में वीर राजेन्द्र ने अपने पुराने शत्रु चालुक्यराज सोमेश्वर को पराजित किया। इसके बाद कुण्डलं संगम् के निकट दूसरा युद्ध हुआ। पराजय के बाद पराजय से तंग आकर चालुक्यराज सोमेश्वर ने तुंगभद्रा में डूबकर आत्महत्या कर ली। सोमेश्वर प्रथम के बाद उसका पुत्र सोमेश्वर द्वितीय चालुक्य राजा हुआ। वीर राजेन्द्र का उससे भी युद्ध जारी रहा। सोमेश्वर द्वितीय के छोटे भाई विक्रमादित्य ने भी अपने बड़े भाई से युद्ध आरम्भ कर दिया। वीर राजेन्द्र ने कूटनीतिक चाल चलकर विक्रमादित्य से मैत्री कर ली और अपनी पुत्री का उसके साथ विवाह कर दिया। विक्रमादित्य को दक्षिण का राजा बना दिया गया। वेंगी के राजा विजयादित्य ने वीर राजेन्द्र से सन्धि कर ली।

वीर राजेन्द्र ने पाण्ड्यों और चेरों का भी दमन किया। १०७० ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

अधिराजेन्द्र (१०७०)—वीर राजेन्द्र की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अधिराजेन्द्र चोलराज्य का स्वामी बना। राजेन्द्र द्वितीय से उसका उत्तराधिकार के लिये संघर्ष हुआ। वेंगी के पूर्वी चालुक्य राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी राजेन्द्र द्वितीय ही था परन्तु वीर राजेन्द्र ने उसकी अवज्ञा करके विजयादित्य सप्तम को राजा बना दिया। राजेन्द्र द्वितीय ने जनता को भड़का कर विद्रोह करा दिया। इस विद्रोह को दबाने की प्रक्रिया में अधिराजेन्द्र की मृत्यु हो गई। राजेन्द्र द्वितीय ने वेंगी और चोल दोनों राज्यों की सत्ता हथिया ली और कुलोत्तुंग के नाम से अपने को चोल सम्राट घोषित कर दिया।

कुलोत्तुंग प्रथम (१०७०—१११२)—राजेन्द्र द्वितीय ने जिसने कि अपना अभिषेक कुलोत्तुंग प्रथम के नाम से कराया था चोल और वेंगी के राज्यों को मिलाकर एक कर दिया। यह उसका महत्वपूर्ण कार्य था। उसके समय पश्चिमी चालुक्य राज्य दो भागों में विभक्त था। उत्तरी भाग पर

सोमेश्वर द्वितीय का राज्य था और दक्षिण के भाग का राजा विक्रमादित्य था। ये दोनो एक दूसरे के शत्रु थे। कुलोत्तु ग ने सोमेश्वर द्वितीय को अपनी तरफ मिलाकर विक्रमादित्य पर आक्रमण कर दिया और उसे युद्ध में हरा कर गंगवड़ी पर अपना अधिकार जमा लिया। लंका के राजा विजयबाहु ने विद्रोह कर दिया। उसने चोल सेना को लका से निष्कासित कर दिया। १०७२ ई० में विजयबाहु ने लका को स्वतन्त्र राज्य घोषित कर दिया। कुलोत्तुग ने लंका के एक राजकुमार से अपनी पुत्री का विवाह कर विजयबाहु से मित्रता कर ली।

पाण्ड्य-चेरों के विद्रोहो को भी कुलोत्तुङ्ग ने दबा दिया और उनके राज्यों मे उपनिवेश बनवाये। कुलोत्तुङ्ग को त्रिपुरी के हैहय नरेश से भी युद्ध करना पड़ा। हैहय नरेश यशः कर्णदेव ने चोलो के अधीन वेंगी पर आक्रमण कर दिया परन्तु वह कुलोत्तुङ्ग की सेनाओं से पराजित हुआ।

कलिगराज्य ने कर देना बद कर दिया था। चोल सेना ने कलिग पर दूसरा आक्रमण कर कलिग सेना को पराजित किया।

कुलोत्तुङ्ग के अन्तिम ४, ५ वर्ष असफलता के थे, होयसल के नृपति विष्णुवर्द्धन ने चोल साम्राज्य के कई प्रदेशो जैसे गंगवडी, नोलम्बवडी और तलकाड पर अपना अधिकार जमा लिया। होयसल नरेश ने रामेश्वरम् तक विजय यात्रा की। लगभग १११८ ई० में विक्रमादित्य षष्ठम ने वेंगी पर अधिकार कर लिया।

कुलोत्तुङ्ग एक महान् प्रशासक था। उसने दो बार भूमि की नपत कराई। उसकी राजधानी गगई कोंड चोलपुरम् रही, उसके लम्बे शासन-काल मे जनता सुखी एव समृद्ध थी। वह अनावश्यक युद्धो से विमुख रहा। उसका विदेशो से अच्छा सम्बन्ध रहा। १०७७ ई० मे उसने ७२ व्यापारियो को चीन भेजा और चीन से अनेक उपहार तथा व्यापारिक वस्तुओ का आदान प्रदान किया।

विक्रमचोल (११२२—११३५ ई०)—कुलोत्तुङ्ग का पुत्र विक्रमचोल था, जो ११२२ ई० मे चोलराज्य का स्वामी हुआ। वह शीघ्र ही वेंगी राज्य को चोल साम्राज्य के अन्तर्गत ले आया। गगवडी के कुछ भाग पर उसने पुनः अधिकार कर लिया। उसने 'अकलक' और 'त्यागसमुद्र' की उपाधियां धारण की। ११२५ ई० के लगभग उसके साम्राज्य के कुछ प्रदेश मे भीषण अकाल पडा। उसने चिदम्बरम् मे नटराज के मन्दिर का विकास किया। इसकी ११३५ ई० में मृत्यु हो गई।

कुलोत्तुंग द्वितीय (११३५—११५० ई०)—इसका शासन शान्तिपूर्ण रहा। कुलोत्तुंग द्वितीय ने नटराज मन्दिर का सम्वर्द्धन कराया। धार्मिक दृष्टि से इसमें कुछ असहिष्णुता पाई जाती है। इसने नटराज मन्दिर के प्रांगण से गोविन्द देव की मूर्ति हटवा कर समुद्र में डलवा दी। कहते हैं रामानुजाचार्य ने इसे प्राप्त कर तिरुपती में प्रतिष्ठापित कराया।

राजराज द्वितीय (११५०—११७३ ई०)—यह कुलोत्तुंग द्वितीय का पुत्र था। इसके शासनकाल में पाण्ड्य राज में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर पराक्रम पाण्ड्य और कुलशेखर पाण्ड्य में युद्ध छिड़ गया। लंका के राजा पराक्रम बाहु प्रथम ने यह देखकर कि पराक्रम पाण्ड्य गृह युद्ध में खेत रहा उसके पुत्र वीर पाण्ड्य को सिंहासन पर बिठाने के लिए सेना भेजी। कुलशेखर ने चोलराज कुलोत्तुंग द्वितीय से सेना सहायता मांगी। चोल सेना ने लंका की सेना को पराजित कर वीर पाण्ड्य को अपदस्थ किया और कुलशेखर को पाण्ड्यों के राजा के रूप मे अभिषिक्त किया।

राजाधिराज द्वितीय (११७३—११७८ ई०)—इसके शासनकाल मे पाण्ड्य गृह युद्ध फिर छिड़ गया। इस बार लंकाधिपति पराक्रमबाहु ने कुलशेखर को अपनी तरफ कर चोलराज के विरुद्ध सन्धि कर ली। राजाधिराज द्वितीय ने भी अपनी नीति मे परिवर्तन कर दिया और पाण्ड्य का पक्ष ग्रहण कर कुलशेखर के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। कुलशेखर युद्ध में पराजित हुआ। चोल सेना ने वीर पाण्ड्य को उसके स्थान पर पाण्ड्यों का राजा बनाया। इस प्रकार राजाधिराज ने पाण्ड्य देश को लंका के अधीन होने से बचाया। राजाधिराज की ११७८ में मृत्यु हो गई।

कुलोत्तुंग तृतीय (११७८—१२०६ ई०)—इसके समय में पाण्ड्य गृह युद्ध फिर भड़का। पराक्रम बाहु ने अबकी बार कूट-नीति की दूसरी चाल चली। उसने वीर पाण्ड्य को अपनी ओर मिला लिया। कुलोत्तुंग तृतीय ने निकट सम्बन्धी विक्रम पाण्ड्य का पक्ष समर्थन किया और पराक्रम बाहु की सेनाओं को पराजित करके मदुरा के सिंहासन पर विक्रम को आसीन किया। संघर्ष के उपरान्त वीर पाण्ड्य ने आत्म समर्पण कर दिया और उसे क्षमा कर दिया गया। कुलोत्तुंग तृतीय ने उसे थोड़ी भूमि भी दे दी।

कुलोत्तुंग तृतीय ने होयसलों की शक्ति को नियन्त्रण में रक्खा। उसने पीछे होयसल नरेश बल्लाल द्वितीय से सम्बन्ध अच्छे कर लिये और उसके साथ एक राजकन्या का विवाह कर दिया।

कुलोत्तुंग अन्तिम महान् चोल सम्राट था। वह कला प्रेमी था। त्रिभुवन मन्दिर का निर्माण उसका एक महत्वपूर्ण कार्य था। उसने अनेक विद्रोहो का दमन किया।

राजराज तृतीय (१२०६—१२४६ ई०)—इसके राज्य में चोल शासन सूत्र निर्बल हो गया। चोल राज्य पर विद्रोहो के रूप में अनेक आपत्तियाँ आईं। पाण्ड्यो ने आक्रमण किये जिनमें राजराज तृतीय बन्दी हो गया। उसको होयसल नरेश नरसिंह द्वितीय की सहायता से मुक्ति मिली। एक सामन्त कोप पेरु जिग ने भी चढ़ाई करके राजराज तृतीय को बन्दी बना लिया परन्तु इस बार नरसिंह द्वितीय के हस्तक्षेप से ही उसे स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। इस प्रकार दैवदुर्विपाक से चोलराज्य होयसलों के आश्रित रूप में हो गया।

राजेन्द्र तृतीय (१२४६—१२७१ ई०)—यह अन्तिम स्वतन्त्र शासक था। इसके राज्य मे ही विघटन आरम्भ हो गया। सब सामन्त स्वतन्त्र हो गये। पाण्ड्य राजा जयवर्मन सुन्दर पाण्ड्य ने युद्ध मे उसको परास्त करके बन्दी बनाया और अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया। १२५८ ई० से १२७९ ई० तक उसने पाण्ड्यों के अधीन सामन्त रूप से राज्य किया। इस प्रकार स्वतन्त्र चोल राज्य का अन्त हो गया।

प्राचीन भारत के उपनिवेश (१)

प्राचीन-काल में भारत के दक्षिण और दक्षिणपूर्व मे औपनिवेशिक विस्तार हुआ। गंगा के मुहाने से कुमारी अन्तरीप तक पत्तनों की एक शृङ्खला थी। भारतीय पत्तन पलुरा से जो वर्तमान गन्जम के निकट था मलय प्रायद्वीप को सीधा समुद्री मार्ग था। पुराणों में आठ द्वीपों का उल्लेख है। वामन पुराण में स्पष्ट लिखा है—

इन्द्रद्वीप कसेरुच ताम्रपर्णोगभस्तिमान् ।
नागद्वीपः कटाहश्च सिंहलो वारुणस्तथा ॥

इन्द्रद्वीप, कसेरु, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, कटाह, सिंहल और वारुण ये आठों द्वीप थे। इन्द्रद्वीप आधुनिक अण्डमान, नागद्वीप नीकोबार, कटाह केड़ा, सिंहल सीलोन, वारुण बोर्नियो, सुवर्णद्वीप सुमात्रा, यवद्वीप जावा बर्निद्वीप वाली सुवर्ण भूमि बर्मा को कहते थे।

श्री लङ्का

सबसे पहिले लङ्का में पदार्पण करने वाले आर्य नेता राम थे। इसका उल्लेख वाल्मीकि रामायण मे है। राम के बाद कई शताब्दियो का कोई इतिहास उपलब्ध नही है। गुजरात प्रान्त के अन्तर्गत सिंहपुर के राजकुमार विजय ने अपने सात सौ साथियो के साथ लङ्का में प्रवेश किया। वह समुद्री मार्ग से लङ्का मे आया था। लङ्का पर आकर उसने वहाँ अपना अधिकार कर लिया और अपने पिता महाराज सिंहबाहु के नाम पर उस द्वीप का नाम सिंहल रखा। कहते हैं विजय का लङ्का मे प्रवेश बुद्ध की परिनिर्वाण तिथि के दिन ही हुआ था।

- वाल्मीकि रामायण के अनुसार लङ्का के आदिवासी राक्षस थे जिनकी बड़ी उच्च सभ्यता थी और उनका सम्राट रावण बड़ा पराक्रमी और समृद्धिशाली था। सिंहली वृत्तो के आधार पर कथनो का सार यह है कि यहाँ के निवासी यक्ष और नाग थे। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के उपलब्ध साक्ष्यो मे कोई विशेष अन्तर नही है।

विजय की इस यात्रा के सम्बन्ध मे अनेक लोक कथायें प्रचलित हैं। कहते हैं विजय और उसके साथी ऐसे नक्षत्र मे जन्मे थे कि उन्हें कोई न कोई अद्भुत कार्य करना ही बदा था। उनकी गतिविधियाँ महाराज सिंहबाहु को अच्छी न लगी और उसने एक जहाज में विजय को उसके सात सौ साथियो सहित बैठा दिया। उन लोगो में कुछ अच्छे नाविक भी थे और यही कारण था कि वे समुद्री मार्ग को तय करके लङ्का पहुँचे। लङ्का में उस समय यक्ष लोग रहते थे जिनकी रानी ने एक बार तो प्रतिरोध करने की ठानी परन्तु वह विजय को देखकर उस पर आसक्त हो गई और राजपाट उसको समर्पित करके उससे विवाह का प्रस्ताव किया था। विजय ने उसके साथ विवाह तो किया परन्तु उसके साथियो ने अन्य यक्षकुमारियों के साथ विवाह करने से इन्कार कर दिया। फलतः विजय ने पाण्ड्य नरेश से भारतीय लड़कियाँ भेजने का अनुरोध किया। कहते हैं पाण्ड्य नरेश ने एक राजकुमारी सहित ७०० लड़कियो को लङ्का विजय और उसके साथियों के साथ विवाह हेतु भेज दिया।

विजय ने ३८ वर्ष राज्य किया। उसने ताम्रपर्णी नगरी बसाई और उसी को अपनी राजधानी बनाया। उसके साथियो ने भी अनुराधापुर, उज्जयिनी, उरुवेला आदि नगर बसाये। मालुम होता है विजय और उसके साथी कट्टर हिन्दू थे, उन्होंने बौद्ध धर्म अङ्गीकार नही किया था। परन्तु उनके

कुछ ही समय बाद लङ्का में बौद्ध धर्म का प्रवेश हो गया। अशोक के काल में राजा तिष्य ने बहुत से उपहारों के साथ एक शिष्ट मण्डल अशोक के समीप भेजा। अशोक ने अपने अनुज महेन्द्र को बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ लङ्का भेजा। स्त्रियों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने को संघमित्रा को भेजा, वह अपने साथ बोधिवृक्ष की शाखा ले गई थी जिसका कि लङ्का में बड़ा स्वागत हुआ। उस शाखा से एक वृक्ष प्रस्फुटित हुआ जो आज भी विद्यमान है।

महेन्द्र के विषय में भी बडी रोचक कथायें प्रचलित हैं। एक कथा के अनुसार महेन्द्र अशोक का पुत्र था जो कि वेदिसागिरी के एक व्यापारी की कन्या देवी से उत्पन्न हुआ था। अशोक ने यह अवैध विवाह उस समय किया था जब वह अपने पिता बिन्दुसार के राज्य काल में उज्जयिनी का शासक था। अशोक के उत्तराधिकार ग्रहण करने पर तो देवी अपने पिता के पास उज्जैन में ही रही परन्तु उसकी सन्तान अशोक द्वारा पाटलिपुत्र ले जाई गई। महेन्द्र ने आरम्भ से ही धार्मिक वृत्ति दिखलाई और वह एक बौद्ध भिक्षु हो गया।

इसके विपरीत अन्य भारतीय लोक कथा के आधार पर महेन्द्र को अशोक का अनुज बताया जाता है और यह भी कहा जाता है कि अपनी युवावस्था मे महेन्द्र का चाल-चलन बहुत खराब था। उसके विरुद्ध जघन्य अपराधों की एक सूची बन गई थी। उन शिकायतों के आधार पर जो उसके विरुद्ध सम्राट अशोक के पास पहुँचाई गई थी महेन्द्र को प्राणदण्ड दिया जा सकता था। अशोक ने महेन्द्र से कहा, "यदि मैं तुम्हारे बध किये जाने की आज्ञा देता हूँ तो मेरी प्रतिज्ञा टूटेगी और पितरो की दृष्टि में मैं दोषी ठहराया जाऊँगा और यदि तुम्हे छोड़ता हूँ तो यह न्याय का गला घोटना होगा और जनता में मेरा अपयश होगा, अतः तुमको सात दिन का कारावास दिया जाता है इसमे तुम अपने लिये खूब सोच विचार लो।" कहते हैं उस एकान्त, अन्धकार पूर्ण कोठरी मे प्रतिदिन उससे द्वारपाल कहता कि अब उसके जीवन-काल में से एक दिन और घट गया और अपनी मृत्यु को सन्निकट जान महेन्द्र को पश्चात्ताप हुआ और उसने बुद्ध की शरण मे जाने का निश्चय किया। सातवें दिन वह 'अर्हत' हो गया था और सब कुछ त्याग कर हिमालय पर जाने को तैयार था। अशोक ने उने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए उपयुक्त समझ कर धर्म विजय अभियान पर भेजा। वह दक्षिण भारत के प्रदेशों मे होता हुआ लङ्का पहुँचा था। एक मत तो यह है कि उसने स्थल मार्ग से जाना इसलिए पसन्द किया कि वह अन्तिम बार उज्जयिनी मे अपनी माता के

दर्शन करके ही समुद्र यात्रा करना चाहता था। दूसरा मत यह है कि धर्म के प्रचार और अनेक विहारों की स्थापना की दृष्टि से ही वह स्थल मार्ग से लङ्का को गया था।

महेन्द्र ने तिष्य को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। तिष्य ने महेन्द्र और उसके साथ भिक्षुओं के लिए महा बिहार उद्यान में एक मठ बनवाया। तिष्य ने अपने लिए भी देवानाम्प्रिय की उपाधि धारण की।

विजय के वंशजो ने कई शताब्दियों तक राज्य किया। चोलो से यहाँ के राजाओं का जो संघर्ष हुआ उसका विवरण चोल राजाओं के वृत्तान्त मे आया है। चोल आधिपत्य से मुक्त कराने वाला राजा था विजयबाहु जिसने सन् १०७० ई० में चोलों को पराजित किया। उसके बाद पराक्रम बाहु बड़ा प्रभावशाली राजा हुआ। उसने ११५३ से ११८६ ई० तक राज्य किया। उसने अनेक भवनों और बिहारों का निर्माण किया और बौद्ध धर्म का पुनर्गठन किया।

हिंद चीन

जैसा कि इस प्रदेश के नाम से ही विदित है इसमें भारतीय और चीनी सभ्यताओं और सस्कृतियों का सम्मेलन हुआ। यहाँ आकर भारतीय राजकुमारों ने ईसा की पहिली या दूसरी शताब्दी में राज्यो की स्थापना की। यह पता नही चलता कि भारतीयो ने पहिले हिन्द चीन मे राज्य स्थापित किया अथवा दक्षिणी बर्मा, मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा आदि मे। परन्तु चीनी लेखको और शिला लेखो से जो इन्ही क्षेत्रों में प्राप्त हुए थे यही तथ्य स्थिर होता है कि भारतीयों ने पहिले दक्षिणी बर्मा, मलय, सुमात्रा, जावा आदि में ही राज्य स्थापित किये और हिन्द चीन मे बाद को।

चीनी लेखों से पता चलता है कि ईसवी सन् की पहली शती मे हिन्द चीन में फूनान नामक एक महत्त्व पूर्ण राज्य था। यहाँ पहिले कौण्डिन्य नामक एक भारतीय ब्राह्मण ने अपना राज्य स्थापित किया। कौण्डिन्य का यहाँ की रानी से युद्ध हुआ। परन्तु जब कौण्डिन्य के प्रहार से रानी की नाव डूबने लगी तो कौण्डिन्य ने स्वयं डूबती हुई रानी को बचाया। रानी उस पर आसक्त हो गई और दोनों का विवाह हो गया। कौण्डिन्य एक महान् राज्य-निर्माता के रूप मे प्रसिद्ध हुआ। कम्बोडिया, चम्पा तथा जावा सुमात्रा और बोर्निओ के कुछ राजवंश कौण्डिन्य को ही अपना पूर्व पुरुष मानते थे। एक किम्बदन्ती यह भी है कि कौण्डिन्य की उत्पत्ति द्रोण पुत्र अश्वत्थामा के वंश मे हुई थी। एक मान्यता यह भी है कि कौण्डिन्य पह्लव वंशी था। यह

निर्विवाद है कि कौण्डिन्य इस देश में सभ्यता लाया। पहिले यहाँ के निवासी यहाँ तक रानी भी नगे रहते थे। कौण्डिन्य ने रानी को एक ऐसा वस्त्र पहिनाया जिसमे होकर सिर ऊपर निकलता था और उस वस्त्र से सिर के नीचे का सारा भाग ढका रहता था।

कौण्डिन्य के उत्तराधिकारी भी प्रभावशाली हुए। एक उत्तराधिकारी के शासन काल मे भारत से दूत मण्डल आया था। २४० ई० मे उसने बदले मे अपने दूतो को भारतीय राज्यो मे भेजा था। चीनी लेखको ने फूनान और उसके निवासियो का तत्कालीन वृत्तान्त लिखा है जो बडा रोचक है। वे लिखते हैं—"राज्य के नगरो के चारो ओर दीवारे थी। राजा और सामन्तगण महलो में रहते थे। निवासी बदशक्ल, कृष्ण वर्ण, अस्त-व्यस्त केशो से युक्त तथा नग्न रहा करते थे। उनके व्यवहार मे कुछ असभ्यता थी परन्तु वे चोरी नही करते थे। वे पुराने ढङ्ग से खेती करते थे। वे चित्ते हुए आभूषण पहिनते थे। उनके भोजन के बहुत से बर्तन चांदी के बने होते थे। करो की अदायगी सुवर्ण, चांदी, मोती और सुगन्धियो मे की जाती थी। उनके पास पुस्तके और सग्रहालय भी थे। उनकी लिखावट मध्य एशिया के लोगों की भाषा को भारतीय लिपि मे लिखने के समान थी। ऐसा प्रतीत होता है कि फूनान मे ईसा से पहिली सात शताब्दियो मे बौद्ध धर्म का प्रचार था और सातवी शती मे हिन्दू धर्म का प्रचार हो गया।

फूनान मे भारतीय सस्कृति का खूब विकास हुआ। एक चीनी लेखक के अनुसार वहाँ एक हजार से अधिक ब्राह्मण रहते थे। वहाँ के लोग ब्राह्मणो के उपदेशों का पालन करते थे और उनको विवाह में अपनी पुत्रियाँ अर्पित करने को तत्पर रहते थे। वे ब्राह्मण अहर्निश अध्ययन करते थे।

कम्बुज राज्य सातवी शताब्दी मे भववर्मा नामक राजा के समय मे पनपा। भववर्मा के उत्तराधिकारी महेन्द्र वर्मा ने फूनान पर चढाई करके उसके बहुत बडे भाग को जीत लिया। उस समय कम्बुज राज्य मे वर्तमान सम्पूर्ण कम्बोडिया तथा कोचिन चीन सम्मिलित था। उसने ईशानपुर नामक एक नवीन नगर की स्थापना की। इस वश का अन्तिम राजा जयवर्मा प्रथम था जिसने ६८१ ई० तक राज्य किया। आठवी शताब्दी में कम्बुज पर जावा नरेश का अधिकार हो गया। परन्तु नवी शताब्दी के आरम्भ मे जयवर्मा द्वितीय ने कम्बुज को पुनः स्वतन्त्र करा दिया और शक्तिशाली बनाया। उसने ५० वर्ष से भी अधिक समय तक राज्य किया, कई बार अपनी राजधानी को बदला और हिरण्य दाम नामक ब्राह्मण को बुला कर देश की सुरक्षा के लिए

तान्त्रिक अनुष्ठान करवाया। उसके पुत्र जयवर्मा तृतीय ने राज्य को बढाया और उसे साम्राज्य का रूप दिया।

जयवर्मा तृतीय के बाद इन्द्र वर्मा ने ख्याति प्राप्त की और एक नया वंश चलाया। उसका पुत्र यशोवर्मा ८८९ ई० में राज्य सिंहासन पर बैठा। उसने यशोधरपुर नामक एक नगर बसाया जिसे उसने अपनी राजधानी भी घोषित किया। यशोवर्मा एक वीर योद्धा तो था ही वह स्वयं महान् विद्वान् और दूसरे विद्वानों का आश्रय दाता था। उसके समय में कलाओ और विद्या की बड़ी उन्नति हुई। उसने पतञ्जलि के महाभाष्य पर एक टीका लिखी थी। उसमे धार्मिक सहिष्णुता भी अगाध थी। शैव होते हुए भी वह बौद्ध धर्म के प्रचार में कभी बाधक सिद्ध न हुआ।

यशोवर्मा का वंश कई पीढ़ियो तक चलता रहा। सन् १०१० ई० मे सूर्य वर्मा प्रथम कम्बुज के राज्य सिंहासन पर बैठा। वह विद्वान् था और काव्य, धर्म शास्त्र और दर्शनो के गहन अध्ययन मे रुचि लेता था। उसने सम्भवत: बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया था।

सन् १११३ ई० में सूर्य वर्मा द्वितीय कम्बुज का राजा हुआ। उसने सम्पूर्ण कम्बुज राज्य का एकीकरण किया। उसके राज्य मे दक्षिण वर्मा और मलय का उत्तरी भाग सम्मिलित था। उसने चीन में दो दूत मण्डल भेजे। उसकी सेना में कहते हैं दो लाख हाथी थे। उसने अपने गुरु दिवाकर के आचार्यत्व में कोटिहोम, लक्षहोम, महाहोम आदि अनेक यज्ञ सम्पन्न किये। अङ्कोरवाट का प्रसिद्ध विष्णु मन्दिर सूर्य वर्मा ने ही बनवाया था।

सन् ११८१ मे जयवर्मा सप्तम कम्बुज का अन्तिम महान् राजा था। उसने चम्पा और दक्षिणी वर्मा को कम्बुज मे सम्मिलित कर दिया। उसके राज्य में कम्बुज की सीमायें सबसे अधिक विस्तार को प्राप्त हुईं। उसके साम्राज्य में सम्पूर्ण कम्बोडिया, कोचिन चीन, लाओस, स्याम, दक्षिणी वर्मा और उत्तरी मलय सब सम्मिलित थे। जयवर्मा ने अंगकोर थोम नामक एक नई राजधानी का निर्माण किया जिसके विशाल खण्डहर आज भी दर्शनीय बने हुए हैं।

कम्बुज भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का महान् केन्द्र था। उसके नगरों के नाम भारतीय ढङ्ग के थे जैसे ताम्रपुर, आढ्यपुर, ध्रुवपुर, विक्रमपुर आदि। उसमें भारतीय आदर्शों के अनुसार दान शालायें और आरोग्य शालाएँ थीं। यहाँ अनेक ब्राह्मण रहते थे जो वेद और वेदाङ्ग धर्म शास्त्र का अध्ययन मनन करते और प्रचार करते थे। भारत और ने ... भी

प्रचुर रूप से था। यहाँ अभिलेख संस्कृत में मिले हैं जिनमें वात्स्यायन, विशालाक्ष प्रवरसेन, मयूर, गुणाढ्य का उल्लेख मिलता है। दिवाकर भट्ट का विवाह कम्बुज की राजकुमारी से हुआ। हिरण्य दाम ने तान्त्रिक अनुष्ठान किया था। कम्बुज में अनेक आश्रम थे। यशोवर्मा ने सौ आश्रम स्थापित किये थे।

कला भी भारतीय थी। अङ्कोरवाट का मन्दिर और अङ्कोर थोम खण्डहर वास्तु कला के अद्भुत उदाहरण हैं। इनकी संसार के महान् आश्चर्यों में गणना होती है। अरब यात्रियो ने तो कम्बुज को उसकी भारतीयता के कारण भारत का एक अभिन्न अङ्ग माना है। भारतीय संस्कृति का सुन्दर दर्शन कम्बुज मे १५ वी शताब्दी तक अक्षुण्ण बना रहा।

प्राचीन भारत के उपनिवेश (२)

चम्पा—चम्पा नाम का एक और दूसरा प्रदेश हिन्द चीन में था जिसमें हिन्दू-धर्म और आदर्शों के अनुसार राज्य सचालन होता था। इस देश का वर्तमान नाम अनाम है। ईसा की दूसरी शताब्दी मे यहाँ श्रीमार नाम के हिन्दू राजा ने राज्य स्थापित किया। चम्पा का चीन और कम्बुज से निरन्तर संघर्ष चलता रहता था और इसके परिणाम स्वरूप इस राज्य के क्षेत्र मे घटा बढी चलती रहती थी। इस तथ्य के अतिरिक्त श्रीमार के वंशजो के काल मे कई पीढियो तक कोई उल्लेखनीय घटना न हुई।

पाँचवी शताब्दी मे एक महान सेनानी भद्र वर्मा नाम का व्यक्ति चम्पा का नरेश हुआ। उसने कई युद्धो में चीनियों को पराजित किया। उसके राज्य मे चम्पा का विस्तृत राज्य तीन प्रदेशो मे विभक्त था। (१) उत्तर का प्रदेश अमरावती, (२) मध्य चम्पा का प्रदेश, (३) विजय और दक्षिण का प्रदेश पाण्डुरग। ये राजा बड़ा विद्वान् था। कहते है इसने चारों वेदो का पूर्ण अध्ययन किया था। इसने माइसोन मे एक शिव मन्दिर बनवाया जिसका नाम अपने नाम पर भद्रेश्वर स्वामी का मन्दिर रक्खा। इसके उत्तराधिकारी का नाम गगाराज था जिसने अपने अन्तिम दिनो में अपना जीवन गङ्गा तट पर व्यतीत किया।

इसके बाद चम्पा पर पाडुरग वश और भृगुवश का राज्य चला। भृगुवश में इन्द्रवर्मा तृतीय बड़ा प्रभावशाली था। इसने ६११ से ६७१ ई० तक ६० वर्ष राज्य किया। यह बडा विद्वान् था। इसने छहों दर्शनो और अष्टाध्यायी का गहन अध्ययन किया था। इसके समय मे कम्बुज के राजा ने

चम्पा पर चढाई कर दी। इस युद्ध में बड़ी हानि हुई परन्तु आक्रामकों को पीछे लौटना पड़ा।

ग्यारहवी शताब्दी के अन्तर्गत सन् १०५० ई० में जयपरमेश्वर वर्मदेव ईश्वरमूर्ति सिंहासन पर बैठा। उस समय उत्तर से अनामी और दक्षिण की ओर कम्बुज वाले चढाई कर रहे थे। स्वयं चम्पा मे भी आन्तरिक विद्रोह पाण्डुरंग में हो रहा था। राजा ईश्वरमूर्ति ने कम्बुज को पराजित किया और पाण्डुरङ्ग के विद्रोह का दमन कर दिया। उसने अनाम और चीन वालो से मैत्री कर ली। परन्तु उसके उत्तराधिकारी रुद्रवर्मा ने अनाम से फिर झगड़ा मोल ले लिया जिसके परिणाम स्वरूप उसे राज्य के कुछ भाग से हाथ धोना पड़ा। सन् १०७० ई० में हरिवर्मा चतुर्थ नाम का एक योग्य शासक सिंहासन पर बैठा उसने अनाम और कम्बुज दोनो की सेनाओं को हराया और चम्पा मे पुनः सुख-शान्ति स्थापित की। उसने उत्कृष्टराज की उपाधि धारण की। उसके उत्तराधिकारी ने भी उसके यश में विस्तार किया।

परन्तु चम्पा की अनाम से शत्रुता उसके लिए घातक सिद्ध हुई। १३०० वर्ष के हिन्दू शासन के बाद चम्पा का राज्य सन् १४७० मे अनामी शासन के अन्तर्गत विलीन हो गया। इसका नाम भी विजेता के नाम पर अनाम ही हो गया। अनामी लोग बौद्ध थे और उनका धर्म भी यही था। आज भी अनाम में बौद्ध धर्म की प्रधानता है।

चम्पा में भारतीय संस्कृति प्रचलित थी। वहां के लोग चारों वर्णों मे ही विभक्त थे। उनके वैवाहिक और मृतक संस्कार बिल्कुल हिन्दुओं के से ही थे। ब्राह्मणो का मान था। राजा शैव थे। शिव के साथ गणेश पार्वती और स्वामि कार्तिकेय की भी पूजा होती थी। विष्णु, लक्ष्मी, राम और कृष्ण की भी पूजा होती थी। चम्पा के कई नगर बड़े समृद्ध थे जिनमे भव्य हिन्दू मन्दिर और बौद्ध विहार बने हुए थे। यहां के राजाओ का चीन के साथ दौत्य सम्बन्ध था। अनामियों के लगातार आक्रमणो से इस राज्य का अन्त हो गया। कुछ इतिहासकारो का मत है कि अनामी मंगोल जाति के मुसलमान थे। यहां पर इस्लाम के प्रचार के कारण हिन्दू-धर्म की मान्यता लगभग समाप्त हो गई, परन्तु यह १५ वी शताब्दी से पूर्व न हो पाया था, चम्पा मे १३०० वर्ष हिन्दू शासन अक्षुण्ण रूप से रहा।

इन्डोनेशिया—प्राचीन हिन्दू शासन इन्डोनेशिया मे भी विद्यमान था। इन्डोनेशिया एशिया के दक्षिण पूर्व में एक द्वीप समूह है। सुमात्रा इन द्वीपों मे ही स्थित है। इसको प्राचीन काल में स्वर्ण भूमि कहते थे। सुवर्ण द्वीप का

सबसे पहिला हिन्दू राज्य श्री विजय था। इसकी राजधानी का नाम भी श्री विजय था। यह नगरी आधुनिक पालेम्बङ्ग के स्थान पर बसी हुई थी। सम्भव है पालेम्बङ्ग श्री विजय का ही आधुनिक रूप हो। इस राज्य की स्थापना चौथी शताब्दी के भी पहिले हुई थी। श्री विजय के नरेशों का प्रभुत्व मलयद्वीप के प्रदेशो तक फैला हुआ था। चीनी वृत्तो से पता चलता है कि श्री विजय के राजाओ ने चीन मे दूत मण्डल भेजे थे। श्री विजय का चीन से व्यापार भी था। अभिलेखो से पता चलता है कि ६८४ ई० मे यहाँ कोई जयनाग नाम का बौद्ध राजा शासन करता था। ६८६ ई० में इस राजा ने जावा मे एक सेना भेजी थी। चीनी यात्री इत्सिग ने बताया है कि श्री विजय बौद्ध विद्या का प्रमुख केन्द्र था।

सुमात्रा के पूर्व मे यवद्वीप है जिसको आजकल जावा कहते हैं और जो यवद्वीप का ही अपभ्रश है। सौराष्ट्र के राजा के भेजे हुए एक व्यक्ति ने ईसा की पहली शताब्दी मे यहाँ हिन्दू राज्य की स्थापना की। उसके यहाँ आने के बाद कलिंग से बीस हजार परिवार यहाँ आकर बस गये थे। अभिलेखो से ज्ञात हुआ है कि सन् १३२ ई० मे यवद्वीप के राजा देव वर्मा ने चीन को एक दूत मडल भेजा। पूर्णवर्मा नाम के राजा के पिता ने चन्द्रभागा नाम की एक नहर वहाँ खुदवाई तथा स्वय पूर्णवर्मा ने भी गोमती नाम की नहर का निर्माण करवाया। पूर्णवर्मा छटी शताब्दी मे हुआ था और उसकी राजधानी का नाम तारुमा था।

चीनी लेखको के अनुसार जावा के कई राज्यो मे होलिंग प्रमुख था। होलिंग कलिंग का अपभ्रश ही है।

पाँचवी शताब्दी मे भारत मे आये हुए चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा है कि यवद्वीप मे हिन्दू धर्म का प्रचार था और राज्य भी हिन्दुओ का था। जिस जहाज पर वह यात्रा कर रहा था उस पर २०० ब्राह्मण व्यापारी थे। पाँचवी शताब्दी मे यवद्वीप मे भिक्षु गुणवर्मा के प्रयासो से बौद्ध धर्म का प्रचार होने लगा था। जावा के मन्दिरों मे शिव और विष्णु की मूर्तियाँ थी। वहाँ के निवासियो के आचार-विचार सब भारतीय थे।

जावा के पूर्व मे बाली अर्थात् बलिद्वीप है। इस द्वीप के हिन्दू राजा अपने को कौण्डिन्य का वशज मानते थे। भारत के बाहर आज भी हिन्दू-धर्म, सभ्यता और सस्कृति का सर्वाधिक दर्शन इस द्वीप मे होता है। इस द्वीप मे अनेक हिन्दू देवताओ की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है।

जावा और बाली के उत्तर की ओर बोर्नियो द्वीप है जिसको कालीमन्तन तियो कहते हैं। यहाँ ४०० ई० के लगभग के कई अभिलेख मिले हैं जिनसे त होता है कि उस समय तक यहाँ हिन्दू शासन स्थापित हो चुका था। इन भिलेखों में कौण्डिन्य के पौत्र और अश्ववर्मा के पुत्र मूलवर्मा का उल्लेख आ है। मूलवर्मा ने बहुसुवर्णक नाम यज्ञ सम्पन्न किया था जिसमें उसने चुर सुवर्ण दक्षिणा के अतिरिक्त बीस हजार गउएँ भी ब्राह्मणों को दान में दीं। आठवीं शताब्दी में शैलेन्द्र साम्राज्य का इस द्वीप समूह में उत्थान हुआ। इस साम्राज्य में मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बाली और बोर्नियो शामिल थे। शैलेन्द्र वंश के शासक भारत से ही गये प्रतीत होते हैं। आरम्भ का ही एक शैलेन्द्र सम्राट धरणीन्द्र वर्मा (७८२ ई०) बङ्गाल के बौद्ध भिक्षु कुमारघोष का शिष्य था। बालपुत्र देव जो कि एक प्रसिद्ध शैलेन्द्र सम्राट हुआ है उसका पौत्र था। इसके समसामयिक बङ्गाल के पालवंशी राजा देवपाल के एक ताम्रपत्र में बालपुत्र देव को सुवर्णद्वीप का राजा कहा है। शैलेन्द्र सम्राटों के समय में सुमात्रा व्यापक अर्थ में सारे मलय प्रायद्वीप तथा मलय द्वीप समूह के लिए प्रयुक्त होता था। शैलेन्द्र सम्राटो का अधिकार कुछ समय के लिये कम्बुज पर भी हो गया था।

इस शक्तिशाली साम्राज्य की नवीं और दसवीं शताब्दी के अरब व्यापारियों ने बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने इस साम्राज्य के लिए जावग नाम का प्रयोग किया है और यहाँ के शासक को महाराज कहा है। इन लोगों ने शैलेन्द्र नरेशों के वैभव का बड़ा विस्मयकारी वर्णन किया है। इब्नखुर्दाजबेह के अनुसार शैलेन्द्र नरेश की दैनिक आय दो सौ मन सोना थी। अबूजैदहसन का कथन है कि शैलेन्द्र महाराज प्रतिदिन एक सोने की ईंट अपने महल के पास के तालाब में फेंक देता था। इब्नरोस्ते ने ९०३ ई० में लिखते हुए कहा है "इस साम्राज्य का शासक महाराज कहलाता है। भारत के राजाओं में यह सबसे महान होते हुए भी द्वीपों में रहने के कारण मान्यता नहीं पा सका है। यथार्थ में इससे अधिक ऐश्वर्यशाली और शक्तिशाली कोई राजा नहीं है और किसी भी राजा की आय इससे अधिक नहीं है।" (पृष्ठ ५०२ प्राचीन भारत, पुरुषोत्तमदास भार्गव) नवीं शताब्दी तक यह साम्राज्य अपनी उन्नति के शिखर पर था परन्तु इस शताब्दी के अन्त में कंबुज और जावा इससे पृथक् हो गये। पहिले तो इस वंश के सम्राटों से चोल सम्राटों का सहयोग रहा। शैलेन्द्रों ने नागपट्टन आदि में राज राज चोल की अनुमति से बौद्ध विहार बनवाये परन्तु कुछ काल बाद राजेन्द्र चोल ने इस साम्राज्य के कुछ भाग को अपने राज्य में मिला लिया। थोड़े समय बाद [illegible]

ने अपना खोया हुआ राज्य फिर प्राप्त कर लिया। राजेन्द्र ने पुनः आक्रमण कर शैलेन्द्र को पराजित किया, परन्तु फिर मैत्री भाव स्थापित हो जाने से जीता हुआ प्रदेश राजेन्द्र ने शैलेन्द्र नरेश को ही लौटा दिया। चोलों से शैलेन्द्र नरेशो का पीढ़ी दर पीढ़ी सङ्घर्ष कायम रहा। इस सङ्घर्ष से शैलेन्द्र राज्य में कुछ शिथिलता अवश्य आई।

चीनी और अरब लेखों से इस बात की पुष्टि होती है कि शैलेन्द्र साम्राज्य तेरहवी शताब्दी तक चलता रहा। तेरहवी शताब्दी के राजा चन्द्रभानु ने सन् १२३० ई० में सिंहल पर आक्रमण किया। चन्द्रभानु के सिंहल पर दो आक्रमणो का उल्लेख अभिलेखो में मिलता है। पहिले तो चन्द्रभानु को कुछ सफलता मिली परन्तु अन्त में उसे पराजय का मुँह देखना पडा। इस असफल अभियान ने शैलेन्द्र साम्राज्य की कमर तोड़ दी और वह फिर अकाल काल का ग्रास बना।

शैलेन्द्र सम्राट बौद्ध-धर्म को मुख्यतः और हिन्दू-धर्म को सामान्यतः मानते थे। उनकी धर्मों के प्रति बड़ी निष्ठा थी। वे कला प्रेमी तथा महान निर्माता थे। उनका बनवाया हुआ बाराबुदुर स्तूप संसार के महान आश्चर्यो में गिना जाता है। इसका निर्माण आठवी शती के अन्त या नवी शती के आरम्भ में हुआ था। यह एक पहाड़ी पर बना हुआ है और इनमे नौ चबूतरे हैं जिनमें प्रत्येक चबूतरा ऊपर छोटा होता चला जाता है। इसके तक्षणो और अलंकरणों का लालित्य मनोहर है। प्रतिमाओ की विशालता से आकर्षण में कमी नहीं आई है। इसकी सरणियों मे हजारों दृश्य अङ्कित हैं। भगवान् बुद्ध की संख्यातीत प्रतिमायें अपनी मनोहरता और कला-कौशल की दृष्टि से अत्यन्त दर्शनीय हैं।

जावा का भारतीय राज्य—ईसा की चौथी शताब्दी में जावा मे एक हिन्दू राज्य की स्थापना हुई। शैलेन्द्र राज्य के उदय होने पर जावा के राजा ने उस राज्य की अधीनता स्वीकार कर ली, परन्तु नवी शताब्दी में इस राजवश ने अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। उस समय उनकी राजधानी केदिरी और सिंहसरी में थी। जावा के राजनैतिक इतिहास में इन दोनों नगरों का बडा महत्व है। एक दूसरा हिन्दू राज्य यहाँ तेरहवी शताब्दी के अन्त मे स्थापित हुआ। इसका सस्थापक विजय नामक एक राजा था। इसने तिक्तविल्व नामक नगर को अपनी राजधानी बनाया। तिक्तविल्व को जावा की भाषा में मजपहित और सामान्य भाषा मे तीता बेल भी कहते हैं। जावा नरेशो की शैलेन्द्र सम्राटों के साथ राजनीतिक और व्यापारिक प्रतिद्वन्दिता थी।

तिक्तविल्व अथवा मजपहित राज्य धीरे-धीरे बड़ा शक्तिशाली हो गया। सन् १३६५ ई० के लगभग इस राज्य में सम्पूर्ण मलय प्रायद्वीप और मलय द्वीप समूह सम्मिलित हो गये। चौदहवीं शताब्दी में समस्त शैलेन्द्र साम्राज्य मजपहित राज्य में समा गया। तिक्तविल्व के राजा ने चीन के शासक कुबलईखाँ के भेजे दूत मण्डल का अपमान किया, इस पर कुबलईखाँ ने राजा से युद्ध करने को एक सेना भेजी।

"तिक्तविल्व का हिन्दू साम्राज्य अच्छी तरह से केन्द्रित और प्रसारवादी था। इसके कर और राजस्व के साधन अच्छी तरह व्यवस्थित थे। व्यापार और उपनिवेशों पर विशेष रूप से ध्यान रक्खा जाता था। केन्द्रीय शासन कई विभागो में बँटा था—(१) व्यापार विभाग, (२) उपनिवेश विभाग, (३) स्वास्थ्य विभाग, (४) सेना विभाग, (५) गृह विभाग। न्याय की सुन्दर व्यवस्था थी। राज्य की ओर से कई न्यायाधीश नियुक्त थे। जावा के शासको में अपनी आदर्श व्यवस्था के लिये सुहिता नाम की एक रानी प्रसिद्ध थी। पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त में अरबों द्वारा इस राज्य का पतन हुआ।" ("भारतीय इतिहास की भूमिका पृष्ठ ३५३ डा० राजवलीपाण्डेय)

मजपहितराज्य की प्रबलता का कारण उसका महान समुद्री बेड़ा था जिसके द्वारा राजा का सम्पूर्ण द्वीपों पर नियन्त्रण था।

पन्द्रहवी शताब्दी के आरम्भ में एक हिन्दू सामन्त जावा से भागकर मलक्का पहुँचा, वहाँ पर उसने एक शक्तिशाली हिन्दू राज्य की स्थापना की। उसका उत्तराधिकारी मुसलमान बन गया और अपने राज्य को उसने इस्लाम का गढ़ बना दिया। वहाँ से यह धर्म जावा पहुँचा। बहुत से हिन्दू यहाँ तक राज घराने के लोग भी मुसलमान बन गये। मजपहित राजा जावा छोडकर बाली द्वीप मे बसने चला गया। इस प्रकार मजपहित राजवंश का अन्त हुआ। बाली के लोग अब भी अपने को मजपहित का वंशज मानने में गौरव का अनुभव करते हैं।

अन्य द्वीपों की भाँति जावा भारतीय साहित्य और कला का केन्द्र था। जावा मे अब भी सैकड़ो मन्दिरो के भग्नावशेष उनकी पुरातन प्रतिष्ठा का मूक गान कर रहे हैं। जावानी साहित्य पर भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा की गहरी छाप थी। जावानी भाषा का साहित्य संस्कृत भाषा और उसके साहित्य पर आश्रित है। जावानी भाषा के शब्द चयन पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। रामायण और महाभारत जावानी साहित्य के

मुख्य स्तम्भ हैं। अर्जुन विवाह, कृष्णायन और भारत युद्ध प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। जावा में हस्तलिखित ग्रन्थ बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए है।

बर्मा—इस प्रदेश की सभ्यता ईसा की पहली शताब्दियो में नितान्त भारतीय थी। यहाँ हिन्दू राजाओं का राज्य था। यहाँ की रानियां महादेवी कहलाती थीं। ईसा की दूसरी शताब्दी में यहाँ के जिन नगरों के नामो का तथा जिस ब्राह्मीलिपि का उल्लेख हुआ है उससे भारतीय प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। चीनी इतिहास के अनुसार यहां तीसरी शताब्दी मे १० हजार भिक्षुओं के निवास के लिये विहार बने हुए थे।

कपिलवस्तु के शाक्यवंश के एक राजकुमार ने जिसका नाम अभिराज था उत्तरी वर्मा पर अपना अधिकार करके इरावदी नदी के तट पर सकिस्स नामक नगर की स्थापना की थी। उसके ही एक उत्तराधिकारी ने आधुनिक प्रोम के निकट श्रीक्षेत्र नाम की राजधानी बसाई। प्राचीन काल मे आधुनिक पेगू प्रदेश को सुवर्ण भूमि कहते थे। बौद्ध कथाओं के अनुसार सम्राट अशोक ने शोण और उत्तर नाम के दो बौद्ध भिक्षु सुवर्ण भूमि मे बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ भेजे थे।

श्री क्षेत्र में प्यू नामक जाति निवास करती थी। यहाँ के एक हिन्दू राजा जयचन्द्र वर्मा के नाम का उल्लेख अभिलेखों मे मिलता है। उसके पहिले राजाओ में हरि विक्रम, सूर्य विक्रम और सिह विक्रम के नाम उपलब्ध होते हैं। श्रीक्षेत्र सातवी शताब्दी मे वर्मा मे बड़ा शक्तिशाली हिन्दू राज्य था।

वर्मा में एक और भारतीय उपनिवेश था जिसका नाम अराकान था। यहाँ ६०० ई० से १००० ई० तक धर्मराजानुज वश ने बडी प्रतिष्ठा पूर्वक राज्य किया। इस वंश के बालचन्द्र आदि नौ ऐसे राजाओ के नाम मिले हैं जो भारतीय व्युत्पत्ति और हिन्दू धर्म के द्योतक हैं। इस राज्यवंश की राजधानी वैशाली थी। इसके भग्नावशेषों मे अब भी प्राचीन भारतीय सस्कृति, सभ्यता और कला के दर्शन होते है।

वर्मा में ग्यारहवी शताब्दी मे एक उल्लेखनीय घटना घटित हुई। इस शताब्दी में म्रम्म नामक जाति ने अधिकांश वर्मी प्रदेशो को अपने अधिकार मे कर लिया और पगन में अपनी राजधानी बसाई। पगन का नाम उन्होंने अरिमर्दनपुर रक्खा। वे भारतीय सस्कृति से प्रभावित थे। इस वश मे अनिरुद्ध नामक एक शक्तिशाली राजा हुआ जो सन् १०४४ ई० में सिहासन पर बैठा उस समय वर्मा में बौद्ध-धर्म के तान्त्रिकवाद का जोर था। अनिरुद्ध ने जो थेरवादी था तान्त्रिकवाद को समाप्त कर थेरवाद का प्रचार कराया।

अनिरुद्ध ने मौन जाति के राज्य पर जो दक्षिण बर्मा के एक भू भाग में स्थित था और जो रमन्न देश कहलाता था आक्रमण कर उसे अपने राज्य मे मिला लिया। परन्तु मौनों ने अनिरुद्ध के राज्य में युगान्तरकारी परिवर्तन किये। मौनों के राज्य से जो भिक्षु और शिल्पी अरिमर्दनपुर आये उन्होने वहाँ की तत्कालीन सभ्यता में बड़ा प्रभावशाली परिवर्तन कर दिया। भ्रम्मो ने मौनों से भारतीय सभ्यता को ही ग्रहण किया था। अनिरुद्ध ने एक भारतीय राजकुमारी से विवाह किया। अनिरुद्ध के काल मे बर्मा की राजनयिक एकता स्थापित हुई और बौद्ध-धर्म का हीनयान भी वहाँ खूब पनपा। उसकी सिंहल के राजा विजयबाहु से मैत्री थी। अनिरुद्ध का पुत्र क्यानजित्थ भी बड़ा शक्तिशाली हुआ है। उसने त्रिभुवनादित्य का विरुद धारण किया। उसके राज्य में बौद्ध और वैष्णव धर्म दोनो ही बर्मा में खूब पनपे। उसने भारतीय परम्परा के अनुसार आनन्द मन्दिर नाम का एक प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया। उसमे बुद्ध की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गई। उसने बुद्धगया के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और एक चोल राजकुमारी से अपना विवाह किया।

स्याम—बर्मा के पूर्व में स्थित है। इसमें ईसा की दूसरी शताब्दी मे भारतीय धर्मों और संस्कृति का प्रवेश हो गया। स्याम को आजकल थाई जाति के नाम पर थाईलैण्ड कहते हैं। थाइयो का प्रभुत्व तेरहवी शताब्दी से पूर्व कभी न हुआ। इससे पहिले यहाँ भारतीय सभ्यता का ही रङ्ग था। इसमे जो भारतीय उपनिवेश थे उनमें सबसे पहिले बसे हुए उपनिवेश का नाम द्वारवती था। ह्वेनसांग ने सातवीं शताब्दी मे इस राज्य का उल्लेख किया है।

स्याम के उत्तरी भाग मे जिसे आजकल युन्नान कहते हैं थाई लोग रहते थे जिन पर भारतीय सभ्यता का पूर्ण प्रभाव था। इनका राज्य गान्धार कहलाता था। इसके एक भाग का नाम विदेह था जिसकी राजधानी मिथिला थी। यहाँ भारतीय लिपियो का प्रयोग होता था। बौद्ध धार्मिक स्थलो के नाम पर यहाँ भी बोधिवृक्ष, पिप्पलगुफा और गृध्रकूट नामक स्थान थे। यहाँ के राजाओ ने अपना विरुद "महाराजा" धारण किया और नवी शताब्दी मे इतने शक्तिशाली हो गये कि युद्ध में चीनी सम्राट कई बार उनके हाथों परास्त हुआ। गान्धार के महाराज ने चीनी सम्राट की पुत्री से विवाह कर चीन से मैत्री स्थापित की। गांधार राज्य तेरहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक बना रहा सन् १२५३ ई० मे कुबलई खाँ ने स्याम पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। इसके बाद थाई लोग अनेक दिशाओं मे चल पड़े। इनकी एक शाखा ने स्याम को पुनः जीत लिया। तेरहवी शताब्दी में कुनबग क्लेग नामक थाई

वीर ने इस देश के पहले प्रसिद्ध सुखोदय नामी राज्य को जीतकर इन्द्रादित्य नाम से नया राज्य कायम किया। उसने बहुत शीघ्र अपने राज्य का विस्तार किया। उसका पुत्र राम कम्हेंग भी बड़ा यशस्वी था। उसने हुंगवती के प्रदेश को और मलय प्रायद्वीप के कुछ भाग को जीतकर अपने राज्य में मिला दिया। उसने बौद्ध विहारों और मन्दिरों का निर्माण कराया। उसके पौत्र ने सन् १३४७ में राम महाधर्मराजाधिराज की उपाधि धारण की। उसने त्रिपिटक का अध्ययन किया था और बौद्ध-धर्म के प्रचार में भी उसने अपना योगदान दिया था।

सन् १३५० ई० से स्याम के एक सामन्त ने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की और उस राज्य की राजधानी का नाम अयोध्या रक्खा। अयोध्या के राजाओं का बर्मा के राजाओं से संघर्ष रहता था। सन् १७६७ ई० मे बर्मा के एक राजा ने अयोध्या पर चढ़ाई करके उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उसके बाद स्याम के राजा ने अपनी राजधानी बैंकाक में कर दी जहाँ उसका वंशज अब भी सिंहासनासीन है। स्याम के लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं यद्यपि उन पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव आज भी दृष्टिगोचर होता है। स्याम का प्रत्येक राजा अपने नाम के पीछे राम शब्द का प्रयोग करता है।

इस प्रकार लगभग १५०० वर्ष तक दक्षिण पूर्वी एशिया मे भारतीय सभ्यता का बोलबाला रहा। निस्संदेह इस वृहत्तर भारत का श्रेय उन वीर राजकुमारों, विद्वानो और धार्मिक नेताओ के अदम्य साहस को है जिन्होंने अनेक बाधाओं की तनिक भी चिन्ता न कर अपने देश को छोड सुदूर दक्षिणी पूर्वी एशिया में भारतीय सभ्यता का झण्डा फहराया। उन्होंने अनेक भारतीय नगरों के नाम पर वहाँ अनेक नगर बसाये जैसे अयोध्या, मिथिला, कौशाम्बी, द्वारवती, तक्षशिला, वैशाली आदि। यद्यपि आज वहाँ बाली द्वीप को छोड़कर कही भी हिन्दू जनता नही है तथापि वहाँ के अनेक कार्यकलापो, आमोद-प्रमोदो में भारतीय सभ्यता का चित्र आज भी उभर कर आता है। वहाँ रामायण और महाभारत के विभिन्न पात्रो के रूप मे अब भी अनेक सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किए जाते हैं जिनसे उनके संस्कारो पर प्राचीन हिन्दू-सभ्यता के चिह्नों की अमिट छाप अब भी परिलक्षित होती है।

इन उपनिवेशों के उदय और विनाश के कारणों पर प्रकाश डालते हुए डा० राजबली पाण्डेय अपनी पुस्तक भारतीय इतिहास की भूमिका में इस प्रकार लिखते हैं, "जब तक भारत की राजनीति और संस्कृति में सजीवता थी तब तक यहाँ की जनता मे उत्साह और कष्ट सहन करने की क्षमता थी

और अपनी राजनीति और संस्कृति के प्रसार की लालसा भी। बहुत प्राचीन काल से लेकर ग्यारहवी बारहवी शताब्दी तक यह प्रक्रिया चलती रही। ब्राह्मण और बौद्ध दोनों ही संस्कृति-धाराएँ, भारत से प्रवाहित होकर प्रायः सम्पूर्ण एशिया तथा भूमध्य सागर के तट के यूरोपीय और अफ्रीका के देशों तक पहुँची थी। इस प्रक्रिया को पहिला धक्का अरबो के उदय से लगा। उन्होने क्रमशः अरब सागर का सारा व्यापार भारतीयों के हाथ से छीन लिया और हिन्द महासागर में भी भारतीयो से प्रतियोगिता शुरू की। बारहवी शताब्दी के अन्त में बड़े वेग से तुर्कों का भारत पर आक्रमण प्रारम्भ हुआ। इससे भारत के राजनैतिक जीवन का विघटन हुआ और धीरे-धीरे भारत के बड़े भाग पर इस्लामी सत्ता स्थापित हो गई। जब तक भारत में भारतीयो का राज्य था उनके उपनिवेश बाहर के देशों मे लहराते रहे। परन्तु भारत में अपने मूल आधार और प्रेरणा के नष्ट हो जाने पर वे सूखने लगे। पिछले दिनों मे हिन्द एशिया के भारतीय उपनिवेश श्री विजय और जावा आदि आपस मे व्यापारिक और राजनैतिक प्रतियोगिता के कारण लड़ने लगे और एक दूसरे को दुर्बल बनाने लगे। अब भारत की मूलभूमि से इन उपनिवेशों को सैनिक अथवा राजनैतिक सहायता नहीं मिल सकती थी। हिन्द चीन मे उत्तर की मङ्गोल जातियो के सामने जो भारतीय राज्यों की एक दीवार थी वह टूट गयी और मङ्गोल जाति के लोग बहुत बड़ी संख्या में दक्षिण की तरफ चले आये। मलयप्रायद्वीप और मलयद्वीप पुञ्ज में अरब लोग पहिले व्यापारी के रूप में गये थे। भारतीय राज्यो के विघटन और भारत में इस्लामी सत्ता स्थापित होने के बाद वहाँ पर अरबों ने अपनी नीति बदली, उन्होंने धर्म प्रचारक और विजयी का बाना धारण किया। दक्षिण के दुर्बल भारतीय उपनिवेशो में इस्लामी राजनीति और धर्म की सत्ता स्थापित हो गई। परन्तु आज भी इन उपनिवेशो मे भारतीय राजनीति और संस्कृति के अनेक चिह्न पाये जाते हैं और वहां के जन-जीवन पर भारतीय छाप है।

अफगानिस्तान की कुंभा, सुवास्तु, क्रुम गोमती आदि नदियों का ऋग्वेद में अनेक स्थलो पर उल्लेख है। ऋग्वेद काल मे अफगानिस्तान भारत का अभिन्न अङ्ग था तथा आर्य देश के अन्तर्गत था। दासराज युद्ध में जिन पक्थों ने भाग लिया था वे आज के पठानों के पूर्वज थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय जिस आश्वकायन गोत्र के गणराज्य ने सिकन्दर के दाँत खट्टे किये थे वह आजकल के अफगानों के पूर्व पुरुषों का ही था। आश्वकायन का अपभ्रंश अफगान है। मौर्यकाल में समस्त अफगानिस्तान मौर्यराज्य के अन्तर्गत था।

वीर ने इस देश के पहले प्रसिद्ध सुखोदय नामी राज्य को जीतकर इन्द्रादित्य नाम से नया राज्य कायम किया। उसने बहुत शीघ्र अपने राज्य का विस्तार किया। उसका पुत्र राम कम्हैंग भी बड़ा यशस्वी था। उसने हंसवती के प्रदेश को और मलय प्रायद्वीप के कुछ भाग को जीतकर अपने राज्य में मिला दिया। उसने बौद्ध विहारों और मन्दिरों का निर्माण कराया। उसके पौत्र ने सन् १३४७ में राम महाधर्मराजाधिराज की उपाधि धारण की। उसने त्रिपिटक का अध्ययन किया था और बौद्ध-धर्म के प्रचार में भी उसने अपना योगदान दिया था।

सन् १३५० ई० से स्याम के एक सामन्त ने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की और उस राज्य की राजधानी का नाम अयोध्या रखा। अयोध्या के राजाओं का बर्मा के राजाओं से संघर्ष रहता था। सन् १७६७ ई० मे बर्मा के एक राजा ने अयोध्या पर चढ़ाई करके उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उसके बाद स्याम के राजा ने अपनी राजधानी बैंकाक में कर दी जहाँ उसका वंशज अब भी सिंहासनासीन है। स्याम के लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं यद्यपि उन पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव आज भी दृष्टिगोचर होता है। स्याम का प्रत्येक राजा अपने नाम के पीछे राम शब्द का प्रयोग करता है।

इस प्रकार लगभग १५०० वर्ष तक दक्षिण पूर्वी एशिया में भारतीय सभ्यता का बोलबाला रहा। निस्संदेह इस बृहत्तर भारत का श्रेय उन वीर राजकुमारों, विद्वानो और धार्मिक नेताओ के अदम्य साहस को है जिन्होंने अनेक बाधाओ की तनिक भी चिन्ता न कर अपने देश को छोड़ सुदूर दक्षिणी पूर्वी एशिया मे भारतीय सभ्यता का झण्डा फहराया। उन्होंने अनेक भारतीय नगरो के नाम पर वहाँ अनेक नगर बसाये जैसे अयोध्या, मिथिला, कौशाम्बी, द्वारवती, तक्षशिला, वैशाली आदि। यद्यपि आज वहाँ बाली द्वीप को छोड़कर कही भी हिन्दू जनता नही है तथापि वहाँ के अनेक कार्यकलापो, आमोद-प्रमोदों में भारतीय सभ्यता का चित्र आज भी उभर कर आता है। वहाँ रामायण और महाभारत के विभिन्न पात्रो के रूप मे अब भी अनेक सास्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किए जाते हैं जिनसे उनके सस्कारो पर प्राचीन हिन्दू-सभ्यता के चिह्नों की अमिट छाप अब भी परिलक्षित होती है।

इन उपनिवेशो के उदय और विनाश के कारणों पर प्रकाश डालते हुए डा० राजवली पाण्डेय अपनी पुस्तक भारतीय इतिहास की भूमिका में इस प्रकार लिखते हैं, "जब तक भारत की राजनीति और संस्कृति मे सजीवता थी तब तक यहां की जनता मे उत्साह और कष्ट सहन करने की क्षमता थी

और उनकी राजनीति और संस्कृति के प्रसार की सम्भावना थी। बहुत प्राचीन काल से लेकर ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी तक यह प्रक्रिया चलती रही। ब्राह्मण और बौद्ध दोनों ही संस्कृति-धाराएँ, भारत से प्रवाहित होकर प्रायः सम्पूर्ण एशिया तथा भूमध्य सागर के तट के यूरोपीय और अफ्रीका के देशों तक पहुँची थी। इस प्रक्रिया को पहिला धक्का अरबों के उदय से लगा। उन्होंने क्रमशः अरब सागर का सारा व्यापार भारतीयों के हाथ से छीन लिया और हिन्द महासागर में भी भारतीयों से प्रतियोगिता शुरू की। बारहवी शताब्दी के अन्त में बड़े वेग से तुर्कों का भारत पर आक्रमण प्रारम्भ हुआ। इससे भारत के राजनैतिक जीवन का विघटन हुआ और धीरे-धीरे भारत के बड़े भाग पर इस्लामी सत्ता स्थापित हो गई। जब तक भारत में भारतीयों का राज्य था उनके उपनिवेश बाहर के देशों में लहराते रहे। परन्तु भारत में अपने मूल आधार और प्रेरणा के नष्ट हो जाने पर वे सूखने लगे। पिछले दिनों में हिन्द एशिया के भारतीय उपनिवेश श्री विजय और जावा आदि आपस में व्यापारिक और राजनैतिक प्रतियोगिता के कारण लड़ने लगे और एक दूसरे को दुर्बल बनाने लगे। अब भारत की मूलभूमि से इन उपनिवेशो को सैनिक अथवा राजनैतिक सहायता नही मिल सकती थी। हिन्द चीन में उत्तर की मङ्गोल जातियों के सामने जो भारतीय राज्यों की एक दीवार थी वह टूट गयी और मङ्गोल जाति के लोग बहुत बड़ी संख्या में दक्षिण की तरफ चले आये। मलयप्रायद्वीप और मलयद्वीप पुञ्ज में अरब लोग पहिले व्यापारी के रूप में गये थे। भारतीय राज्यों के विघटन और भारत में इस्लामी सत्ता स्थापित होने के बाद वहाँ पर अरबों ने अपनी नीति बदली, उन्होंने धर्म प्रचारक और विजयी का बाना धारण किया। दक्षिण के दुर्बल भारतीय उपनिवेशो मे इस्लामी राजनीति और धर्म की सत्ता स्थापित हो गई। परन्तु आज भी इन उपनिवेशों मे भारतीय राजनीति और संस्कृति के अनेक चिह्न पाये जाते हैं और वहाँ के जन-जीवन पर भारतीय छाप है।

अफगानिस्तान की कुंभा, सुवास्तु, कुभ गोमती, आदि नदियों का ऋग्वेद में अनेक स्थलो पर उल्लेख है। ऋग्वेद काल में अफगानिस्तान भारत का अभिन्न अङ्ग था तथा आर्य देश के अन्तर्गत था। दासराज्ञ युद्ध में जिन पक्थों ने भाग लिया था वे आज के पठानों के पूर्वज थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय जिस आश्वकायन गोत्र के गणराज्य ने सिकन्दर के दाँत खट्टे किये थे वह आजकल के अफगानों के पूर्व पुरुषो का ही था। आश्वकायन का अपभ्रंश अफगान है। मौर्यकाल में समस्त अफगानिस्तान मौर्यराज्य के अन्तर्गत था।

मौर्यकाल के बाद भी अनेक शताब्दियों तक वहाँ के राजवंश भारतीय ही थे। वहाँ के कला, साहित्य, संस्कृति और 'धर्म भी वही थे जो भारत के थे। पाँचवी शताब्दी के फाह्यान और सातवी मे ह्वेनसांग ने भी इसे भारत का अंग माना है। स्वात की घाटी के उद्यान का उल्लेख करते हुए फाह्यान ने लिखा है, "यह उत्तर भारत का एक भाग है। यहाँ के लोग मध्यदेश की भाषा का प्रयोग करते हैं इनका भोजन वस्त्रादि भी मध्यदेश के लोगो जैसा ही है। बौद्धधर्म का यहाँ पूर्ण प्रचार है।" ह्वेनसांग ने भी 'अफगानिस्तान के अनेक भागों जैसे लगमान, जलालाबाद, स्वातघाटी आदि को भारत का अग माना है। बमियान घाटी तो बौद्धधर्म के एक विशिष्ट केन्द्र के रूप मे थी। वहाँ का राजा बौद्ध था जो हर्ष की तरह पञ्चवर्षीय दानोत्सव करता था। कपिशा (आधुनिक काफिरिस्तान) भी भारतीय राज्य था। वहाँ का राजा बौद्ध धर्मावलम्बी क्षत्रिय जाति का था। वहाँ १०० विहार थे जिनमें ६०० भिक्षु रहते थे। नवी और दसवी शताब्दी तक पूर्वी अफगानिस्तान पर हिन्दू शाही नामक भारतीय राज्यवंश का आधिपत्य था।

आधुनिक उत्खननों का वर्णन करते हुए अगस्त सन् १९६९ की सरस्वती में बमियान घाटी का बड़ा सुन्दर उल्लेख है। "अफगानिस्तान मे किसी समय बौद्ध धर्म प्रचलित था। उस समय के बौद्ध स्तूपो और विहारो के अवशेष सारे देश में बिखरे पड़े हैं। सीमान्त प्रदेश और अफगानिस्तान में मूर्तिकला की एक विशेष शैली का विकास हुआ जिसे गांधार शैली कहते हैं और जिसके नमूने कितने ही भारतीय संग्रहालयों मे भी देखे जा सकते हैं। लाहौर के सग्रहालय में तो इनका बहुत अच्छा सग्रह है। अफगानिस्तान में बामियान नाम की एक घाटी है। इस घाटी मे बौद्धकाल के सबसे अधिक और सबसे प्रसिद्ध अवशेष पाये जाते है। यहाँ एक बड़ा बौद्ध-विहार था जो सारी घाटी मे फैला हुआ था। इस घाटी मे कई जगह चट्टानें दीवार की तरह प्रायः सीधी खड़ी हैं। उनमें बौद्ध भिक्षुओ ने अनेक गुफाएँ बना ली थी। चट्टान की दीवार मे उन्होने भगवान् बुद्ध की विशाल मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण की थी। इनमे एक खड़ी हुई बुद्ध की मूर्ति तीसरी शती में बनाई गई थी। वह ११५ फुट (३५ मीटर) ऊँची है। दूसरी मूर्ति पाँचवी शती में निर्मित हुई थी और इससे भी बडी है अर्थात् उसका आकार १७४ फुट (५३ मीटर) है। यहाँ जो गुफाएं हैं उनमें भित्ति चित्र भी बने हैं तथा उनमें उत्कीर्ण अलङ्करण मे ग्रीक, ईरानी और भारतीय शैलियों का प्रभाव दिखलाई पडता है, क्योंकि अफगानिस्तान मे ग्रीक और ईरानी शासन भी काफी दिनों रहा, और इस कारण उनकी कला वहाँ काफी फैल गई थी। अफगानिस्तान

कुशान साम्राज्य में भी बहुत दिनों रहा। बौद्ध-धर्म के साथ वहाँ भारतीय कला ने प्रवेश किया था।

बामियान समुद्रतल से प्रायः पौने नौ हजार फुट (२८६५ मीटर) की ऊँचाई पर स्थित है और यहाँ कड़ाके की सर्दी पड़ती है। वर्ष में कई सप्ताह तक यहाँ वर्फ गिरती रहती है। अतएव इन गुफाओं, मूर्तियों और भित्तिचित्रों को इतने दिनों में काफी क्षति पहुँची है। इनको देखने-भालने वाला कोई न था। इसलिये इनकी कभी मरम्मत भी न हुई। इस प्रदेश में प्रतिवर्ष गर्मियों में यायावर लोग अपने पशुओं को लेकर आते हैं। वे इन गुफाओं में ठहर जाते थे और उन्होंने भी इन्हें काफी क्षति पहुँचाई। धर्मांध मूर्ति भञ्जक भी वहाँ पहुँचे थे और वे भी मूर्तियों को हानि पहुँचा गये। अब ऐसी स्थिति आ गई है कि यदि इनकी मरम्मत और देखभाल नहीं की जाती तो ये अमूल्य कलाकृतियाँ एक दम नष्ट हो जाएँगी।" सरस्वती अगस्त १९६६ पृष्ठ ९८-९९।

भारत चीन सम्बन्ध

मध्य एशिया में कश्यप सागर के तट से चीन की सीमा तक बसे हुए विशाल जन-समूह पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव था। बुखारा, समरकन्द, कूचा, कारा शहर, तुर्फान, काशगर, यारकन्द और खोतान में भारतीय सभ्यता व्याप्त थी और यहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार था। खोतान और भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। कहते हैं अशोक के पुत्र कुस्तन के नाम का अपभ्रंश ही खोतान है और उसी के नाम पर इस प्रदेश का नाम खोतान हुआ। खोतान में बौद्ध-धर्म की महायान शाखा का प्रचार था। वहाँ के राजा विजितसम्भव ने ६० ई० पू० में काश्मीर के किसी भिक्षु वैरोचन से बौद्ध-धर्म में दीक्षा ली। सर औरैल स्टाइन ने इस प्रदेश में कुछ खोज की है। उनका कहना तो यहाँ तक है कि इस प्रदेश के खण्डहरों में भ्रमण करते समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो हम भारतीय प्रदेश में ही घूम रहे हैं। यहाँ सैकड़ो बौद्ध विहारों के भग्नावशेष मिले हैं। अनेक शताब्दियों तक जीवित रहकर यहाँ की फूलती-फलती सभ्यता लुप्त हो गई।

भारत और चीन—चीन का उल्लेख महाभारत में हुआ है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में चीनी रेशम का जिक्र है कालिदास ने चीनांशुक चीनी रेशम का उल्लेख किया है। ६५ ई० में चीनी सम्राट ने धर्मरत्न और काश्यपमातङ्ग नामक दो भिक्षुओं को भारत से बुलाया था और उनसे ही बौद्ध-धर्म में दीक्षा ली थी। यू ची जाति का धर्म रक्ष नामक बौद्ध चीन गया और उसने अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी अनुवाद किया। पाँचवी शती में कुमारजीव चीन गया

और उसने १२ वर्षों में सौ से अधिक बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। वह सम्राट के बुलाने पर वहाँ गया था और वहाँ रहकर उसमें बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था। कश्मीर से अनेक बौद्ध-भिक्षु चीन गए थे। गुणवर्मा पहिले लङ्का फिर जावा और उसके बाद चीन पहुँचा उसने जावा में बहुसंख्यक जनता को बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया था। उसकी यह ख्याति सुनकर ही चीन सम्राट ने उसे चीन बुलाया। पाँचवी शताब्दी में चीन में बौद्ध धर्म की बड़ी उन्नति हुई। छटी शताब्दी में चीन के सम्राट वू ने भारतीय मगध नरेश से परमार्थ नामी प्रचारक को माँग लिया था। वह अनेक मौलिक धर्म ग्रन्थो को लेकर चीन पहुँचा। उसने ७० बौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद वही रहकर किया और मृत्युपर्यन्त उसने चीन को न छोड़ा।

धर्मगुप्त नामी एक अन्य सुधारक भी चीन गया। वह दक्षिणी गुजरात का निवासी था परन्तु उसने कन्नोज के कौमुदी सङ्घाराम में शिक्षा-प्राप्त की थी। उसने बौद्ध-ग्रन्थों का अनुवाद करने के अतिरिक्त एक ऐसा ग्रन्थ भी रचा जिसमें उसने अपनी यात्रा के मध्य में आये हुए नगरों आदि की भौगोलिक एवम् सामाजिक स्थिति का दिग्दर्शन किया था। दुर्भाग्य से उस ग्रन्थ की एक भी प्रति नहीं मिली अन्यथा वह बड़े स्थायी महत्व की वस्तु होती कारण उसका लेखक भारतीय था। बोधि-धर्म नामक एक अन्य प्रचारक भी छठी शताब्दी मे चीन गया था सातवी शताब्दी मे तो हजारो बौद्ध-धर्म प्रचारक वहाँ से भारत आये। इस प्रकार विचारों का बडा आदान-प्रदान हुआ। उस समय नालन्दा विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा एवम् कीर्ति चरम सीमा पर थी। वहाँ बौद्ध-धर्म और दर्शन ही नही, वैदिक धर्म, दर्शन, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, आदि अनेक विषयो पर अध्ययन करने और शिक्षा ग्रहण के लिए सम्पूर्ण एशिया से लोग आते थे। उस काल में यह विश्वविद्यालय अपनी महिमा के कारण विश्व में अद्वितीय था। इसी शताब्दी में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसाङ्ग भी भारत आया था।

काश्मीर

काश्मीर भारत का अभिन्न अंग है और उसका अस्तित्व भारत के बड़े-बड़े साम्राज्यों के अन्तर्गत रहा है। परन्तु उसकी भौगोलिक स्थिति कुछ इस प्रकार की है कि उसका इतिहास की मुख्य धारा से कुछ अलगाव सा रहा है।

गोनन्द वंश के अन्त होने पर सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में दुर्लभ वर्द्धन ने काश्मीर में *कर्कोटक (नागवंश) की स्थापना की। इसके अधीन* कई सामन्त थे जैसे सिंहपुर, उरशा और राजपुर आदि के राजागण। दुर्लभ-वर्द्धन के बाद उसका पुत्र ललितादित्य मुक्तापीड़ (७२४—७६० ई०) काश्मीर के राज्यसिंहासन पर बैठा। यह बड़ा प्रतापी और विजयी था। तरंगिणी में उसके विजय अभियानों का वर्णन है। उसका कन्नौज के राजा यशोवर्मन् से युद्ध हुआ जिसके फलस्वरूप यशोवर्मन् के राज्य का पश्चिमी भाग उसने अपने अधिकार मे कर लिया। उसने पंजाब को जीता और भूटान पर आक्रमण किया। चीन से दौत्य सम्बन्ध स्थापित किये। ललितादित्य की तिब्बत और अरबों के प्रति कटुता थी, कारण वे दोनों चीन के विरोधी थे और परस्पर मैत्री भाव रखते थे। उसने बहुत से बौद्ध विहार और देवी देवताओ के मन्दिरो का निर्माण कराया। सूर्य का प्रसिद्ध मार्तण्ड मन्दिर ललितादित्य ने ही बनवाया था। वह विद्वानों और कवियों का महान् आश्रयदाता था। अनेक युद्ध अभियानों में रत रहने के कारण राजकीय कोष खाली हो गया और यही कारण कर्कोटक वंश के पतन का हुआ। नवी शताब्दी के अन्त में काश्मीर में उत्पल वंश की स्थापना हो गई।

उत्पल वंश का संस्थापक अवन्ति वर्मन् था। उसने सैनिक संघर्षों में अपनी शक्ति का व्यर्थ अपव्यय न करके आर्थिक विकास और जन-कल्याण के कार्यों में अपना मन लगाया। उसके राज्य-कर्मचारी सुय्य ने सिंचाई की नहरें निकलवाईं जिनसे देश धनधान्य से पूरित हुआ। उसने अनेक देवालयो का निर्माण कराया और ब्राह्मणो को पुष्कल दान दिया। अवन्ति वर्मन् की ८८७ ई० मे मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुआ जिसमें उसका पुत्र शंकरवर्मन् विजयी हुआ। शंकरवर्मन् ने शान्ति पूर्ण रचना के कार्यों में अपना ध्यान न लगाकर अनेक युद्ध अभियानों का समारम्भ कर दिया। उसने दर्वाभिसार (झेलम और चिनाब के बीच का भाग) त्रिगर्त (कांगड़ा) और गुर्जर पर आक्रमण कर दिया। युद्धों में उसे कुछ सफलता भी मिली। गोपालवर्मन् उसका उत्तराधिकारी हुआ। गोपालवर्मन् के मन्त्री प्रभाकर देव

ने काबुल घाटी के राजा सामन्तदेव को हटाया और उसके स्थान पर तोरमाण को बैठाया। सन् ६०४ ई० में गोपालवर्मन् की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद शासन तन्त्र बिगड़ता ही चला गया। ६१७—६१८ ई० मे भीषण अकाल पड़ा जिसमें लाखों प्राणी भूखों मर गये। इस वंश में उन्मत्तावन्ति बड़ा दुराग्रही और प्रमादी शासक हुआ है। वह वास्तव मे जैसा कि उसका नाम था उन्मत्त ही था। उसने सबसे पहले अपने बूढ़े बाप को मारा और फिर अपने सौतेले भाइयों को अन्न-जल से तड़पा-तड़पा कर मौत के घाट उतारा। उसको गर्भवती स्त्रियों के गर्भों को काटकर उनकी हत्या करने में आनन्द आता है। यह जनता का सौभाग्य था कि इस नृशंस राजा का राज्यकाल बहुत अल्प ही रहा। ६३७—३८ ई० में इसका शासनकाल समझा जाता है। ६३६ ई० में उसका पुत्र शूरवर्मन् राजा हुआ। उसी वर्ष उत्पल वंश का अन्त हो गया। काश्मीर के ब्राह्मणों ने प्रभाकर देव के पुत्र यशःकर को राजा चुना। यशःकर का शासन अत्यन्त उदार था। उसने बड़ी योग्यता पूर्वक राज्य किया और प्रजा उसके राज्य में सुखी थी। कुछ काल के बाद उसके मन्त्री पर्वगुप्त ने राज्य पर अधिकार कर लिया और एक नये राजवंश की स्थापना की।

इस वंश में ६५३—१००३ ई० तक रानी दिद्दा का भ्रष्ट शासन रहा। इस लम्बे राज्काल में देश में बडी दुर्नीति और अव्यवस्था रही। दिद्दा के भतीजे संग्राम ने १००३—२८ ई० तक राज्य किया। इसके राज्यकाल मे महमूद गजनी का आक्रमण हुआ परन्तु काश्मीर की भौगोलिक स्थिति उसकी सहायक सिद्ध हुई, गजनी की सेना को लौटना पडा। इस वंश का सम्पूर्ण काल अत्याचार, अव्यवस्था, विलासिता और भ्रष्टाचार से व्याप्त रहा। १३३६ ई० तक संग्राम का वंश चलता रहा। १३३६ ई० मे काश्मीर का राज्य एक मुसलमान के हाथ लगा। यह एक हिन्दू ही था जो कुछ समय पहले मुसलमान हो गया था। इसने शमसुद्दीन की उपाधि धारण कर इसी नाम से राज्य किया यद्यपि राज्य मे हिन्दू संस्कृति और संस्कृत भाषा की प्रधानता पूर्ववत् रही। इसका काल भी थोड़े ही दिन रहा।